# गोमती के तट पर

सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक उपन्यास


उपन्यासकार

## भगवतीप्रसाद वाजपेयी







वितरक : बंसल एण्ड कम्पनी

प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता

२४ दरियागंज—दिल्ली

प्रकाशक

रघुवीरशरण बंसल

संचालक

साहित्य संस्थान दिल्ली

●



●

प्रथम संस्करण

१६५६

●

मूल्य ६.५० न० पै०

●

आवरण पृष्ठ

श्रोमप्रकाश शर्मा

●

मुद्रक

रामाकृष्णा प्रेस

कटरा नील

दिल्ली

# प्रारूप

ध्यान से देखा जाय, तो सफलता, सौख्य और शांति की सर्जना ही हमारे जीवन की प्रमुख समस्या है। यह एक ऐसा स्थूल सत्य है, जो अवसर आते ही सबके जीवन में यकायक फूट ही पड़ता है। पर जीवन-साफल्य की विद्या में न तो हम सतत स्वर-मैत्री का ही निर्वाह कर पाते हैं, न सक्रिय-सहयोग का। हमारी अपनी-अपनी रुचियाँ हैं, अपने-अपने मत और विचार। कौन नहीं जानता कि जीवन-साफल्य में विनय और शिष्टता, समन्वय और सायुज्य का बहुत बड़ा स्थान है। और कौन नहीं मानता कि संगठन और एकता के बिना सामाजिक जीवन का विकास सम्भव नहीं! फिर भी हम प्रायः ऐसे संघर्ष में पड़ जाते हैं कि सिद्धान्तों का परिपालन ही नहीं, अस्तित्व का संरक्षण भी विग्रह और सक्रिय-विरोध के बिना दुष्कर हो उठता है। क्या इसलिए कि हम सभी स्वार्थी हैं? क्या इसलिए कि हमारी रुचियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं? नहीं। बात यह है कि हमारा जो यह क्षण-क्षण व्यापी जीवन है, वह सतत और सर्वथा सामाजिक नहीं है। कहीं पर हम अपने-आपमें बहुत ही सीमित और संकुचित व्यक्तिमात्र रह जाते हैं। ऐसी स्थिति में पड़कर हम यह सोचने को विवश हो उठते हैं कि पहले हम हैं, उसके बाद जगत्। पहले हमारी आकांक्षाओं की परिपूर्णता और सिद्धि आवश्यक है, उसके बाद अन्य किसी की। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी क्षण अपने-आपको बड़ा अवश्य मानता है। किसी-न किसी क्षण हम यह अवश्य सोचने लगते हैं कि अगर हमारा मान नहीं रखा जाता, तो हम भी किसी का गौरव स्वीकार नहीं करेंगे! जो कुछ हमने सोच रखा था, लो, हम वह भी नहीं करते! जब हमारा ही अस्तित्व संकट-ग्रस्त रहेगा, तो हम टिकेंगे कैसे!—अग्रसर कैसे होंगे! जब हम ही न रहेंगे, तो यह विश्व हमारे किस काम का!

इस अहं की तुष्टि के अनेक रूप हैं, जिनमें एक तो है प्रत्यक्ष संघर्ष, दूसरा आत्म-गोपन। जो व्यक्ति भीतर बाहर एकरस रहता है, उसका अहं तो स्पष्ट विरोध में प्रकट हो जाता है। किन्तु जिसका अहं मन के भीतर, किसी अतलांत में, सुप्त-प्रच्छन्न बना रहता है, वह जल्दी प्रकट नहीं होता। वर्ष-के-वर्ष व्यतीत हो जाते हैं। न तो वह कभी अपना मुँह खोलता है, न कभी उसका साकार रूप ही साम आता है।

मानव-आत्मा के रूप में हमारे दो ऐसे परस्पर-विरोधी चरित्र हैं, जिनमें समन्वय स्थापित होना प्रायः दुष्कर हो जाता है।

इस उपन्यास में इन्हीं दो चरित्रों के परस्पर-विरोधी माध्यम से, मैंने आज के सामाजिक जीवन का एक मर्मस्पर्शी आख्यान उपस्थित करने की चेष्टा की है। कहना न होगा कि ऐसी घटनाएँ हमें जीवन में प्रायः मिलती ही रहती हैं। किन्तु इस उपन्यास के सभी पात्र कल्पित हैं। इसमें, अन्तर्द्वन्द्व के रूप में, मैंने उन कुण्ठाओं, वर्जनाओं, निषेधों, प्रतिक्रियाओं और अन्तर्मन के नाना रहस्यों का उद्घाटन किया है, जो प्रत्यक्ष जीवन में बहुधा कम सामने आते हैं। पर जब कभी आते हैं तो ऐसी वेदना और करुणा की सृष्टि करते हैं कि हृदय का निखिल राग-विराग आँसुओं की भाषा बन जाता है!

मंगलपुर ग्राम
जिला कानपुर
गंगा दशहरा २०१६

*भगवतीप्रसाद वाजपेयी*

: १ :

बहुतेरी बेलें धरती की आर्द्रता के बिना सूख-सूखकर धूल में मिल जाती हैं। एक आशा ही तो है, जिसकी बेल कभी नहीं सूखती।

एकादशी के केश पक गये थे। शरीर दुर्बल हो गया था। झुर्रियाँ उभर आयी थीं। खाँसी तो प्रायः आती ही रहती। कभी सिर में पीड़ा, कभी दाढ़ में दर्द। कभी पीठ कसकने लगती, कभी पसुलियों में टीसन होने लगती। किन्तु इतना सब होने पर भी घर-गृहस्थी का कोई काम उससे छूटता न था। आटा वह छानती, साग वह काटती; और बेलन से रोटी बेल-बेलकर भीतर रसोई में रखी उलटी थाली पर, एक निश्चित क्रम से पहुँचाते रहने का काम तो जैसे उसके नाम लिख गया था। बच्चे वयस्क हो गये थे। बड़े बेटे वसन्त का तो विवाह भी हो चुका था।

वसन्त की पत्नी मौलश्री बड़ी सुशील तथा विनीत थी। उसे आये हुए सातवाँ वर्ष समाप्त हो रहा था। किन्तु न केवल सम्पूर्ण भाल, वरन् बड़ी-बड़ी आँखों की पुतलियाँ तक अवगुण्ठन से ढकी रहतीं। स्वभाव की मिठास और आत्मीपता उसकी प्रत्येक बात में झलकती। सदा हँसकर उत्तर देती और सेवा-टहल के श्रमसाध्य कार्यों में कभी आलस्य न करती। इन्हीं गुणों के कारण वह अपने स्वामी वसन्त की परमप्रिय प्रियतमा तो थी ही, एकादशी को भी बहुत प्यारी थी। उसका देवर राकेश उसे सदा श्रद्धा की दृष्टि से देखता, और वह स्वयं भी सदा उसका ध्यान रखती। घर-गृहस्थी के कार्य-कलाप की व्यवस्था में भी उसकी हँसी का स्वर आँगन, कक्ष, बखरी और बरोठे में गूँजता ही

रहता। कमी थी तो इतनी ही कि उसकी भरी गोद अब सूनी थी। और राकेश अब तक अविवाहित था।

वसन्त घर पर प्रायः कम रहता। एक तो उसके परिचितों और मित्रों का क्षेत्र बड़ा था। दूसरे सांस्कृतिक कार्यों में भी उसका सहयोग अब नगर के लिए वाञ्छनीय बन गया था। व्यवस्था-सम्बन्धी बातचीत करनी होती, तो एकादशी या तो सायंकालीन भोजन के समय आया करती, या उस समय, जब वह शयन के लिए पलँग पर जा पहुँचता।

उस दिन भी कुछ ऐसा ही हुआ। वसन्त पलँग पर जाकर, आज की सभ्यता पर जगी वितृष्णा पर लिखी हुई अमेरिका के नीग्रो कवि फेन्टन जानसन की एक कविता के सम्बन्ध में सोच रहा था कि इस प्रकार की कोई कृति तो मुझे भी देनी चाहिये थी।

इतने में एकादशी दूध का गिलास लिये हुए उसके निकट आ खड़ी हुई। वसन्त ने उस गिलास को जो हाथ में लिया, तो उसे कुछ गरम पाकर सिरहाने की ओर बन्द खिड़की के अंचल पर रख दिया।

पुत्र को मौन-गम्भीर देखकर एकादशी बोली—"बेटा, तुम्हारे पिता की एक बात मुझे बार-बार याद आती रहती है।"

वसन्त सोच रहा था—'माना कि वह व्यतीत के प्रति कोई आस्था नहीं रखता, उसके सम्बन्ध में वह कोई उत्तरदायित्व भी स्वीकार नहीं करता, किन्तु उसको जीवन से जो उपालम्भ है, उसकी अभिव्यञ्जना में वह कितना सजीव और कितना गम्भीर है!'

मां की बात ने एकाएक जो उसे आकाश से धरती पर लाकर खड़ा कर दिया, तो उसने कुछ चौंकते हुए पूछा'—'कौन-सी बात अम्मा?"

एकादशी ने दिवंगत स्वामी की उज्ज्वल-गौर प्रफुल्लमुख-श्री का स्मरण करते हुए कहा—"उनका कहना था कि मर जाने के बाद भी कुछ लोग जीते बने रहते हैं। शरीर छोड़ देने पर भी उनके उत्तम कार्यों की सुधि लोगों को बार-बार आती रहती है। आदमी तो इस दुनिया से उठ जाता है, पर उसके शुभ कर्मों के चिह्न, युग-युग तक बने

रहते हैं।—लेकिन बस उसी आदमी के, जो दूसरों को खिलाकर खाता है।"

एकादशी के इस निर्देशन में एक मर्म-व्यथा निहित थी। जो नौकरानी उसके यहाँ सेवा-टहल के लिए आती है, उसकी दस वर्ष की लड़की बिलुचिया ने आज कहीं आँखों के पलक उठाते-गिराते हुए उससे कह दिया था—"अजिया, ओ अजिया, वसन्त दादा को, कल रात दस बजे, मैंने चौराहे पर जो धन्नू हलवाई की दुकान है न, बस वहीं, रबड़ी-मलाई खाते हुए देखा था। सच अजिया!" फिर इस कथन के प्रकार में उसने बायीं हथेली फैलाकर इतना और जोड़ दिया था—"इत्तीसारी! मैं उस बखत मौसी के यहाँ से लौट रही थी।"

मौलश्री आँखें फाड़े, चुपचाप बिलुचिया को देखती रही।

बिलुचिया की इस बात पर एकादशी का स्वप्न बिखर गया था। इधर कुछ दिनों से वह कुछ-कुछ समझती तो आ रही थी कि वसन्त बड़ा स्वार्थी, भोगलोलुप और पेटू है। पर इतना न जानती थी।

वसन्त विचार में पड़ गया—'कहीं मां को, छिपकर, अकेले ही, कभी-कभी कुछ उड़ा-खा लेने की मेरी आदत का पता तो नहीं चल गया!...कुछ भी हो। मैं इस साधारण जीवन से ऊब गया हूँ। मैं संयम से रहते-रहते निष्प्राण-जर्जर होता जा रहा हूँ। मुझको सर्वथा स्वच्छन्द विचरना चाहिये। फेन्टन जानसन ठीक कहता है, मैं भी अब किसी की परवाह नहीं करूँगा।' और तब उसने दूध का गिलास उठाते हुए कुछ विरक्ति से उत्तर दिया—"उहँ! कहते होंगे। हम तो यही देखते हैं कि भोग के समय अपने ही कौर तोड़ने से लक्ष्मीनारायण आते हैं! पिताजी पुराने विचार के थे अम्मा। तभी तो वे जीवन में सफल नहीं हो सके। इतना भी उनसे न हो सका कि यहाँ हमारे लिये एक मकान ही छोड़ जाते!"

दिवंगत स्वामी के प्रति अटूट आस्था में डूबी एकादशी उज्ज्वल शुभ्र-स्फीत भंगिमा में बोल उठी—"ऐसा मत कहो बेटा। तुम्हारे पिता

मनुष्य नहीं, देवता थे। चाहते, तो तुम्हारे लिये एक नहीं, कई मकान छोड़ जाते। तुमको पता नहीं, उनके भक्तों और चेलों में कई ऐसे धनी-मानी और ताल्लुक़ेदार थे, जो उनको अपने गाँव में दस-दस बीघे ज़मीन देने को तैयार थे। लेकिन कथा पूरी होने पर जो कुछ भी चढ़ौती में आ गया, उसी को वे भगवान् की बड़ी-से-बड़ी देन मानकर हँसी-खुशी से स्वीकार कर लेते थे। ज़मीन लेने के विषय में तो वे सदा यही उत्तर देते थे—'दान में मिली धरती किसी को फली है कि मुझे ही फलेगी !'

मां की वाणी से मर्म-कथन की पूर्णता प्रकट होते ही वसन्त ने गिलास ख़ाली करते हुए कह दिया—"तुम उनकी चाहे जितनी प्रशंसा करो अम्मा, पर मैं तो यही कहूँगा कि वे समझदार बिलकुल न थे। अगर वे थोड़े भी दूरदर्शी होते, तो ऐसा कभी न सोचते। उन्होंने केवल अपना ही ध्यान रक्खा। हम लोगों के लिए कुछ न किया।"

तब पास रखी हुई संदूक़ पर बैठते हुए एकादशी ने उत्तर दिया—"यहीं तुम भूलते हो बेटा। अपना भी उन्होंने कभी ध्यान नहीं रखा। चढ़ौती में जो कुछ चढ़ता था, सब-का-सब वे मुझे दे डालते थे। कभी एक पैसा तक अपने पास न रखते थे। बल्कि इसी कारण कभी-कभी उनको बड़ा कष्ट उठाना पड़ता था !"

खिड़की पर तश्तरी में रखी सौंफ़ और डली उठाकर मुँह में रखते हुए वसंत पहले कुछ न बोला, फिर कुछ हँसा और कहने लगा—"इसी-लिये कहता हूँ कि वे गृहस्थ नहीं, साधू थे। और आज का युग ऐसे साधू-संन्यासियों को कोई मान्यता नहीं देता, जो परिवार की ज़िम्मेदारियों का पालन न करने में ही अपना गौरव मानते हैं।"

एकादशी वसंत के इस कथन पर हँस पड़ी। बोली—"तुम उनको समझ नहीं सकोगे वसंत। वे अपने परिवार में हम लोगों को ही नहीं देखते थे। उनका परिवार बहुत बड़ा था। अपने पड़ोसी तक का दुःख तो वे देख न सकते थे। उन्होंने कभी इस बात का ख़याल नहीं किया कि कल क्या होगा ! तुम्हें मालूम है—जमना पाण्डे के घर की दीवार

हमारे घर से ही लगी हुई है। अपनी लड़की के विवाह के लिये जब उनको गाँव में कहीं गेहूँ न मिला, तो साढ़े तीन मन गेहूँ उन्होंने मेरे कहने से तुरन्त उन्हें दे दिया। साल-भर बाद रबी की फ़सल उठने पर जब वे सवाया गेहूँ वापस करने के लिये आये तो जानते हो, उन्होंने क्या उत्तर दिया था ?"

सघन केश-गुच्छ की ठुड्ढी तक आ रही लट को हाथ से सिर पर फेंकते और मुस्कराते हुए वसन्त ने पूछा—"क्या उत्तर दिया था ?"

एकाएक एकादशी की आँखें आँसुओं से डबडबा उठीं। दुखित कण्ठ से बोलीं—"उन्होंने कहा था, जाओ जाओ, बड़े आये सवाया गेहूँ देने वाले। मैं कोई सूदख़ोर महाजन हूँ ? फिर, क्या बेला अकेली तुम्हारी ही बिटिया है ? मेरा उससे कोई सम्बन्ध नहीं—कोई नाता नहीं ?"

सिर हिलाते हुए वसन्त ने उत्तर दिया—"समझ गया, मैं सब-कुछ समझ गया अम्मा। पिताजी असल में बड़े भावुक व्यक्ति थे। वे भावुकता में बहुत जल्द बह जाते थे। और तुमको पता नहीं अम्मा, आज के युग में ऐसी भावुकता गुण नहीं, रोग मानी जाती है।"

एकादशी ने उठकर चलते-चलते अंचल से आँसू पोंछते हुए कहा—"तुम उनको क्या समझ सकोगे !"

वसन्त ने रजाई से अपना शरीर ढकते हुए कह दिया—"नहीं समझ पाऊँगा, तो न सही। मुझे इसकी ज़रूरत भी नहीं है।" उसे फिर ध्यान आ गया—'क्या कविता है !—"निरन्तर काम करते-करते मैं बहुत थक गया हूँ। मैं उस सभ्यता का निर्माण करते-करते चूर-चूर हो गया हूँ जो मेरी नहीं, दूसरों की है। अब मैं विश्राम करूँगा मेरी प्यारी जेन !...मैं अब सैलून में जाऊँगा। वहाँ पिऊँगा, खाऊँगा, खेलूँगा और किसी वारुणी के पीपे पर अण्टाचित्त सो जाऊँगा !"

और इन्हीं भावनाओं के क्रम में वह सोचने लगा —'मैं उन मान्यताओं का मुँह नोच लूँगा, जो मुझे अभावों में रहने को विवश बनाती हैं। मैं अब नया जीवन चाहता हूँ।—नया जगत्, नया आसमान, नया

मकान, नयी छतें, नयी दीवारें और नये वातायन। मैं सब कुछ नया चाहता हूँ!

अब रात के सवा दस बज रहे थे। पास के ही कमरे में लेटा हुआ राकेश एक ग्रन्थ पढ़ते-पढ़ते ऊँघने लगा था। उसने वक्ष के ऊपर ही उस ग्रन्थ के दो पृष्ठ सम्पूर्ण जिल्द के साथ रक्खे हुए थे। उनके शीर्ष पर एक ओर की पंक्ति थी—'प्राचीन भारत की'—और दूसरी ओर थी—'सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि।'

एकादशी जो उसके निकट पहुँची, तो उसकी ममतामयी आत्मा को एक सोये मूक प्रच्छन्न गौरव ने छू लिया! स्वामी की बावली सुधियों पर ढुलके आँसुओं की आर्द्र घाटियों में एक मर्मस्पर्शी स्पन्दन हो उठा। करुणा विगलित नयन उज्ज्वल भविष्य की मंगल-कल्पनाओं के पुलक-संचार से अपने आप सस्मित हो उठे। ग्रन्थ को राकेश की छाती से उठाकर उसने निकट की छोटी टेबिल पर रख दिया। बिजली की बत्ती बुझाती हुई वह मौलश्री के पास जाकर बोली—"दुलहिन अभी दूध गरम बना है। देर कर दोगी, तो फिर ठंढा पड़ जायगा।"

मौलश्री का ध्यान 'माता कस्तूर बा की देन' पर अटका हुआ था। सास की बात सुनकर पुस्तक को बन्दकर चारपाई से उठने जो लगी, तो एकादशी ने कह दिया—"बैठी रहो, बैठी रहो।"

मौलश्री ने कुछ उन्मन वाणी में कह दिया—"दूध पीने की कुछ इच्छा नहीं है अम्मा।"

एक नवागत आशा से एकादशी के मुख पर प्रसन्नता की किरणें फूट पड़ीं। सरोवर में एक कंकड़ी मानो किसी ने निकट से फेंक दी हो और लहरों के वृत्त विस्तृत हो-होकर तट की सीढ़ी को अभिवादन का स्पर्श देने आ पहुँचे हों। विशालकाय मंदिर में आह्वान का कोई स्वर एक बार गूँजकर, दूर से, प्रतिध्वनि में भी जैसे वही बात दोहराने लगा

हो । आटे की दो गोलियाँ मात्र छोड़ देने पर जैसे दरजनों मछलियाँ एक-साथ एकत्र होकर पूँछ हिलाने लगी हों !

मंगलमय सम्भावनाओं से आच्छन्न कष्ट भी कितने प्रिय लगते हैं !

प्रसन्नता से उसने पूछा—"कैसी तबियत है ? सिर में पीड़ा तो नहीं होती ?"

कथन के साथ उसका स्नेह-सिक्त कर-पल्लव भी मौलश्री के भाल पर आ गया ।

इधर कुछ दिनों से वसन्त मौलश्री से सम्यक् विकर्षण रखने लगा था । बातों में न वह भीगी मिठास रह गयी थी, न भाव-भंगिमा में वह मुसकराहट, जो जन्म-जन्म की पीड़ा को प्रथम दृष्टि में ही हर लेती है । आत्मीयता में लिपटे हुए उपालम्भ कम हो गये थे । घर में उपस्थित रहने पर भी वह प्रायः आतमलीन बना रहता । न तो स्वयं कभी उसके पास जाकर बात करता, न उसे निकट से जाते देखकर, संकेत से पास बुलाकर, प्रेम से दो बातें कर लेने का अवसर देता । तटस्थ उपेक्षा की एक ऐसी मूक-जड़ हिंसक मायाविनी प्रवञ्चना चल रही थी कि भीतर-ही-भीतर उसका दम घुटने लगा था ।

एकादशी को इस परिस्थिति का ज्ञान था । पर वह कुछ कर न पा रही थी । अभी तक वह कहीं से भी विचलित नहीं हुई थी । एक प्रकार का अटूट धैर्य्य उसमें सदा विद्यमान रहता । आशा के राजहंस उसके मानस-लोक में पंख फैलाये सदा विचरण करते रहते । यद्यपि संसार की गति-विधि से वह पूर्ण परिचित थी । वह जानती थी कि ऐसी ललनाओं की हमारे यहाँ कमी नहीं, जिन्होंने सुख, कभी जाना ही नहीं, होता कैसा है ! जिनकी कुक्षि से अठारह बच्चे उत्पन्न हुए—और अन्त में केवल दो रह गये ।

बहुत दिनों तक एकादशी सोचती रही थी—'इतने बच्चों का निधन उन माताओं ने सहा कैसे होगा ! वह आधार कौन-सा था, जिसने उन्हें जीवित बनाये रक्खा ?'

अन्त में स्वतः एकादशी को भी ऐसा ही जीवन भोगना पड़ा। उसके भी तो सात बच्चे हुए थे। दो लड़कियाँ—पाँच लड़के। यह वसंत उनमें तीसरा और राकेश पाँचवाँ है। जब-जब इन बच्चों का निधन होता, एकादशी व्यथा से जीर्ण-जर्जर हो उठती। ऐसी स्थिति में स्वामी ही उसे सदा सान्त्वना का अमृत पिलाते रहते थे।

एक दिन की बात तो वह आजतक न भूल पायी थी। वर्षा के दिन थे और उसका एक लाल निमोनियाँ से आक्रान्त होकर काल के मुख का ग्रास बन गया था। तीन प्रहर रात्रि व्यतीत हो चुकी थी। एकादशी जो एकाएक रो पड़ी, तो स्वामी ने उसे समझाते-समझाते कहा था—"देखो, इधर मेरी ओर देखो। आशा का अञ्चल पकड़कर चलो, जितना तुमसे चला जाय। वही तुम्हें धैर्य्य दे सकती है। क्योंकि आशा अमर होती है। परन्तु यह भी सदा स्मरण रखो कि जैसे जीवन की सारी कामनाएँ कभी पूर्ण नहीं होतीं, वैसे ही आशा के बच्चे भी प्रायः अल्पायु होते हैं। इसलिये जिसे जीना है, दुःख तो उसे सहने ही पड़ेंगे। दुःखों का भोग ही तो वास्तविक कर्म-भोग है।

मौलश्री पीड़ा छिपाना जानती थी। इसलिए कभी कुछ कहती न थी। पर सास की ममता का हाथ अपने भाल पर आया देख वह एक दम से फूट पड़ी और अश्रु-विगलित वाणी में बोली—'मैं तुम्हें क्या बताऊँ अम्मा, तबियत में एक भारीपन तो सदा बना ही रहता है।"

एकादशी विचार में पड़ गयी। वह सोचने लगी—'कुछ तो बात होगी ही!'

इतने में मौलश्री बोल उठी—"मेरे जीवन में अब कुछ रह नहीं गया! कोई राग नहीं, कोई स्वर नहीं। भूख नहीं, प्यास नहीं, कोई इच्छा नहीं।"

कथन के साथ वह सिसकियाँ लेती हुई फूट पड़ी। साड़ी के अंचल से उसने सिर ढक लिया। फिर आँसू गिराती हुई बोली—"मेरा जन्म व्यर्थ हुआ है अम्मा। मैं बिलकुल बेकार पैदा हुई हूँ!"

ममता का वह हाथ फिर आगे बढ़ गया। एकादशी मौलश्री के आँसू पोंछती हुई स्वतः रो पड़ी।

इन आँसुओं में बड़ी शक्ति होती है। ये निकलते तो दुःख से हैं; पर निकल जाने पर अन्तस की पीड़ा बहुत कुछ शान्त भी कर देते हैं।

थोड़ी देर बाद कुछ स्थिर होकर एकादशी ने मौलश्री को समझाते हुए कहा—"भगवान् की करुणा और ममतामयी रचना को भी समझने की चेष्टा करो दुलहिन। वे सदा दुःख ही नहीं देते रहते, कभी सुख भी देते हैं। उनके इतने बड़े-बड़े हाथ हैं कि वे राई को पर्वत बना देते हैं!"

अन्त में मौलश्री ने आँसू पोंछ डाले। जब वह थोड़ी स्थिर चित्त हुई, तब तक दूध ठंढा पड़ गया था। मौलश्री ने स्टोव जलाकर उसे पुनः गरम करके गिलास सास की ओर बढ़ा दिया।

एकादशी ने उसे दो भागों में बाँटकर एक गिलास मौलश्री को देते हुए कहा—"लो, झट से पी डालो। अब ग्यारह बज गये होंगे। राकेश तो सो भी गया।"

मौलश्री बोली—इतना मुझसे पिया न जायगा अम्मा। इसका आधा दे दो।"

"ना दुलहिन! इतना तो पीना ही पड़ेगा।" फिर इस कथन के साथ वह थोड़ी रुकी और बोली—"आज मैं वसंत से भैया के विवाह की चर्चा करना चाहती थी; पर वह बहस पर उतारू होकर ऐसी बहकी-बहकी बातें करने लगा कि असली बात उठ ही न सकी।"

मौलश्री ने किंचित् प्रसन्नता के व्याज में कह दिया—"मैं बात कर लूँगी।"

तब तुरन्त खड़ी होकर दायें हाथ में दूध का गिलास लिये एकादशी द्वार की ओर बढ़ती हुई कहती गई—"सोने लगना तो दरवाज़ा बन्द करना न भूलना।"

मौलश्री सोच रही थी—"अम्मा ने कहा—भगवान् की करुणा और ममतामयी रचना को भी समझने की चेष्टा करो दुलहिन! वे

सदा दुःख ही नहीं देते रहते, कभी सुख भी देते हैं।"

उस दिन अमीनुद्दौला पार्क में बड़ी चहल-पहल थी। रूसी सांस्कृतिक प्रदर्शनी को चलते हुए नौ दिन बीत रहे थे। बसंत अपने मित्र विज्ञानशंकर से नित्य ही उस प्रदर्शनी में चलने के लिए कहा करता। अन्तिम दिन निकट आने की आशंका से एक दिन उसने विज्ञानशंकर की भर्त्सना करते हुए कहा—"तुम बनते तो कला के बड़े पुजारी हो; परन्तु अपने ही नगर में आये हुए अक्षय कला-भंडार में तुम्हारी कुछ भी रुचि नहीं जान पड़ती। देख तो मैं अकेले भी आता; पर मैं सोचता था, तुम्हारे साथ चलने से रूसी कला-शैली की विशेषताएँ समझने में कुछ सहायता मिल जायगी। न चलना हो, तो साफ़ इनकार कर दो।"

तब पूर्व प्रसंगों का स्मरण कर विज्ञान हँसते-हँसते बोला—"तुम्हारे साथ कहीं जाना बड़े साहस का काम है।"

"क्यों? मुझमें ऐसा कौन-सा दोष तुमने पाया कि मुझे साथ लेकर कहीं जाने से डरते हो?"

"बात यह है कि तुम जहाँ कहीं जाते हो, समझ-बूझकर नहीं चलते। खैर, प्रदर्शनी में तो चलना ही है। आज ही ठीक रहेगा। लेकिन रिक्शे के पैसे हमारे और टिकट के पैसे तुम्हारे जिम्मे रहे।"

"नहीं, रिक्शे के हमारे और टिकट के तुम्हारे जिम्मे।"

"अच्छा तो यही तय रहा।"

प्रदर्शनी के प्रवेश-द्वार के सामने ही एक रूसी दम्पति का चित्र लकड़ी के-से चमकते विशाल स्टैण्ड पर लगा हुआ था। चन्द्रगामी राकेट की पृष्ठभूमि में दम्पति आगे बढ़ रहे थे। पुरुष का दायाँ पैर आगे और बायाँ पीछे था। दायें हाथ की मुट्ठी में हथौड़ा लिये हुए

वह आकाश की ओर निहारता हुआ आगे बढ़ रहा था। उसकी दृष्टि आगे बढ़ने तथा ऊँचे-से-ऊँचे उठने की महत्वाकांक्षा की परिचायक थी। मांसपेशियाँ उभरी हुई थीं और शरीर तो लौह-निर्मित-सा प्रतीत होता था। ग्रीवा की कंठास्थि कुछ नुकीली थी, जो प्रथम दृष्टिपात में ही आँखों में गड़ जाती थी। भाल की रेखाएँ सारे संसार में साम्यवादी राज्य स्थापित करने की घोषणा-सी करती प्रतीत होती थीं। नारी के दायें हाथ में जो हँसिया था, वह अतिशय नुकीला तो था ही, उसमें दोनों ओर धारें भी थीं। उस नारी के गले की अस्थियाँ इतनी उभरी हुई थीं कि अपनी संकल्प-निष्ठा प्रकट करने में वह एक महती वीरांगना-सी प्रतीत होती थीं। उसकी दृष्टि में शक्ति की मूर्तिमान घोषणा तो थी ही, सृजन और संचय की महान् आकांक्षा भी समन्वित थी। पुरुष और स्त्री दोनों के हाथ हँसिये और हथौड़े के साथ-साथ एक-दूसरे में मिल गये थे। पुरुष के हाथ का हथौड़ा वज्र का प्रतीक था। हँसिये की धार एक ओर उत्पादन की देवी थी, तो दूसरी ओर संहारकारिणी दुर्गा। सुनील अम्बर में ग्रहों-उपग्रहों के बीच नवनिर्मित राकेट अपनी तीव्रतम गति से चन्द्र-ग्रह की ओर उन्मुख था। उसकी तुलना में पृथ्वी के द्वीप-महाद्वीप और सागर-महासागर एक बिन्दु से प्रतीत होते थे।

दोनों चित्र के सम्मुख पहुँचकर कुछ क्षणों तक के लिये ठिठक गये। विज्ञान के मुँह से निकल गया—"सचमुच इस चित्र में आधुनिक रूस की नवनिर्माणात्मक प्रगति का पूरा निदर्शन किया गया है।"

वसंत बोला—"परंतु इसमें रूस की पुरातन संस्कृति के दर्शन कहीं नहीं होते। नारी के रूप में सुकुमारता तो जैसे लुप्त ही हो गयी है। वह शक्ति की अधिष्ठात्री वीरांगना-मात्र प्रतीत होती है। इस चित्र को देखकर तो कुछ ऐसा लगता है कि कोमलता आज की नारी की प्राणदायिनी जीवनधारा नहीं; अनुरागात्मक प्रेरणा का केन्द्र-बिन्दु नहीं; वरन् दुर्बलता की सृष्टि का एक साधन मात्र रह गयी है।"

विज्ञान ने उपेक्षा की हँसी हँसते हुए कह दिया—"तुम्हारा दिमाग खराब हो गया है। तुमको पता ही नहीं कि रूसी संस्कृति में शक्ति ही सौन्दर्य की देवी मानी जाती है।"

इस प्रकार विचार-विनिमय करते हुए दोनों विशाल चित्राधार के वामपार्श्व में होकर भीतर चलने लगे। विज्ञान बायीं ओर एक चित्र के पास ठिठक गया और वसंत कुछ आगे बढ़कर अन्य चित्रों को देखने लगा। एक वृद्ध किसान का चित्र देखकर वह विशेष आकर्षित हुआ। उसे विज्ञान को दिखाने की इच्छा से वह उसकी ओर जो मुड़ा तो क्या देखता है कि वह उसका साथ छोड़कर चौथी पंक्ति में लगे एक चित्र की ओर दृष्टि गड़ाये खड़ा है। लपककर वह अभी उसकी ओर चला ही था कि उसकी दृष्टि अगली पंक्ति के एक चित्र के पास एकत्र कुछ युवतियों पर जा पड़ी। वह पहले कुछ ठिठका, परन्तु फिर सम्हलकर विज्ञान की ओर बढ़ गया। उसके हाथ-में-हाथ डाले जब वह वापस लौटा, तो युवतियों की ओर संकेत करते हुए बोल उठा—"इस चित्र में ऐसी क्या विशेषता है, जो यहाँ इतनी भीड़ लग रही है। चलो, जरा इसे भी देख लें।"

चित्र के पास पहुँचकर वसंत ने उसी पर एक सरसरी दृष्टि डाल दी, फिर सहसा उसकी दृष्टि युवती-समुदाय पर जा पड़ी। कुतूहल के साथ उसने देखा—एक युवती पेंसिल से सामने के चित्र का स्केच ले रही है। अतः युवतियों की ओर से अपनी दृष्टि हटाकर वह उसी चित्र को ध्यान से देखने लगा। क्षण-भर बाद फिर वह दूसरे चित्रों की ओर चला गया। इधर-उधर के चित्र देखने में उसको एक ही युवती को अनेक बार देखने का अवसर मिल गया। युवती की देह-यष्टि की मनोहर गठन और रूप-राशि की विमोहक छटा कनखियों से निहार-निहारकर वह अतिशय मुग्ध और व्याकुल-सा हो उठा। चित्रों को देखने से उसका मन उचटने लगा।

तबतक विज्ञान ने एक ओर भीड़ देखकर कह दिया—"तुम यहीं

ज़रा रुको। मैं कैलाशबाबू से मिल लूँ। वे उधर देखो, ग्यारहवें चित्र के सामने खड़े हैं।"

"कौन कैलाशबाबू ?" वसंत ने पूछा।

"अरे ! शिक्षा-विभाग की रोटियाँ खाकर भी तुम उनको नहीं जानते। पहले वे मेरठ में सहायक निरीक्षक थे; अभी हाल ही में सचिवालय में शिक्षा-विभाग के उप-सचिव नियुक्त हुए हैं। जान पड़ता है, अपनी कन्या के साथ प्रदर्शनी देखने आये हैं। तुमने देखा ही होगा, वही जो नवें चित्र का पेंसिल से स्केच ले रही थी।"

'तो फिर मुझे भी साथ ले चलो यार। मेरा भी परिचय करा दो।"

"यहाँ भीड़-भाड़ में क्या परिचय होगा ! फिर किसी दिन देखेंगे। मुझे तो केवल दो मिनट बातें करनी हैं।"

कैलाशबाबू से मिलकर विज्ञान वापस आ गया, तो दो-चार चित्रों पर सरसरी दृष्टि डालते हुए दोनों बाहर निकल आये।



ऊपर से एक-चौथाई कटे हुए कनस्तर में मिट्टी डालकर लगाया हुआ तुलसी का बिरवा छत पर गमलों के बीच रखा रहता था। मौलश्री नित्य मनोयोग से तुलसी का पूजन करती, सूर्य को अर्घ्य देती, और प्रसाद के प्रलोभन में एकत्र पड़ोस के बच्चों को एक-एक बताशा बाँटती हुई नीचे उतर आती। एकाध बार मायके जाने के अवसरों के अतिरिक्त उसका यह क्रम अबाधगति से चलता रहता।

बच्चों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही थी। पहले बायीं ओर के मकान के किरायेदार की लड़की शशि ही आती थी; फिर उन्हीं के पड़ोसी शुक्ल महाराज का बच्चा दिनकर भी आने लगा। जब छत पर कोलाहल बढ़ने लगा, तो दाहिनी ओर के मकान से वर्माबाबू का बालक अरुण, उसका एक पड़ोसी चन्द्र और तीसरे मकान से भी एक बच्चा रवि आदि एकत्र होने लगे। सब की अवस्था पाँच वर्ष के भीतर थी।

सूर्योदय होते ही बच्चे छत पर चढ़ आते और मौलश्री की प्रतीक्षा में भाँति-भाँति की कल्पनाएँ करने लगते।

उस दिन शशि ने आँगन में झाँकते हुए कहा—"अभी तो माई नहा रही हैं।"

दिनकर ने प्रतिवाद किया—"अरे नहीं, वे तो चन्दन घिस रही हैं।"

अरुण ने अपनी कल्पना को प्रखर रूप देते हुए कहा—"अरे! तुम क्या जानो, वे हमारे लिये बताशे निकाल रही हैं।"

फिर पाँचों बच्चे छत की मुँडेर के सहारे आँगन में झाँकने लगे।

उस समय वहाँ गौरैया का बैठा हुआ जोड़ा फुदक रहा था और छत पर कबूतर गुटरगूँ कर रहा था।

एकादशी यह दशा देखकर मुग्ध हो गयी और बच्चों से बोली—"आओ बेटा, इस समय नीचे उतर आओ, फिर प्रसाद की वेला ऊपर चले जाना। सब लोग यहाँ आँगन में आकर खेलो।"

अरुण ने कहा—"जीना उतरने के लिए अम्मा ने मना कर दिया है। हम धूप में यहीं खेलेंगे। मगर तुम्हारे पास गेंद भी है?"

एकादशी के हृदय में एक टीस उठी। फिर बोली—"गेंद तो नहीं है बेटा, लेकिन मैं मँगा दूँगी।"

"हाँ, लाल-लाल, हरा-हरा, बड़ा-सा गेंद मँगाना, हमीं को देना, अच्छा।"

तबतक पूजन-सामग्री लेकर मौलश्री ऊपर आ चुकी थी। बालकों ने खेलना छोड़कर बताशों में ध्यान लगाया। शशि मौलश्री के पास बैठकर उसकी पूजन-विधि को ध्यानपूर्वक देख रही थी। मौलश्री ने अर्घ्य देकर पहला बताशा शशि को ही दिया। अरुण ने रोका—"आज तो दिनकर को मिलना चाहिए।"

प्रसाद का पहला बताशा किसको दिया जाय, इस प्रसंग पर प्रायः विवाद चल पड़ता। इसलिये दिनों का क्रम निश्चित कर दिया गया था।

बच्चे का बुद्धि-चातुर्य देखकर मौलश्री उसपर मोहित हो गयी। बोली—"दिनकर को कल मिलेगा।"

बताशा पाने की अन्तिम बारी अरुण की थी। मौलश्री ने दूसरों से छिपाकर दो बताशे उसको दे दिये। अरुण ने एक रहस्यपूर्ण दृष्टि मौलश्री के मुख पर डाली। फिर बताशे दिखलाते हुए बोला—"माई ने "हमको दो······।"

मौलश्री ने उनींदे प्यार से बालक को देखा। गौर वर्ण, भरा-भरा सुडौल शरीर, लम्बी मुखाकृति, बड़ी-बड़ी कजरारी आँखें, घुँघराले बाल

मन में एक छिपी हुई लालसा उभर आयी। बोली—"तुम मुझे माई क्यों कहते हो ?"

"तो क्या कहें ?"

"अम्मा कहा करो न ?"

"अम्मा···? मम्मी मारेंगी तो नहीं !"

"मारेंगी क्यों ? उनसे कह देना—'अम्मा' हमें बताशे देती हैं।"

बालक ने स्वीकृतिसूचक सिर हिलाया, तो मौलश्री ने पूछा—"मेरी गोद में आओगे ?"

बालक ने खेल की ओर ध्यान देते हुए कह दिया—"अभी नहीं, जब तुम सूखी धोती पहनोगी, तब आऊँगा।"

मौलश्री मुग्ध दृष्टि से बालक की बाल-क्रीड़ा निहारती हुई धीरे-धीरे ज़ीने से उतर गयी।

एक दिन जब मौलश्री पूजन-करने ऊपर गई तो देखा आज इन बच्चों में दिनकर नहीं है। पूजन करते समय उसने सुना—पड़ोस के मकान में सुकुलाइन कुछ कनकना रही हैं। उसने अन्त में प्रसाद बाँटा, फिर उठकर उसी मकान की ओर चली गई। देखा—मेहराजी की माँ अपने नाती को पैरों पर उलटा लिटाये पीठ पर तेल की मालिश कर रही हैं। बोली—"राम-राम चाची, आज तुम्हारे घर में लड़ाई···?"

मौलश्री वाक्य पूरा भी न कर पायी थी कि उसने सुना, सुकुलाइन कह रही थीं—"निपूती राँड़ें बताशों के बहाने पहले बच्चों को पास बुलाती हैं, फिर उनपर टोटका करती हैं। भगवान् करे, राँड़ के घर में दिया न जले! इसको हज़ार बार समझाया, इधर-उधर न जाया कर, लेकिन यह मुआ मानता ही नहीं। अब की अगर कहीं जाते देख लिया, तो छज्जे पर से सड़क पर इस तरह फेंक दूँगी कि सिर तरबूज़-सा फट जायगा !"

मौलश्री ने पूछा—"चाची, क्या बात है ?"

"अरे, सुकुलाइन कह रही हैं कि किसी निपूती ने हमारे मुन्ना की गरदन के बाल काट लिये हैं। हमें तो कटे जान नहीं पड़ते। तुम तो कभी आती ही नहीं। आज बड़े भाग हैं, जो तुम्हारा मुख देखा।"

मौलश्री सन्न रह गई। और—"फिर आऊँगी" कहती हुई अपने आँगन में उतर गई।

एकादशी ने टोक दिया—"बहू, गीली धोती पहनकर अधिक देर पूजा न किया करो, नहीं सर्दी लग जायगी।"

"चाची के घर में लड़ाई सुन रही थी अम्मा। उनकी पड़ोसिन कह रही थीं कि निपूती राँड़ बताशे का लोभ देकर बच्चों को बुलाती हैं। किसी ने हमारे बच्चे के बाल काट लिये।"

"अरे, वह सुकुलाइन तो बड़ी लड़ाका है। औरतों की तो बात ही क्या, हर आदमी से कुश्ती लड़ने को तैयार रहती है। आदमी बैंक में चपरासी है। सौ से ऊपर मिलते हैं। इसी के घमंड में किसी को कुछ समझती ही नहीं, छोटे-बड़े सभी से ठोकर मारकर बात करती है। न मकानमालकिन से मेल, न आसपास के किरायेदारों की भली। अपने सामने राजा को भी तुच्छ समझती है। कोई उसे पास नहीं फटकने देता। मगर इतनी बेहया है कि फिर भी अपने को रानी समझती है। तुमने अच्छा किया जो उसके मुँह नहीं लगी। उसने तो मेहराजी की मां को भी बच्चे के कड़े उतार लेने की चोरी लगा दी थी। बात सुन लेना हमें स्वीकार है, लेकिन हम नहीं चाहतीं कि हमारी दूध की धार-सी सुशील बहू को किसी कुतिया से मुँह लड़ाना पड़े। उसने तो अपनी सास को भी नहीं छोड़ा। एक बार जनाने डब्बे में इतनी पीटी गई कि चाँद गंजी हो गई।···पानी खौल गया है, जाओ बटलोई में दाल डाल दो।"

चूल्हे के सामने बैठकर मौलश्री ने पूछा—"अम्मा, बाल काटने से क्या होता है ?"

"अरे, टोटका है एक। कहते हैं, बिना सन्तानवाली स्त्री अगर किसी बच्चे के दो बाल काटकर पानी के साथ निगल ले, तो उसके बच्चे होने लगें। लेकिन ऐसा करने पर—कहते हैं—दूसरे का बच्चा मर जाता है!"

मौलश्री ने सोचा—'क्या अब पास-पड़ोस के ये लांछन भी सुनने पड़ेंगे।' कमरे में जाकर वह चारपाई पर गिर पड़ी और फूट-फूटकर रोने लगी।

लखनऊ से कानपुर जानेवाला राज-पथ नगर के दक्षिणी भाग को चीरता हुआ दक्षिण-पश्चिम की ओर चला गया है। इस राज-मार्ग के दोनों ओर जो विशाल मैदान हैं, अब उनमें अनेक महत्वपूर्ण प्रतिष्ठानों का निर्माण हो गया है। इन्हीं में एक सरोजिनी नगर है। अब तक यह पूरी तरह बस नहीं पाया है। इधर-उधर के प्रतिष्ठानों में भी जो थोड़ा-बहुत यातायात होता रहता है, वह उत्तर प्रदेश की राजधानी के तुमुल कोलाहल से भिन्न है। मार्गों और वीथिकाओं के दोनों ओर लगी हुई दूकानों में न उतनी स्वच्छता है—न वैसी जगमगाहट। दूकानों के सम्मुख ग्राहकों की अपेक्षित भीड़ भी यहाँ नहीं रहती। न एक-दूसरे के पीछे लगी हुई कारों, ताँगों और रिक्शों की पंक्तियाँ। दूसरी ओर जाने की प्रतीक्षा में खड़े बाबुओं या बोझ से लदे कुलियों के वृन्द भी यहाँ नहीं दिखाई देते। स्कूल-कालेजों और दफ़्तरों की ओर झपटते हुए वयस्क विद्यार्थियों और बाबुओं की वैसी टुकड़ियाँ भी यहाँ दृष्टिगत नहीं होतीं। सायंकाल होते-होते राज-मार्ग के दोनों ओर की बस्तियाँ सन्नाटे में छा जाती हैं। कहीं किसी वृक्ष के नीचे कोई अमरूद का ठेला या छोटा खोमचेवाला बैठा दिखाई पड़ता है। कभी-कभी कोई बोझ से लदी हुई भारी-भरकम लारी सन्नाटे को चीरती हुई नगर में आकर घुस

जाती है, या आसपास के ग्रामों से दूध और साग-सब्जी लानेवाले लोग—पैदल अथवा साइकिलों पर सवार—निकल जाते हैं।

रोग-शैया पर पड़े हुए अपने कालेज के प्रिंसिपल माथुर से मिलकर जब वसंत और विज्ञान इस राज-मार्ग पर आये, तो इस आशा से चारों ओर देखने लगे कि शहर जाने के लिए कोई रिक्शा ही मिल जाय। फिर पास ही खोन्चा लगाये बैठी बुढ़िया से चार पैसे की मूंगफली लेकर खाते हुए दोनों धीरे-धीरे नगर की ओर चलने लगे।

इतने में विज्ञान ने देखा —सड़क के दूसरी ओर एक ज्योतिषीजी आसन लगाये जमे हैं। समय काटने और कुछ कुतूहल शान्त करने की इच्छा से विज्ञान ने बाँह पकड़कर वसंत को सड़क के उस पार ले जाकर उन्हीं ज्योतिषीजी के सामने खड़ा कर दिया।

बिजली के एक खम्भे के पास ज्योतिषीजी का आसन लगा था। उनके आगे कपड़े का एक साइनबोर्ड था, जिसके एक ओर के सिरे की रस्सी खम्भे में और दूसरे सिरे की धरती में रखी हुई एक भारी ईंट से बँधी हुई थी। कपड़े की रस्सियाँ इस युक्ति से बाँधी गयी थीं कि निकलने-वाले साइनबोर्ड भी पढ़ लें और धूप से भी बचाव होता रहे। धरती पर एक बोरा पड़ा था; उसके ऊपर एक सफ़ेद कपड़ा बिछा हुआ था, जिस पर एक दोहा भी काली स्याही से लिखा हुआ था।

दोहा कुछ ऐसी अटपटी भाषा में था, जिसकी कूट मर्मवाणी बिरले ही समझ सकते थे। फलतः वसन्त और विज्ञान भी उसे न समझ सके। इसीलिये कुछ मनोविनोद के भाव से विज्ञान बोला—"प्रणाम पंडितजी!" फिर वसन्त का दायाँ हाथ थामकर कहने लगा—"हमारे ये बाबू साहब इस समय बड़े चक्कर में हैं। जरा इनका हाथ तो देखिये। आखिर मामला क्या है!"

"सब कल्याण है"—ज्योतिषीजी ने कुछ इस ढंग से उत्तर दिया, जैसे वे कहना चाहते हों—"मनोरंजन के लिए किसी दूसरे को ढूँढ़ लेते, तो अच्छा होता।"

वसंत ने अपना हाथ झटकते हुए विज्ञान से कह दिया—"चलो हटो, क्या बदतमीज़ी है !"

वसंत की बात पर ध्यान न देकर विज्ञान बोला—"नहीं ज्योतिषी-जी, सचमुच आपको इनका हाथ देखना है।" और बलात् वसंत का दाहिना हाथ पकड़कर उनके सामने कर दिया।

ज्योतिषीजी ने हाथ को तो नहीं छुआ, पर ध्यान से देख सब कुछ लिया। दोनों की वेषभूषा उनके इस संदेह का एक पुष्ट आधार थी कि उन्हें ज्योतिष या सामुद्रिक-शास्त्र पर विश्वास नहीं है। फिर भी वे बोले—"बड़ा विचित्र जीवन है !"

विज्ञान ने कहा—"ज्योतिषीजी, ज़रा ठीक से देख लीजिये और काम की कोई बात हो, तो बताइये। दक्षिणा आपको अवश्य मिलेगी।"

अब ज्योतिषीजी ने हाथ थाम लिया, कुछ सोचा और कह दिया—"देखना क्या है, चार को खिलाकर खाते हो !"

विज्ञान और वसंत दोनों में से किसी ने कुछ नहीं कहा। ज्योतिषीजी ने कुछ सोचकर कह दिया—"घरवालों से प्रकृति नहीं मिलती।"

विज्ञान ने वसंत की ओर रहस्यपूर्ण दृष्टि डाली, फिर ज्योतिषीजी से कह दिया—"बहुत ठीक। अच्छा, अब और कुछ बताइये।"

ज्योतिषीजी ने चारों अँगुलियों को पकड़कर ऐसा लचा दिया कि हथेली की रेखाएँ अधिकाधिक स्पष्ट हो गयीं। बोले—"कहीं से धन मिलने ही वाला है। पर बुद्धिमानी से ही मनोकामना पूरी होने का योग है ! मन भी द्विविधा में रहता है।"

वसंत उठने को उद्यत होकर बोला—"बस रहने दो। सब ठीक है।

वसंत के इतना कहने पर भी ज्योतिषीजी ने हाथ नहीं छोड़ा। बोले—"बुढ़ापे में कुछ विराग के लक्षण दिखाई देते हैं, तभी आत्मा को सन्तोष मिलेगा और सारी भ्रान्तियाँ मिट जायँगी।"

"बुढ़ापा तो अभी दूर है पंडितजी महाराज, कुछ तरुणाई की बातें बताइये।" विज्ञान ने मुस्कराते हुए पूछा।

ज्योतिषीजी ने हथेली को पहले दाहिनी ओर ऐंठा, फिर अँगुली से रेखाओं को और अधिक स्पष्ट करते हुए कह दिया—"विवाह दो होने चाहिये।" उनके इस कथन पर विज्ञान वसंत की ओर देखने लगा।

ज्योतिषीजी कुछ और सोचकर बोले—"सन्तानें तो कई होनी चाहिये, लेकिन···। खैर, सब ठीक है।"

ज्योतिषीजी कुछ आगे कहते-कहते रुक गये और बोल उठे—"भगवान् सबका कल्याण करेगा।" इतना कहकर उन्होंने वसंत का हाथ छोड़ दिया।

वसंत ने जेब से एक दुअन्नी निकालकर ज्योतिषीजी की ओर बढ़ा दी। तब ज्योतिषीजी ने कह दिया—"एक हाथ की दक्षिणा पाँच आने।"

विज्ञान ने तीन आने भी तत्काल निकालकर ज्योतिषीजी की हथेली पर रख दिये।

इतने में एक रिक्शा को खाली जाते हुए देखकर वसंत ने रोकते हुए कहा—"ठहरो।" वसंत के साथ विज्ञान उस पर चढ़ता-चढ़ता बोल उठा—"मनुष्य को पहचानना बड़ा कठिन है। देखा नहीं, हमलोग जिसका उपहास करने पर तत्पर थे, उसी ने कुछ ऐसी बातें बतला दीं, जिनको सुनकर अन्त में तुम्हें प्रभावित होना ही पड़ा। मुझे एक दिन फिर आना पड़ेगा!"

वसंत को उस व्यक्ति की स्तुति करने में बहुत आनन्द आता था, जिसके सम्बन्ध में उसको इस बात का पक्का विश्वास हो जाता था कि बस, इन्हीं के द्वारा मेरा पूरा-पूरा स्वार्थ-साधन होना सम्भव है। अनुचित प्रशंसा भी वह इस ढंग से करता कि सम्बन्धित व्यक्ति एकदम से पुलकित और प्रफुल्लित हो उठता। अतिरंजित चित्र खींचने में उसकी वाणी का माधुर्य, उसकी कल्पना का प्रसार बन जाता और प्रशंसात्मक

चित्रांकन में तो इतनी स्वाभाविकता उत्पन्न हो जाती कि सम्बन्धित व्यक्ति को अपनी अयोग्यता का भान भी न होता।

इसके विपरीत कैलाश बाबू का सारा जीवन सत्य और न्याय की मीमांसा में बीता था। प्रशासनिक जीवन में रहकर उन्होंने कभी पैसे की परवा नहीं की थी। पग-पग पर उनको एक-से-एक बढ़कर प्रलोभन मिलते थे, किन्तु ऐसी घड़ियों में वे सदा यही सोचने लगते कि यही तो परीक्षा का समय है। ऐसी अवस्था में वे और भी अधिक सतर्क हो जाते। वे प्रायः सोचने लगते कि अब, बीच की एक भी सीढ़ी पर, अगर मेरा पैर फिसल गया, तो बिलकुल नीचेवाली भूमि तक पतित हुए बिना बचूँगा नहीं। आशंका और भय तब संयम का रूप धारण कर लेता और एकमात्र भगवान् की इस अनोखी सृष्टि का ध्यान कर वे मुस्कराते हुए बोल उठते—'नहीं बन्धु, इस काम के लिए मेरा जन्म नहीं हुआ। भविष्य में फिर कभी मुझसे ऐसा प्रस्ताव न कीजिएगा।' इन निष्कर्षों का परिणाम यह होता कि उनके सगे-से-सगे और आत्मीय स्वजन भी पहले तो विरोधी बन जाते, पर फिर कालान्तर में प्रशंसक। परन्तु इस प्रकार प्रशंसा के पात्र वे तब बनते, जब अवसर हाथ से निकल जाता। इन परिस्थितियों का परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे उनके मन में सम्मान प्राप्त होने की प्रतिक्रिया ने एक ग्रन्थि का रूप धारण कर लिया।

उस दिन पहले तो वसन्त ने अपने कालेज के प्रिंसिपल मिस्टर माथुर से पूछा—"प्रिंसिपल साहब, अपने कालेज का वार्षिकोत्सव आखिर आप कब करेंगे?" फिर जब प्रश्न उपस्थित हुआ कि उद्घाटन के लिए कोई एक उपयुक्त व्यक्ति भी तो हो, तब कई व्यक्तियों के नाम लिये गये। उत्तर में वसन्त ने मुस्कराते हुए कह दिया—'प्रिंसिपल साहब, आप मेरे गुरु-देव हैं। ऐसी अवस्था में मेरा कुछ कहना धृष्टता ही होगी। किन्तु अगर मैं कहूँ कि आप व्यावहारिकता से सदा दूर रहते हैं!···जिन व्यक्तियों के नाम आपने बताये—प्रश्न यह है कि—वे आपके कालेज को, क्या लाभ पहुँचा सकेंगे? इससे तो कहीं अच्छा होता कि आप शिक्षा-विभाग के

अनुसचिव श्री कैलाशचन्द्र आई० ए० एस० को इसके लिए आमंत्रित करें और अपने कार्य-क्रम से उनको इतना प्रभावित कर दें कि अवसर आने पर वे कालेज के लिए कोई ऐसा अनुदान स्वीकृत करवा देने में हमारे सहायक बन जायँ कि प्रदेश-भर में आपकी कीर्ति-पताका फहराने लगे।"

कई सहयोगी अध्यापकों के वृन्द में जब वसन्त ने अपना यह मंतव्य प्रकट किया, तब सभी ने उसकी दूरदर्शिता की प्रशंसा की। और प्रिंसिपल साहब ने तो यहाँ तक कह डाला—"आज नहीं, मैंने सदा यही अनुभव किया है कि तुम्हारी सलाह बड़ी सटीक और मूल्यवान् होती है।"

दिन के आठ बजे होंगे। धूप फैल चुकी थी। कैलाश बाबू बँगले के लॉन में पड़ी हुई कुर्सियों में से एक पर बैठे थे। उसी दिन का अंग्रेजी दैनिक समाचारपत्र तथा लाल फीते की एक फाइल पास की छोटी टेबिल पर रखी हुई थी और उनके निजी सहायक श्री निर्मलचन्द्र उनके पास बैठे हुए कुछ पत्रों के उत्तर लिख रहे थे।

इतने में अर्दली ने आकर कहा—"श्रीमान्, आपका फ़ोन है।"

कैलाश बाबू ने संकेत द्वारा निर्मल बाबू से कहा—"देखिये, कहाँ का है?" फिर समाचार-पत्र को अपनी ओर खींचते हुए उसके मुखपृष्ठ को देखने लगे। आज का मुख्य शीर्षक था—'विश्व-शान्ति धमकियों से नहीं, मैत्री से ही सम्भव है।" यह कथन प्रधानमन्त्री श्री नेहरू के उस भाषण से उद्धृत किया गया था, जो उन्होंने कल नईदिल्ली में विश्व-शान्ति-परिषद् के अधिवेशन में उन्नीस देशों से आये हुए प्रतिनिधियों के समक्ष दिया था। कैलाश बाबू के मन में आया कि यह तो पण्डितजी का रोज का धन्धा है। तब वे फिर दूसरा समाचार देखने लगे।

इतने में निर्मल बाबू ने आकर बताया कि फोन स्थानीय राजकीय माध्यमिक विद्यालय से आया था। आपसे मिलने का समय पूछ रहे थे। मैंने परसों रविवार को प्रातः नौ बजे आने के लिए कह दिया है।"

"ठीक है।" मात्र कहते हुए कैलाश बाबू पुनः पत्रों का उत्तर लिखाने में लग गये।

तीसरे दिन रविवार था। कैलाश बाबू बंगले में अपने निजी कमरे में बैठे हुए च्यवनप्राश लेकर दूध पी रहे थे। इतने में अर्दली ने एक चिट उनके सामने रख दी। चिट देखकर कैलाश बाबू ने कह दिया— "बुलाओ।"

अन्तःपुर का छोकरा प्लेट, चम्मच और गिलास उठाकर ले गया। तभी सामने के द्वार से चिक हटाते हुए आगे-आगे विज्ञान और पीछे वसन्त कमरे में प्रविष्ट हुए। विज्ञान ने वसंत का परिचय देते हुए कहा— "यहाँ के राजकीय माध्यमिक विद्यालय में अंग्रेजी के अध्यापक श्री वसंतकुमार आपसे कुछ निवेदन करना चाहते थे। पर अकेले हिम्मत नहीं पड़ रही थी। इसलिये साथ में मुझे भी घसीट लाये।"

कैलाश बाबू बोल उठे—"इसमें संकोच की क्या बात थी? आपके विद्यालय के कार्यों में तो मैं स्वयं बड़ी दिलचस्पी रखता हूँ और आपके प्रिंसिपल साहब के शील-सौजन्य से थोड़ा-बहुत परिचित भी हूँ।"

अवसर पाकर वसंत ने कह दिया—"आगामी अठारह जनवरी को विद्यालय का वार्षिकोत्सव तथा पारितोषिक-वितरण होना है। मेरी प्रार्थना है कि इस समारोह की अध्यक्षता आप स्वीकार करलें। इससे विद्यार्थियों का उत्साह बढ़ेगा और आपको अपने बीच पाकर हम लोग भी गौरव का अनुभव करेंगे।"

"समारोहों की अध्यक्षता और उद्घाटन का काम तो नेता लोगों को ही शोभा देता है। हम सरकारी नौकरों को इन बाहरी कामों के लिए अवसर ही कहाँ रहता है; और कोई उपयुक्त व्यक्ति तैयार न हो, तो मुझे दो दिन पूर्व सूचना दे दीजिएगा। जो कुछ सेवा बन सकेगी, करूँगा।"

हाथ जोड़ते हुए वसन्त ने कह दिया—"आपकी बड़ी कृपा होगी। हम सब इसके लिये आपके बड़े आभारी होंगे।"

छोकरे ने पान की तश्तरी लाकर मेज़ पर रख दी। तश्तरी विज्ञान की ओर बढ़ाते हुए कैलाश बाबू ने कहा—"तुमने तो आना ही छोड़ दिया, आजकल किस धंधे में लगे हो? उस दिन कला की जो विवेचना तुमने आरम्भ की थी; वह आज तक अधूरी ही पड़ी है।"

विज्ञान मुस्कराता हुआ बोला—"बाबूजी, आप धन्य हैं। हमारे जैसे बच्चों की बातों में भी इतनी दिलचस्पी रखते हैं।"

"जब बिटिया की पाठ्य-पुस्तक में कला का विषय आयेगा, तब कुछ समय निकालने की चेष्टा करियेगा। कला मेरा प्रिय विषय है।"

उठते हुए विज्ञान हाथ जोड़कर बोला—"अब आज्ञा दीजिये।"

वसंत समझता सब कुछ था, फिर भी अबोध बनकर सड़क पर आते हुए बोल उठा—"यह बिटिया कौन है?"

"अरे वही, जिसे प्रदर्शनी में पेंसिल-स्केच लेते हुए देखा था।"

"बड़े छिपे रुस्तम निकले! क्या नाम है, उसका?"

विज्ञान ने व्यंग से कह दिया—"नामकरण का निमन्त्रण तुम्हें भी भेजा जायगा।"

यद्यपि कैलाश बाबू सच्चरित्रता के लिये अपने क्षेत्रीय जगत् में बहुत प्रसिद्ध थे, किन्तु यह बात वे कभी भूल न पाते थे कि मुझे यथेष्ट सम्मान नहीं मिला। इस स्थल पर 'यथेष्ट' शब्द ठीक उस स्थिति के लिये प्रयोग किया जा रहा है, जो यदि अधिक स्पष्टता के साथ लिया गया हो तो वह 'नेताओं-जैसा' होता। उनकी धारणा थी कि यद्यपि प्रादेशिक सरकार मेरा सम्मान करती है, किन्तु जनता की ओर से कभी मुझे कोई असाधारण सम्मान नहीं मिलता।

उस दिन वे अनुभव कर रहे थे कि मेरे जीवन में यह पहला दिन है, जब जनता को मुझे पहचानने का उपयुक्त अवसर मिला है। यदि

मेरे कार्य में कोई विशेषता न होती, तो मेरे अभिनन्दन का इस प्रकार आयोजन कैसे होता !

राजकीय विद्यालय-भवन के सामने लॉन पर स्थापित रंगीन शामियाने के नीचे बने हुए मंच पर खड़े होकर प्रिंसिपल श्री माथुर ने अपने सहयोगियों को सम्बोधित करते हुए कहा—"साथियो, हमारे विद्यालय की एक विशेष परम्परा रही है, जिसका पालन करके संस्था ने नगर एवं प्रान्त की शिक्षण संस्थाओं में सम्मानित पद प्राप्त किया है। गत सप्ताह संस्था के वार्षिक खेल-कूद तथा सांस्कृतिक समारोहों को आपने जो सहयोग दिया है, उससे उनकी सफलता सिद्ध होती है। आज के पारितोषिक-वितरण समारोह में हमारे आदरणीय विद्यालय निरीक्षक तथा नगर के अनेक गण्य-मान्य सज्जन तथा कतिपय पत्रकार भाग लेने आ रहे हैं।·······

श्रीमाथुर ने एक बार फाटक पर अपनी दृष्टि दौड़ायी, फिर अपना भाषण जारी रखते हुए कहा—"अतः मैं आप लोगों से आशा करूँगा कि एक अनुशासित संस्था के सदस्य के रूप में आप अतिथियों के सम्मुख उपस्थित हों। आप लोग विश्वास रखें कि गंभीरतापूर्वक कार्य करके ही आप सीमित और अल्प साधनों में ऐसे समारोह को सफल बना सकते हैं।"

श्रोताओं में एक गंभीरता व्याप्त हो गयी। फाटक पर लगनेवाली कार की घरघराहट सुनकर श्रीमाथुर की दृष्टि उधर घूम गयी। उन्होंने देखा—नगर के प्रमुख उद्योग-संचालक के ज्येष्ठ पुत्र श्रीरविमोहन कानोडिया कार से उतर रहे हैं।"

"विद्यार्थी आपका आभार कभी न भूलेंगे," कहते हुए श्रीमाथुर ने हाथ जोड़े।

फाटक पर खड़े होकर श्रीमाथुर ने नगर के अनेक गण्य-मान्य अभ्यागतों का स्वागत किया। उन्हें अधिक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। थोड़ी ही देर में कैलाश बाबू की कार फाटक पर आकर रुक गयी। गेंदा और

गुलाब के मिश्रण से निर्मित पुष्पहार उनके गले में डालते हुए श्रीमाथुर ने कहा—"अब हमारा समस्त आयोजन सफल होकर रहेगा।"

"आपके अनुरोध को कैसे टालता," कहते हुए कैलाश बाबू फाटक की ओर बढ़ गये और फिर गार्ड आफ आनर की पंक्ति को पार करते समय, प्रिंसिपल साहब के साथ एक चित्र खिचवाने की रस्म पूरी करके मंच पर पड़ी दो कुर्सियों में से एक पर विराजमान हो गये। दूसरी कुर्सी पर प्रिंसिपल महोदय आसीन हुए।

आगे के उत्सव का संचालन वायस-प्रिंसिपल श्री खन्ना कर रहे थे। ध्वनि-विस्तारक को बायें हाथ में पकड़कर श्री खन्ना ने कहा—"सम्मानित अतिथि के आगमन के उपरान्त अब समारोह की कार्यवाही विधिवत् आरंभ की जाती है। पहले सम्मानित अतिथि के स्वागत में अभिनन्दन-पत्र के रूप में एक कविता प्रस्तुत की जा रही है।"

बारहवीं कक्षा के एक होनहार छात्र महेन्द्रमोहन ने कविता की पहली पंक्ति पढ़ी—

"ज्ञान का दीपक दिखाने कौन आया ?" फिर उसने पंक्ति को दोहराया भी।

कविता की सरल पदावली तथा गाने की लय से दर्शक मुग्ध होने लगे। छपी हुई प्रतियाँ अभ्यागतों में वितरित करने की व्यवस्था की गयी। महेन्द्र अगली पंक्ति पढ़ रहा था—

"मुक्ति का बीड़ा उठाने कौन आया ?"

बीच-बीच होनेवाली करतलध्वनि से कविता-पाठ में अनेक बार बाधा पड़ी। अंतिम पंक्तियाँ थीं—

"त्याग का, तप का तथा बलिदान का संदेश देकर
रास्ता सच्चा दिखाने कौन आया ?"

फिर निरंतर करतलध्वनि होने लगी।

जलपान के उपरान्त अपनी कार पर बैठते-बैठते कैलाश बाबू ने कहा—"मैं कविता पढ़नेवाले विद्यार्थी को बधाई देना तो भूल ही गया। क्या यह उसी की लिखी हुई है ?"

"यह तो आपकी अनुकम्पा है। कविता हमारे इन अंग्रेज़ी-अध्यापक वसन्त बाबू की लिखी हुई है। बेचारों ने अभिनन्दन-पत्र के लिये बड़ी शीघ्रता में लिखकर दी थी।"

"अच्छा, तो आप कवि भी हैं!" कैलाश बाबू ने वसंत की ओर मुड़ते हुए कहा—"आपसे तो भेंट हुई है।"

"आपकी कृपा से"—वसंत ने हाथ जोड़ते हुए कहा।

"बड़ी सुन्दर कविता लिखी आपने। थोड़े से सरल शब्दों में गंभीर भाव भरना आप भलीभाँति जानते हैं। मैं इतनी प्रशंसा के योग्य कहाँ? कभी-कभी दर्शन दिया कीजिये।"

"आपसे भय मानते थे, तभी तो मुझे साथ लेकर आपके पास गये थे। पर अब भय छूट गया है, अब अवश्य आया करेंगे।"···विज्ञान ने स्मरण दिलाया।

कैलाश बाबू ने कार में पाँव रख दिया। श्रीमाथुर के साथ दर्जनों अध्यापक हाथ जोड़े खड़े थे।

वसन्त सोच रहा था—मुझे इस संसार को बदलना ही पड़ेगा।

तीन दिन बाद अर्दली ने अन्दर आकर कहा—"कोई वसन्त बाबू, आपसे मिलने आये हैं।"

कैलाश बाबू ने उत्तर दिया—"ले आओ, उनको।"

वसन्त ने आते ही कैलाश बाबू के चरण छू लिये। उन्होंने वसन्त को आशीर्वाद देते हुए अपने निकट बैठने का संकेत किया। कार्यव्यस्त होने पर भी वे बोले—"कहो वसन्त, अच्छे तो हो?"

"आपकी महती कृपा से।"

तदनन्तर कैलाश बाबू फ़ायलें देखने में लग गये। बसन्त चुपचाप

बैठा रहा। धीरे-धीरे पाँच बज गये। तब एक ट्रे में छोकरा चाय ले आया और उसके साथ थोड़ा-थोड़ा मिष्टान्न और नमकीन।

दो मिनट तो वसन्त ने आदेश की प्रतीक्षा की, फिर वह कुछ सोच कर चाय बनाने लगा। केतली का रुईदार आसमानी आवरण उठाकर प्याले में चाय ढालने के बाद उसने पूछा—"बाबूजी, चीनी आपके लिए दो…?"

उसका संकेत चम्मच के लिए था।

"दो नहीं, डेढ़।"

चीनी अच्छी तरह चम्मच से घोलकर वसन्त ने रबर के गोल आधार पर चाय का प्याला प्लेटसहित रखकर कैलाश बाबू के सामने खिसका दिया। स्वयं वह जान-बूझकर चुपचाप मूक स्थिर होकर बैठ रहा।

कैलाश बाबू ने पहली चुस्की लेते हुए आश्चर्य के साथ कह दिया—"अरे, तुमने अपना प्याला नहीं बनाया?"

"बाबूजी, बाबूजी…मैं…ऐसी धृष्टता…!"

वसन्त के स्वर में कम्पन, वाणी में उल्लास और मस्तिष्क में राज-नीति थी।

"धृष्टता की इसमें क्या बात है? दूसरा प्याला तुम्हारे लिए ही तो आया था। ऐसा संकोच किस काम का? बनाओ बनाओ, अपने लिए भी।"

अपने लिए चाय बनाकर वसन्त जब चुस्कियाँ लेने लगा, तो कैलाश बाबू ने कह दिया—"मिठाई और नमकीन भी लो।"

वसन्त ने जब कोई उत्तर नहीं दिया, तो कैलाश बाबू प्याला सामने की शीशेदार छोटी टेबिल पर, कोने में रखकर, बोल उठे—"सार्वजनिक जीवन में आने वाले तरुणों को ऐसा संकोच नहीं करना चाहिये। संकोची व्यक्ति सदा घाटे में रहते हैं। न उनको सेवा करने का उपयुक्त अवसर

मिलता है, न अपनी भावना के अनुरूप सम्मान और अधिकार प्राप्त करने का।"

"बाबूजी मैं आपके सामने एक बच्चा हूँ। लेकिन निवेदन है कि सेवक को सदा सेवा का ही ध्यान रखना चाहिये। सम्मान और अधिकार की लालसा रखनेवाला व्यक्ति निःस्वार्थ सेवा-धर्म का पालन नहीं कर सकता।"

वसन्त की बात सुनकर कैलाश बाबू नमकीन काजू का एक टुकड़ा अपने कृत्रिम दाँतों से दबाते हुए किञ्चित् सस्मित हो उठे और बोले—"यह भी एक दृष्टिकोण है, मानता हूँ। पर तुम यह क्यों भूल जाते हो कि सेवा के क्षेत्र में जो सम्मान प्राप्त होता है, उससे सेवक की क्षमता में अपेक्षित अभिवृद्धि भी तो होती है। इसलिए अतिथि-सत्कार से अपने-आपको विमुख रखना सेवक का धर्म नहीं।"

बात कुछ वसन्त की समझ में आ रही थी। तुरन्त वह कोई उत्तर न सोच सका। तब कैलाश बाबू पुनः चाय की चुसकी लेते हुए बोले—"और भी एक बात है वसन्त। यह संकोच जो मैं आज देख रहा हूँ, विनय और शील प्रकट करने का एक ढंग ही तो है।"

वसन्त देख रहा था कि कैलाश बाबू के कमरे में अगरबत्ती का सौरभ मन्द गति से फैलता हुआ सचमुच बहुत ही प्रिय लग रहा है।

तब उसके मन में आया—'काश, अपना एक घर होता!···उसे बड़े ठाट से सजाया जाता।'

कैलाश बाबू ने आगे बढ़ते हुए कह दिया—"ध्यान से देखा जाय, तो यह संकोच अपने को हीन समझने की एक वृत्ति—पर वृत्ति ही क्यों, ग्रन्थि है—वही ग्रन्थि, जिसमें निरन्तर जकड़ा रहकर मानव अग्रसर होने से वञ्चित बना रह जाता है।"

"पापाजी, ऐसा सुन्दर मनोविश्लेषण सुनने का मेरा यह प्रथम अवसर है। मैं तो कभी इसकी कल्पना भी न कर सकता था। आप






धन्य हैं पापाजी, जो तरुण समाज का और विशेष रूप से हम जैसे आगन्तुकों का इतना ध्यान रखते हैं।"

कथन के साथ चाय-पान के क्रम में वसन्त ने थोड़ा-सा मिष्टान्न और नमकीन भी ग्रहण कर लिया।

चाय-पान अभी समाप्त नहीं हो पाया था कि इतने में कमरे के दाईं ओर वाली चिक का परदा एकाएक थोड़ा उठ गया और अन्दर से झाँकती हुई एक तन्वङ्गी बाला कमरे में आती-आती ठिठक गयी।

वसन्त को ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे एकाएक सरिता में बाढ़ आगयी हो। तटवर्ती भूमि में कगारों का कटाव प्रारम्भ हो गया हो। भूमिल पहाड़ियाँ फट-फटकर गिर रही हों। समूल वृक्ष उनकी डालियाँ, टहनियाँ, पत्ते डूबते-उतराते बहे जा रहे हों। कभी आम्रमंजरियाँ ऊपर को आ जाती हों, कभी पीपल और बरगद की हरी, पीली और लाल निःसृत कोंपलें, डालें, तना, जड़ें—वे जड़ें, जो डालों से केशों के रूप में फूट-फूटकर पुनः एक डाल-सी बनकर भूमि के अन्दर जाकर पुनः जड़ बन जाती हैं। वे बहती-बहती घूमती हों, घूमती-घूमती बहती हों, बहती हुई करवट बदलती जाती हों। तट के खेतों की खड़ी फसलें तक बही जा रही हों।

कैलाश बाबू बोल उठे—"क्या है? आओ आओ, संकोच मत करो।"

आपाद-स्कन्ध श्वेत वसना, आयत नयना, कलहासिनी-सी कला ने निकट आकर कह दिया—"ममी ने कहा है, बस अभी दो मिनट में सोया-पालक की पकौड़ियाँ तैयार हो जायँगी।"

"लाओ लाओ; जल्दी करो।"

वसन्त ने एक बार जो कला को देखा, तो वह स्तब्ध हो उठा। "उफ़! ऐसी रूपराशि!" बड़ी कठिनाई से वह अपनी विमुग्ध प्रतिक्रिया को संयत रख सका।

कला तुरन्त लौट गयी।

कैलाश बाबू ने कहा—"और कहो, तुम्हारे पिता क्या काम करते हैं ?"

"पिता नहीं हैं बाबूजी ।"

"परिवार में और कितने सदस्य हैं ?"

"मां हैं, आपकी बहू है । और मेरा छोटा भाई राकेश शोध के अन्तिम चरण में ।"

"शोध के अन्तिम चरण में ?"

"जी बाबूजी ।"

"बी० ए० और एम० ए० में कौन-सा डिवीज़न था उसका ?"

वसंत ने उत्साहपूर्वक उत्तर दिया—"आपके चरणों के प्रताप से फर्स्ट डिवीज़न और विश्वविद्यालय में फ़र्स्ट ।"

आश्चर्य के साथ कैलाश बाबू के मुंह से निकल गया—"अच्छा !" —और तुम्हारा एम० ए० में कौन-सा डिवीज़न था ?"

"बाबूजी, दुर्भाग्य से तीन नम्बरों से फ़र्स्ट डिवीज़न रह गया ।"

"रह ही जाता है वसन्त । चेष्टा और प्रयत्न ही सब कुछ नहीं, भाग्य का भी जीवन में एक महत्त्व होता है । बी० ए० तक फ़र्स्ट डिवीज़न प्राप्त करने के बाद एम० ए० की परीक्षा में जब मेरा एक प्रश्न-पत्र बिगड़ गया, तब जानते हो मैंने क्या किया था ?"

वसन्त चुप रहकर उनके मुख की ओर देखता रह गया ।

कैलाश बाबू ने कह दिया—"मैं फिर आगे परीक्षा में बैठा ही नहीं । एक वर्ष मेरा व्यर्थ ज़रूर चला गया, लेकिन फिर दूसरे वर्ष मेरा फ़र्स्ट डिवीज़न निश्चित हो गया । और लॉ में तो प्रथम वर्ष में ही मैंने इतनी अधिक तैयारी कर ली थी कि द्वितीय वर्ष में उसमें फ़र्स्ट आया । तो मतलब यह है कि भाग्य एक अलग चीज़ ज़रूर है, किन्तु उसके निर्माण की भी एक विधा है । पूर्ण सफलता में थोड़ी भी आशंका होने पर जो लोग धैर्य खो देते हैं, भाग्य उनका कभी साथ नहीं देता । लॉ करने के बाद मैं पी० सी० एस० की परीक्षा में बैठने ही वाला था कि

दैवयोग से मेरे पिताजी की मृत्यु होगयी। मेरे कई ऐसे साथी थे, जिन्होंने वारम्बार समझाया—'तुम परीक्षा में बैठ तो जाओ; उत्तीर्ण अवश्य हो जाओगे। किन्तु मैंने किसी की एक न मानी। अब मेरे लिये केवल एक अवसर रह गया था। चाहे मैं पी०-सी०-एस्० में बैठूँ और चाहे आई०-ए०-एस्० में। परिणाम यह हुआ कि अगले वर्ष मैं आई०-ए०-एस्० में आ गया।"

इतने में कला दो तश्तरियों में सोवा की पकौड़ियाँ ले आयी। वसन्त को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो सरिता के जल-प्लावन में डालें और टहनियाँ नीचे हो गयी हों, हरी पत्तियाँ और कलियाँ और सुमन ऊपर आ-आकर घूम रहे हों और बहते जाते हों।

कैलाश बाबू ने उसकी ओर उन्मुख होकर कह दिया—"उस दिन मेरे अभिनन्दन की जिस कविता की तू प्रशंसा कर रही थी, ये उसके रचयिता वसन्तकुमार उसी कालेज में अध्यापक हैं।

कला ने दोनों हाथ जोड़कर मुस्कान-माधुरी बिखेरते हुए कह दिया—"नमस्ते!"

वसन्त ने मुग्ध-मोहित दृष्टि से उसकी ओर उन्मुख होकर हाथ जोड़ते हुए उत्तर दिया—"नमस्ते।"

कला पहले द्वार की ओर चल दी। फिर थोड़ी ठिठकी और लौट-कर तख्त की गद्दी के निकट आकर बोली—"जब आप इतनी सुन्दर कविता लिखते हैं, तो आपका कोई कविता-संग्रह तो छपा ही होगा।"

वसन्त ने अवसर देखकर थोड़ा बढ़ाकर कह दिया—"छपे तो दो हैं, लेकिन पहले संग्रह की प्रतियाँ मेरे पास हैं नहीं। दूसरा मैं किसी दिन दे जाऊँगा।"

कला के मुख से निकल गया—"धन्यवाद। पर आप भूल तो नहीं जायेंगे? क्योंकि कवि लोग भूलते बहुत हैं।"

कैलाश बाबू बोल उठे—"तू बड़ी धृष्ट होती जा रही है कला!"

"आप ही ने तो एक दिन कहा था पापा—"धृष्टता उत्साह की

वाणी है। वह हृदय की रागिणी और स्वाभाविक सारल्य की अविकल अभिव्यक्ति है।"

"है। किन्तु उसके लिये भी एक अवसर होता है।"

"पर मैंने तो कवि-स्वभाव के साधारण धर्म की बात कही थी। पर्टीकुलरली आप ही पर मेरा दोषारोप नहीं था।"

"कला तू मुझसे भी बहस करेगी! माना कि अमिधा में नहीं था, लेकिन लक्षणा में ?"

एकाएक रसना को दाँत से दबाती हुई कला बोल उठी—

"आई सी! अच्छा तो मुझे क्षमा कर दीजियेगा पंडित जी" कथन के साथ उसने हाथ जोड़ लिये और वह फिर अन्दर चली गयी।

अब तीसरी पकौड़ी टूँगते हुए कैलाश बाबू बोल उठे—"यह मेरी प्रथम और अन्तिम संतान है वसंत।"

और वसंत ने उत्तर में कह दिया—"अत्यन्त शिष्ट और प्रतिभा-मयी। ऐसी ही सुयोग्य संतान से माता-पिता गौरवान्वित होते हैं।"

वसंत के इस उत्तर पर कैलाश बाबू कुछ बोल न सके—केवल एक निःश्वास लेकर रह गये।

थोड़ी देर बाद जब वसंत चलने को उद्यत हुआ, तो कैलाश बाबू के चरण स्पर्श करते हुए बोला—"मेरे लिये आप पूज्य पिता के समान हैं पापा। कभी मेरे योग्य कोई सेवा हो, तो अवश्य स्मरण कीजियेगा। वह मेरे लिए सौभाग्य और गौरव की बात होगी।"

विचारमग्न कैलाश बाबू के मुख से निकल गया—"अच्छा-अच्छा, प्रसन्न रहो। कभी-कभी आते रहना।"

वसंत जब बँगले के बाहर चलने लगा, तो वह एक नयी कविता की पंक्ति गुनगुना रहा था लगा—

'प्रथम झलक युग-युग का परिचय,
जीवन का विनियोग कि विस्मय ?"

: ३ :

संस्कार जीवन के निर्माण में बड़ा ही महत्वपूर्ण और उन्नतिपरक भाग लेते हैं।

भोजन बनाने को तत्पर होने की घड़ियों में यदि मौलश्री कोई धुली हुई, उजली और स्वच्छ धोती पहने रहती, तो एकादशी टोंके बिना न मानती—"दुलहिन, घर-गृहस्थी के काम के समय ऐसी उजली धोती न पहनो, कोई साधारण अध-मैली धोती पहन लिया करो, तो कोई हर्ज है ?"

मौलश्री जानती थी कि पुरुषों की दृष्टि में सुरुचि का बड़ा महत्व होता है। स्वच्छ वेष-भूषा में जब वे सदा किसी नारी को देखने का अवसर पाते हैं, तब उससे उनकी आसक्तिमूलक वृत्तियों को बल मिलता है। किन्तु मौलश्री सास की बात का कोई उत्तर न देती। साथ ही उसके अनुरूप बनी रहने को सदा तत्पर भी रहती। इसका फल यह हुआ कि घर-गृहस्थी के कार्य-कलाप में वह बहुधा बहुत सादे ढंग से रहने लगी।

मौलश्री का वर्ण खरा गोरा न था। अगर वह मुख पर 'पाउडर' का लेप न करती, तो अपनी मुखश्री की छवि-छटा कभी बिखेर न पाती। जब स्वच्छ धोती पहनना भी उसने छोड़ दिया, तब मुखश्री का अलंकरण भी उसे छोड़ देना पड़ा। उधर स्वास्थ्य की स्थिति यह थी कि वह क्रमशः बिगड़ता जा रहा था। बच्चे पैदा होते थे, किन्तु वर्ष भी पूरा न हो पाता कि कभी सूखा, कभी जिगर की बीमारी और कभी जुकाम-खाँसी और निमोनियाँ के बहाने—बचाने की बहुत चेष्टा करने पर भी—मर ही जाते थे। गर्भावस्था में नारी-सौंदर्य का स्वाभाविक आकर्षण यों भी हत-विकृत हो जाता है। उसके अनन्तर बच्चों के रुग्ण

रहने और उनके चिकित्सा के कार्य-काल में कौन ऐसी मां है, जो अपने खान-पान, शृंगारप्रसा-धन और स्वास्थ्य-सौंदर्य का ध्यान रख पाती हो !

यह तो हुई बाह्य-सौंदर्य-संरक्षण की बात । अब आत्मिक उल्लास और उत्फुल्ल मनोयोग की ओर दृष्टि डालिये । जो नारी दिन-भर चूल्हे-चौके, वस्त्र धोने, नवजात शिशु की देख-रेख और चिकित्सा में सतत संलग्न बनी रहेगी, उसका आत्मिक उल्लास सचेत कैसे रह पायेगा !

लल्लू को खांसी आ रही है । खांसते-खांसते उसने पिया हुआ दूध उगल दिया है ।—'अरे अम्मा ! जरा देखो उसको । उसने टट्टी फिर मारी । मुझे अभी चार रोटी सेंकनी हैं ।'

रात हुई । दस बज गये । लल्लू को ज्वर आ गया है । उसका शरीर ताप से जल रहा है और वसंत सिनेमा देखकर लौटा है । ऐसे समय मौलश्री के मुख और चेतना-लोक पर हम उल्लास की आशा कर सकते हैं !—बच्चे को नौ महीने उदर में रखा । शारीरिक सौष्ठव की सारी छवि-छटा को भूलकर वह सतत इसी प्रयत्न में रही कि गर्भस्थ शिशु के संरक्षण में कोई विघ्न न पड़ने पाये । उसके पश्चात् जब वह उत्पन्न हुआ, तब सारा प्रयत्न उसके लालन-पालन में उत्सर्ग होता रहा । फिर दैवयोग से यह प्रयत्न भी व्यर्थ हो गया । निखिल आशाओं का जो एक केन्द्र-बिन्दु था, वह भी अंतरिक्ष में विलीन हो गया, तब उस दुखिया-मां से आप लावण्य और मोहक सौंदर्य-आकर्षण की आशा कर सकते हैं ! इतना कम था कि इतने पर भी मौलश्री जी रही थी !

इसके विपरीत वसंत की मान्यता थी कि मौलश्री मूर्ख है ! —मौलश्री फूहड़ है !—मौलश्री गोबर है ! वह ठीक ढंग से रहना नहीं जानती ; ठीक ढंग से बोलना नहीं जानती । फिर भी एक मैं हूं, जो कर्तव्य-पालन से कभी विमुख नहीं रहा, न आज रहता हूं । अगर यह कम

है, यथेष्ट नहीं, असंतोजनक है; तो में उत्तरदायी नहीं हूँ। मैं कुछ नहीं जानता जी ! मैं आज के युग का एक सभ्य मानव हूं—महत्वाकांक्षी और विद्रोही। मैं नयी दुनिया बसाना चाहता हूँ, मैं रूढ़ियों और घिसी-पिटी मान्यताओं का गुलाम नहीं हूँ। कर्तव्य अगर है, तो वह मेरे लिए है—अपने लिए है। फिर चाहे कोई हो, यदि अपने अनुकूल नहीं है, अपने अनुरूप नहीं है, रुचियों के अनुसार तेजोमय, तत्पर और स्वस्थ नहीं है, तो वह अपना भी नहीं है।

इन्हीं परिस्थितियों का परिमाण आज की यह मौलश्री थी।

एक दिन जब वसन्त विद्यालय जाने के लिए तैयार हुआ, तब एकादशी ने पूछा—"कल पंडितजी के यहाँ गये थे ?"

वसन्त ने कहा, "गया तो था ; पर वे—मिले नहीं थे। पंडिताइनजी ने बताया कि कहीं कथा बाँचने गये हैं।"

एकादशी बोली—"कल पूरनमासी थी। पंडितजी की कई घरों में कथा होती है। मेरे मन में भी लगी है कि हर पूनो को अपने यहाँ भी सत्यनारायण की कथा हो जाया करे। जब से तुम्हारा ब्याह हुआ है, तब से राकेश की वर्षगाँठ को छोड़कर साल-भर घर में कोई काम-काज नहीं होता। देवता भी आजकल रूठे दिखाई पड़ते हैं। इसी बहाने दो पैसे ब्राह्मण के घर पहुँच जायँगे !"

"तो इसके लिये पूछने की क्या बात है ? एक बार की शंख-ध्वनि से तो मुहल्ले-भर के पाप भाग जाते हैं। कथा करा लेने की क्या बात है !"

"तुम्हारे बाप जब बने थे, जब एक बार साल-भर हर पूर्णिमा को उन्होंने कथा कराने का अनुष्ठान किया था। उसी के दूसरे साल तुम्हारा ब्याह हुआ। बेचारे नाती का मुँह देखने के लिए कितने लालायित बने रहे ; लेकिन भगवान् ने उनकी इच्छा अधूरी रखकर ही उन्हें अपने पास बुला लिया। अब उसी भगवान् का ही सहारा है। वेही हमारी गिरस्ती की सूखी नदिया में दूध की धार बहा सकते हैं। तुम

आज जरूर चले जाना। बहू आ जाय तो फिर साल-भर की कथा की व्यवस्था हो जाय।"

मुहूर्त बताकर पंडितजी जब अपना पत्रा लपेटने लगे, तब एकादशी ने बीस आने पैसे और गरी का एक गोला पत्रा पर रखकर उनके पैर छू लिये। फिर वे पंडितजी से बोलीं—"बेटा तुम्हारे पत्रा में यह नहीं लिखा है कि इस घर में भी निरन्तर दिया जले ? ग्यारह वर्ष बीत रहे हैं; एक-एक दिन की बाट देखती रहती हूँ। अगर आज बहू की गोद भरी होती, तो क्या साल में चार बार भी इस घर में तुम्हारे पैर धुलने का अवसर न आता ? हमने तो अपने ऊपर वज्र सह लिया है, लेकिन बहू की उदासी देखकर रात-दिन मन में हूक उठा करती है। जो कुछ उपाय उचित समझो सो बताओ। चार पैसे, जो भगवान् ने घर में दिये हैं, उन्हें खर्च करने में कोताही न करूँगी।"

पंडितजी बोले—"सन्तान के लिए तो सन्तान-सप्तमी और आसा-दुइज के व्रतों का विधान है। है तो गोपालसहस्रनाम का जाप भी; परन्तु अशुद्ध पाठ से उलटे अनिष्ट की आशंका रहती है। मेरी समझ में सन्तान-सप्तमी का व्रत बहू करने लगे और आसा-दुइज का व्रत तुम करने लगो, तो ठीक रहेगा। या फिर कोई पुजारी-पंडित····· ?"

"बेटा, तुमको छोड़कर अब और किस पंडित का पल्ला पकड़ूँगी ! जैसा विधान बनता हो, सो सब बता दो और इस काम को पूरा कर डालो। सन्तान-सप्तमी व्रत का तो कुछ विवरण मैं जानती हूँ, पर आसा-दुइज के व्रत का विधान ठीक-ठीक नहीं जानती।"

—"और हाँ, सत्यनारायणजी की कथा हर पूनों को सुनने की इच्छा हो रही है। वसन्त ने भी हाँ कर दी है।"

"बड़ा उत्तम रहेगा।" पण्डितजी ने कहा।

"तभी तो कहती हूँ, बहू आ जाय तो सुननेवाले एक से दो हो जायँ। वसन्त का क्या ठिकाना !"

"माता जी, सब कल्याण-ही-कल्याण है" कहते हुए पण्डितजी पत्रा बगल में दबाकर उठ खड़े हुए।

राकेश को बुद्धि तो भगवान् ने दी थी, यथेष्ट रूप नहीं दिया था। जो कुछ दिया भी था, उसका श्रृंगार करने और अपने को सुन्दर प्रदर्शित करने की विशेष अभिरुचि नहीं दी थी। उसकी मान्यता थी कि कोई भी सुन्दरता वास्तविक नहीं होती। मनुष्य के गुण ही उसे सुन्दर बनाते हैं। ऐसे लोग हैं और रहे हैं, जिनमें कोई मोहक छवि नहीं थी; किन्तु न तो उनके प्रभाव में कोई कमी थी, न सम्मान में। श्रद्धा उनको अतुलनीय मिली थी और वन्दना पग-पग पर। उनका नाम गौरव के साथ स्मरण किया जाता है। उनकी मान्यताएँ विचारों के जगत् को एक अपूर्व देन थीं। साधना और संयम, दृढ़ता और त्याग, तपस्या और प्राणमयी भाषा के क्षेत्र में वे अद्वितीय माने गये। आज का विश्व जिसको जीवन-सौख्य कहता है आज हम जिसे ऐश्वर्य और गौरव कहते हैं, उसकी उनमें कमी नहीं थी, किन्तु उनका मुख न कमल के समान था, न गुलाब के समान। फिर भी उनकी आरती उतारी गयी। कोटि-कोटि मानवों ने उनकी मृत्यु पर आँसू बहाये। आज जब उनकी जयन्ती मनायी जाती है—जब देश-भर में एक छोर से दूसरे छोर तक लहर आ जाती है—तो ऐसा जान पड़ता है, मानो एक महापर्व मनाया जा रहा हो।

राकेश प्रायः सोचा करता—आख़िर यह सब क्यों? शरीर की, मुख और देह की, त्वचा और वेष-विन्यास की, शोभा और सौन्दर्य की निधि के लिये और क्या चाहिये? ये सब-के-सब गुण किस अर्थ में सुन्दरता के अप्रतिम गौरव से कम हैं! इन सब गुणों के आगे सुन्दरता का मूल्य क्या है? इसलिए प्रायः उसके मन में आता कि सुन्दर होते हुए भी गुणों से हीन व्यक्ति नगण्य है। फिर सौन्दर्य है कितने दिन का?

चेचक निकल आयी, फोड़ा हो गया, आग लग जाने पर देह जल गयी। कोई ऐसी व्याधि हो गयी अथवा किसी ने चाकू मार दिया, या किसी ने तेज़ाब ही ऊपर डाल दिया, तो सुन्दरता कैसे स्थिर रह सकेगी ! अच्छा, यह सब कुछ भी न हो, तो पहले शिशु के सौन्दर्य को लीजिये, फिर बालक, किशोर और तरुण के, प्रौढ़ के और फिर वृद्ध—अतिशय वृद्ध के। सबका अपना-अपना सौन्दर्य है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक परिस्थिति का एक पृथक् सौन्दर्य है—दूसरे से भिन्न और अवस्थाजन्य, वर्गीकृत भी है और कर्मक्षेत्र के अनुसार स्वाभाविक और मर्यादा के अनुरूप भी। अर्थात् एक सौन्दर्य यदि नये तारुण्य का है, तो एक प्रौढ़ सद्गृहस्थ का भी। एक कवि का है, तो शिक्षक का भी। विचारक का है, तो संत का भी। महात्मा का है, तो जननायक का भी। जनसेवक का है, तो चपरासी, व्वाय, नर्स, पोस्टमैन, टिकटचेकर और कम्पाउण्डर का भी। लेकिन दुनिया में ऐसे भी तो लोग हैं जो सुन्दर वेशभूषा में थोड़ा भी प्रभावित नहीं करते। मर्यादा, सम्मान या अधिकार की कुर्सी पर न हों तो चपरासी या धोबी से अधिक मूल्य उनके व्यक्तित्व का कभी न गिना जाये। एक गुण ही तो है, प्रतिभा ही तो है, जो उसे सम्मान प्रेम, श्रद्धा, और भक्ति देती है।

'इस प्रकार रूप अपने में कुछ नहीं है। यह रूप ही तो है जो गुणों की हीनता के कारण व्यक्ति को श्रद्धा के स्थान पर घृणा देता है। जो रूप बाज़ार में बिकता है, वही जब बलिदान की वेदी पर उत्सर्ग होने को आकुल, तत्पर और अधीर प्रतीत होता है, तब वन्दना का गीत बन-कर हमारी आँखों में समा जाता है। श्रद्धा के पंख खोल-खोलकर जीवन्त-पूजा, अर्चना और अभिनन्दन के लिये आतुर बना देता है। तात्पर्य यह कि गुण के बिना रूप अरूप है। रूप की यह कितनी बड़ी हीनता है कि पवित्र और उदात्त प्रकृति के अभाव की पूर्ति वह किसी प्रकार नहीं कर सकता ! इस बात का कोई मापदण्ड नहीं कि कोई वस्तु क्यों सुन्दर है, यदि उसके साथ गुणों का समन्वय नहीं। पलाश का पुष्प लीजिये :

समस्त वन-का-वन उससे एक बार सुशोभित हो उठता है। उसके पास से निकल जाइये और फिर किसी ऐसे स्थान से निकल जाइये जहाँ केवल दो-चार मेंहदी के वृक्ष लगे हों। इन मेंहदी के पुष्पित दो-चार वृक्षों का उस फूले पलाश वन के आगे, शोभा की दृष्टि से, क्या मूल्य है! लेकिन हिना कितनी दूर से पुकार-पुकारकर आपका आह्वान करता है! जब पलाश का सिर ऊँचा रहता है, हिना बेचारा चुपचाप मुँह लटकाये हुए कभी बोलता भी नहीं; जबकि पलाश का अट्टहास सारे वन्य-प्रान्त में एक साम्राज्यवादी की भाँति अट्टहास करता रहता है······'

इस प्रकार चिन्तन करते-करते एक दिन राकेश ने जब इमर्सन का यह कथन पढ़ा—"सुन्दरता के अनुसन्धान में चाहे हम एक विश्व-भ्रमण ही क्यों न कर डालें, पर यदि वह हमारे मानस-लोक की उद्‌भावना नहीं है, तो वह हमें कहीं भी मिल नहीं सकती और एक दिन जब उसने आचार्य विनोबा भावे की यह मर्म वाणी सुनी कि सुन्दरता मान लीजिये कि हिमालय है'; पर क्या वह मेरी कल्पनाशील सुन्दरता से कभी ऊँची उठ सकती है! तब एक प्रकार से उसका यह विचार बिलकुल स्थिर हो गया कि कल्पना से बढ़कर सुन्दर वस्तु संसार में और कोई नहीं है।

अब राकेश धीरे-धीरे सुन्दरता के प्रति अनास्था रखने लगा। जब कभी वह सुन्दर पदार्थ को देखता, तो उसके मन में सबसे पहले यही सन्देह उत्पन्न हो उठता—अवश्य ही इसमें कोई खोट होगी। एक बार वह एक सुन्दर फ़ाउन्टेन पेन ले आया। दो-चार दिन काम देने के बाद उसका निब मोटा हो गया। तब वह मन-ही-मन हँस पड़ा।

अब राकेश का ध्यान सदा इस ज्ञान के लिये अभिमुख बना रहता कि संसार में जितने भी पदार्थ सुन्दर हैं, उनमें से अधिकांश सगुण हैं या निर्गुण, पर निर्गुण शब्द का सहसा बोध होते ही वह फिर द्विविधा में पड़ गया। क्योंकि निर्गुण नाम तो निराकार ब्रह्म का है, जो सत्व, रज, तम—इन तीनों गुणों से परे हो, वह धनुष जिसमें डोरी न हो। पर फिर उसी दिन उसे ध्यान आया कि यह तो योगरूढ़ि है, जो अपने सामान्य अर्थ

को छोड़कर एक विशेष अर्थ का बोध कराती है। फिर वह यह भी सोचने लगा कि इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि जो बिलकुल कोरा है, छल, प्रपंच, लोभ, मोह, अहंकार, प्रवृत्ति-हीन, एकदम कोरा। जैसे—श्वेत पत्र, जैसे सुनील अम्बर, जैसे सैकत प्रान्त, जैसे निर्मल जल, जैसे दुग्ध। यह सब भी भगवान् का ही रूप-अरूप है।

एक दिन वह बिलकुल लाल हो रहे सेब ले आया। ढेर-के-ढेर सेबों में से छाँटकर। किन्तु जब वह उन्हें खाने लगा, तो वे खट्टे निकले। तब अपने इस प्रयोग के प्रति वह स्वयं हँस पड़ा। क्योंकि फलवाले ने जान-बूझकर एक ऐसा सेब रख दिया था जो अपेक्षाकृत बहुत ही कम लाल था। जब उसने उसे खाया तो वह प्रसन्नता से पुलकित हो उठा। फिर एक दिन उसने हरी और पीली जाति के केले खाकर देखा तो उसे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि हरे केले अधिक स्वादिष्ट हैं।

अब उसका रात-दिन का यह काम हो गया। नित्य वह यही देखता रहता कि सृष्टि में जो पदार्थ सुन्दर हैं, वे अधिक गुणी हैं, या वे, जो अपेक्षाकृत कम सुन्दर हैं। अंत में वह इस निश्चय पर पहुँचा कि जो परुष है, वही पुरुष है। यह सुकुमारता, माधुर्य, लालित्य और सौन्दर्य अपेक्षाकृत पुरुष का नहीं, नारी का लक्षण है। अर्थात् अरूप पुरुष का गुण है और स्वरूप नारी का।

एकादशी को राकेश से सदा यही शिकायत बनी रहती कि वह खाना समय पर नहीं खा पाता। माघ मास के शुक्ल पक्ष की सप्तमी का दिन था। जाड़ा अभी कम नहीं हुआ था। सायंकाल के साढ़े पाँच बजे थे। मकान के पीछे के भाग में जो कमरा था, उसका छज्जा सड़क के फुटपाथ पर पड़ता था। और सड़क के उस पार भी ऐसा ही एक मकान था। छज्जे की रेलिंग पर द्वार की चौड़ाई के अनुरूप स्थान छोड़कर एक फीट के अन्तर से दो-दो खम्भे लगे हुए थे। सामने एक कपोत का जोड़ा बैठा-बैठा पंख फड़फड़ाकर उड़ा जा रहा था। एकादशी

कमरे में बिछी हुई दरी पर राकेश को खाना खिला रही थी। इतने में मौलश्री ने आकर कहा—"दिन-भर हो गया है, अब खाना खाने बैठे हो ! मालूम नहीं कहाँ रहे ! पता नहीं कहीं कुछ जलपान के लिए भी मिला या नहीं ! सबेरे के गये हुए अब लौटे हो !"

राकेश ने खाते-खाते किञ्चित् मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"जब से खाने बैठा हूँ तब से अम्मा इसी विषय में मुझे डाँट रही हैं। कोई कसर तो रह नहीं गयी थी। फिर भी बिना कुछ कहे तुम्हारा जी न माना भाभी !"

मौलश्री ने मिठाई का प्लेट राकेश के आगे रखते हुए कह दिया—"देखो लाला, तुम लाख बहस करो और चाहे जितना समझाओ, मगर मैं इस मामले में तुमको सदा दोषी समझती रहूँगी।"

राकेश हँसने लगा। बोला—"भाभी, मैं यह कब कहता हूँ कि मैं दोषी नहीं हूँ। मेरा तो केवल इतना कहना है कि समय पर खाना ऐसी कोई बहुत ही आवश्यक अनिवार्य वस्तु नहीं है, जिसके लिए रोज़-रोज़ उलाहना दिया जाय। क्योंकि समय पर खाने से भी बढ़कर जीवन की कुछ आवश्यकताएँ हैं। दुखियों के लिए अगर हमारे मन में करुणा नहीं है, तो प्रश्न उठता है कि हम क्यों जीते हैं और क्यों पैदा होते हैं ? खाना खाने की क्या आवश्यकता है ? हम क्यों हँसते-बोलते हैं ? मर क्यों नहीं जाते ? अम्मा को और तुमको मैंने एक-दो बार नहीं, पचासों बार समझाया कि मेरा जन्म कुछ कर दिखाने के लिए हुआ है—भेड़ और बकरी की तरह पैदा होकर कटने के लिए नहीं।"

एकादशी धोती से सिर ढककर रो पड़ी और मौलश्री ने कह दिया—"अब मैं तुमसे इस विषय में कभी कुछ न कहूँगी लाला, पर तुम्हें भी मेरी शपथ है, अपने आपको कभी मत कोसना। भगवान् करे, तुम्हारी बहुत बड़ी उमर हो सौ वर्ष से भी ज़्यादा।..."

तब आँसू पोंछते हुए एकादशी बोली—"इसीलिए मैं भइया से कभी कुछ नहीं कहती। जो कहेगा, सुनती रहूँगी। जिस रास्ते ले

चलेगा, चलती जाऊँगी—बहुत कुछ कट गई, थोड़ी-सी रह गयी है, वह भी कट ही जायगी।"

राकेश अपनी बात कठोरता से कह तो गया, पर अब उसको दुःख हो उठा। और तब जिस हाथ से वह खाना खा रहा था, उसी हाथ से एकादशी और मौलश्री के चरणों को छूकर बोल उठा—"जिसको ऐसे वरदानी चरणों का आशीर्वाद प्राप्त हो, उसको कभी कोई संकट हो ही नहीं सकता। तुम देख लेना अम्मा ! एक दिन मैं बहुत बड़ा आदमी बन जाऊँगा। उस समय तुमको मेरी यही बातें बार-बार याद आयेंगी।... लेकिन सारी मुश्किल तो यह है कि जब मोटर या हाथी पर बैठाकर लाखों की भीड़ में मेरी शोभा-यात्रा निकाली जायेगी, तब अम्मा तुम तो हो जाओगी नब्बे बरस की। तुमसे चला भी न जायगा। झट से दौड़कर जलूस देखने जाओगी कैसे ? और जबतक तुम मेरा यह रूप देख नहीं पाओगी, तबतक मेरी आत्मा को सन्तोष न होगा।"

उसका इतना कहना था कि एकादशी की आँखों में पुनः आनन्दाश्रु आ गये और मौलश्री बोली—"मैं इसी छज्जे से फूलों का गजरा तुम्हारी गाड़ी पर इतना ताककर फेंकूँगी कि वह एकदम तुम्हारे गले में जा पड़ेगा !"

मौलश्री का इतना कहना था कि एकादशी पुलकित होकर हँस पड़ी और राकेश ने पुनः मौलश्री के चरण छूते हुए कह दिया—"भगवान् ऐसा ही करेगा भाभी ! तुम देख लेना !"



: ४ :

दिन के आठ बजे थे। आँगन में धूप छिटकी हुई थी। गौरैया का एक जोड़ा जँगले पर आकर बैठ गया। राकेश कुर्सी पर बैठा हुआ अपने अध्ययन के दर्शन-ग्रन्थ के एक पृष्ठ पर हाथ रखे हुए जो उस जँगले की ओर देखने लगा, तो उसी क्षण गौरैया-पक्षी के नर ने फुदक-कर मादा के पंख पर चोंच मार दी। परिणाम यह हुआ कि पहले मादा उड़ गयी, फिर उसका अनुसरण करता हुआ नर-पक्षी। इस दृश्य से राकेश इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि नर आघात पहले करता है। अर्थात् अरूप रूप की अपेक्षा कुछ अधिक चंचल है; अधिक कर्मशील।

जिस समय राकेश इस प्रकार विचारमग्न था, उसी समय एकादशी ने कह दिया—"बेटा, तुम अभी तक तैयार नहीं हुए। तुम्हें पता नहीं, आज अभी थोड़ी देर में ही तुमको वसन्त के साथ कहीं जाना है।"

"कहीं जाना है! कहाँ जाना है? मुझसे तो कहीं जाने के लिये कहा नहीं!"

"तुमसे न कहा होगा, पर मुझसे कहा है।···पानी गरम हो गया है, झट से नहा तो डालो।"

राकेश का स्वभाव था कि वह किसी आदेश अथवा अनुरोध को एक तो अस्वीकार करना न जानता था; दूसरे, जहाँ तक उसका वश चलता, स्वीकृत कार्य को वह तत्काल ही कर डालना चाहता था। अपनी इस प्रकृति के कारण उसे कभी-कभी पीड़ा भी पहुँची है और पश्चात्ताप भी हुआ है। उसके मन की जो अतल गहराई है, वह उत्तरंग हो उठी है; निष्कर्षों और संकल्पों ने करवँट बदल ली है। सुदूरवर्ती पुराने और

सँजोये हुए सपने करवँट बदलते-बदलते जाग उठे हैं। उनींदी कामनाओं के पंख फड़फड़ाने लगे हैं; और वह भावनालीन होकर कभी-कभी आविष्ट भी हो उठा है।

जब-जब ऐसा अवसर आया है कि उसे किसी काम के लिए तत्काल तत्पर हो जाना पड़ा है, तब-तब उस कार्य के मर्म और अभिप्राय को लेकर उसने कोई प्रश्न नहीं किया है। चुपचाप मुँह मूँदकर उसे कर ही डाला है। आज भी उसे कुछ पूछना नहीं चाहिये। यद्यपि वह अनुभव करता है कि भैया ने मुझे बताया क्यों नहीं कि जाना कहाँ है? और मुझे साथ ले जाने का उद्देश्य क्या है? फिर नहा-धोकर, कपड़े पहनकर वह जब वसन्त के पास जा खड़ा हुआ तो नित्य की वेश-भूषा में देखते ही वसन्त बोल उठा—"इसी तरह चलोगे?"

"क्यों? जिस तरह नित्य रहता हूँ, मैं उस तरह चलने में कोई अमर्यादा की बात नहीं देखता।"

"तुम नहीं देखते, लेकिन मुझे देखना पड़ता है। तुमको भले ही इस बात का ध्यान न रहे कि मैं तुम्हारा बड़ा भाई हूँ (जो समाज में एक मर्यादा रखता है) लेकिन मुझे तो रखना पड़ता है। मैं इस बात को कैसे भूल सकता हूँ कि तुम मेरे भाई हो, जिससे मैं कुछ आशा रखता हूँ। जाओ, धुले हुए कपड़े बदलकर आओ।"

राकेश की बिलकुल इच्छा न थी कि तैयार हो जाने के बाद अब वह कपड़े बदले; पर भाई की बात का मान रखने के लिए वह कपड़े बदलने लौट गया। वैसे शोध-छात्र होने के नाते साधारण रूप से वह पैंट पहनता रहता था। उस समय भी वह पैंट पहने हुए था। किन्तु जब वसन्त ने वस्त्र बदलने के लिए कह दिया, तो वह धोती-कुरता, सदरी, चप्पल और गांधी-कैप धारणकर आ पहुँचा। वसन्त उसे इस वेशभूषा में एक बार देखकर प्रसन्न हो उठा। अभी छः महीना पूर्व ख़रीदी हुई एकसौ अस्सी रुपये की रिस्टवाच उतारकर उसने राकेश को

दे दी और कह दिया—"तुम्हारे पास घड़ी नहीं है, यह अभाव मैं कई महीनों से अनुभव कर रहा था। इसे अब तुम सदा के लिए बाँध लो।"

राकेश के मन पर गौरैया-पक्षी का चंचुस्पर्श जैसे चित्रित हो उठा। 'जाह्नवी की पावन धारा में जब कालिन्दी की प्रथम धार मिली होगी, तब उसको कैसा लगा होगा भला? फिर पुष्पवाटिका में जब दुष्यन्त ने शकुन्तला को देखा होगा, तब क्या उसके हृदय-प्रदेश में बैठ कर किसी गौरैया ने चोंच नहीं मारी होगी? हूँ···हूँ। मुझे मालूम ही न हो सका, कि अब मेरे लिए शृंगार की आवश्यकता हो गयी है! माना कि घड़ी की ज़रूरत थी, लेकिन इतनी कीमती घड़ी बाँधे बिना भी मेरा काम चल ही रहा था।

सीढ़ियों से उतरकर राकेश सड़क पर आ गया। नील गगन पर कहीं-कहीं बादल का टुकड़ा उड़ता हुआ कुछ कहता-सा जान पड़ा। फिर एक-दो, दस-बीस, क़दम वह वसन्त के पीछे-पीछे लगा रहा। एक बस आई। फिर विपरीत दिशा से एक ट्रक आता-आता धीमा पड़ गया। रिक्शा उससे टकराते-टकराते बचा और मूँगफलीवाला तो नाली में गिर ही पड़ा! भुने हुए आलू, शकरकन्द, हरीधनियावाला नमक का खुला टिन, दिन-भर के पैसे, एक-एक क्षण की प्रतीक्षा, लालच और सायंकाल ही क्यों, रात के नौ-दस बजे तक की कमाई और गन्दी नाली का बहता पानी! राकेश के मन में आया—भैया से कह दूँ—'अब मुझे कहीं नहीं जाना है। मुझे यह खादी की वेश-भूषा काटती है। वह मेरे लोम-लोम को सुलगा उठती है। सवाल यह है कि मैं यह सब दृश्य अपनी आँखों से देखता हूँ और देखता रहता हूँ। आख़िर क्यों? क्या मुझमें मनुष्यत्व नहीं है? अगर जीवन के इस घृणित अंग पर मेरे मन में कर्म का कोई तूफ़ान, क्रान्ति की कोई विध्वंस-लीला जागृत नहीं होती, तो सारे प्रश्नों का एक ही प्रश्न है कि मैं क्यों पैदा हुआ? पैदा हुआ हूँ तो यह सब क्या देख रहा हूँ! मैं मूक और जड़ क्यों हूँ?

इतने में एक रिक्शेवाला आ गया। वसन्त ने पूछा—"रिवर-बैंक-कालोनी ?"

"बारह आना।"

"न, आठ आने।"

"एतना से कम ना लेब।"

"ठीक-ठीक बोलो।"

"रउवा खातिर ग्यारह आना में चल-चलब।"

"पैसे छः आने मिलेंगे।"

"ना बाबू।"

इतना कहकर रिक्शेवाले ने पैडिल मारकर रिक्शा आगे बढ़ा दिया।

तभी वसन्त बोल उठा—"अरे तो सात आने ले लो।"

उसने कोई उत्तर नहीं दिया और रिक्शा आगे बढ़ गया।

वसन्त ने कह दिया—"अच्छा, आठ आने ले लो।"

"तीन दिन से हमरा पगुनों में दर्द होता; माई महीना दिन से बेरामबाड़ी। पइसा बिनु दवाई नइखी कर सकत। बड़का बाबूजी के आंख से नइखे दिखत। एक रउवा लोगन बानी!" इस कथन के साथ वह आगे बढ़ गया, तो दूसरा रिक्शा आ गया।

वसन्त बोला—"ठहरो! रिवर-बैंक-कालोनी ?"

रिक्शेवाले ने उत्तर दिया—"चौदह आने होंगे।"

वसन्त को कहना पड़ा—"दस आने में चलना हो, तो चलो।"

"बारह आने पड़ेंगे, तबीअत हो तो बैठिये।"

"अच्छा, चलो बारह आने सही।"

वसन्त बैठने जा ही रहा था कि राकेश बोल उठा—"मेरे पेट में दर्द हो रहा है भैया! आज अब कहीं जाना न होगा। आप ही चले जाइये।"

"पेट में दर्द हो रहा है ! तब तो बड़ा गड़बड़ होगा। तुमको पता नहीं, मैं तुम्हें कितने आवश्यक काम से साथ लिये जा रहा हूँ।"

"लेकिन दर्द तो किसी की आवश्यकता नहीं देखता भैया।"

"तुम चलो, चलो रिक्शेवाले। पहले मैं डाक्टर के यहाँ दवा दिलवा दूँ। दर्द बन्द हो जाने पर ही चले चलना।"

"नहीं भैया, मैं अब यहाँ से सीधे घर जाऊँगा।"

"गड़बड़ मत करो राकेश। कहा मानो ; तुम्हें पता नहीं, यह हमारे भविष्य निर्माण का प्रश्न है।"

"लेकिन भैया, दर्द के साथ कैसा भविष्य और कैसा निर्माण ! यह प्रश्न तो सबके साथ है। उस पहले रिक्शेवाले ने क्या गुनाह किया था ? बारह आने पैसे उसके लिए अधिक थे और इसके लिए उचित हैं ?

रिक्शा चला जा रहा था।

"ठहरो रिक्शेवाले।" राकेश के मुँह से निकल गया—"मैं मनुष्य हूँ और मानवता की पुकार को सुन सकता हूँ।"

"ओः ! अब मैं समझा। दर्द पेट में नहीं, दिमाग़ में है। अब तक मैं तुम्हें बहुत भोला समझता था। लेकिन आज मुझे मालूम हुआ कि तुम भोले नहीं, मेरे प्रति एक विरोधी भावना रखते हो। तुम्हें पता होना चाहिए कि तुम्हारी अबतक की शिक्षा में मेरा कितना अधिक रुपया ख़र्च हुआ है। और आज जब हमको अपनी गृहस्थी का ढाँचा बदलने और आगे बढ़ने की आवश्यकता है, तब तुम यह विरोध का स्वर प्रकट करके मेरी सारी कल्पनाओं और आशाओं को धूल में मिला देने को तत्पर हो। मैंने तुम्हारे सम्बन्ध में ऐसा कभी नहीं सोचा था।"

"आप सब कुछ ठीक कह रहे हैं। मैं ही मूर्ख हूँ ! मुझे कुछ दिखाई थोड़े दे रहा है !"

"मैं सब समझ रहा हूँ।"

"तो ऐसा कीजिये कि मुझे अलग कर दीजिये। मेरी शिक्षा में जो

ख़र्चा आपने किया है उसे जोड़कर स्टैम्प-पेपर पर रुक्का लिखवा लीजिये।"

राकेश का कंठ भर आया। आँसुओं से आँखें, पलक और बरौनियाँ भीग गईं। बोला—"भैया! मैंने तुम्हारे सम्बन्ध में ऐसा कभी नहीं सोचा था। अगर मैं ग़लती पर होऊँ, तो मेरे मुँह पर थप्पड़ मार दीजिये। लेकिन आपके प्रति मेरे मन में जो श्रद्धा है, उस पर लात मत मारिये।"

"तुम बड़े भावुक हो राकेश! और भावुकता आज के जीवन के लिए रोग है।"

"और जन-जीवन के प्रति मानवता की माँग को भी आप रोग कहेंगे!"

"राकेश तुम मुझसे बहस मत करो।"

"रिक्शा चला जा रहा था और राकेश चुप था। वसन्त फिर बोलने लगा—"मुझे पता है कि हमारा देश कितना ग़रीब है! जीवन के दैन्य को तुम्हारी अपेक्षा मैं अधिक जानता हूँ। किन्तु व्यक्तिवादी सहानुभूति का युग चला गया। सहानुभूति आज सामूहिक हो गयी है। एक आदमी अगर अपना घर-द्वार भी बेच डाले, तो किसी आदमी का भरण-पोषण जीवन-भर कर नहीं सकता।"

"भैया मेरा मुँह मत खुलवाओ। जबतक हम सामूहिक रूप से कुछ नहीं करते, तबतक व्यक्ति-रूप में जो कुछ कर सकते हैं उससे मुँह मोड़ने का यह बहाना बड़ा हसीन है।"

"राकेश तुम्हारा दिमाग खराब हो गया है!"

"जिन लोगों के सामने कोई तर्क नहीं होता, वे गाली दे बैठते हैं और कभी-कभी तो अपमान करने से भी बाज़ नहीं आते। फिर वही बात दोहरानी पड़ती है मुझे! अपना अपमान तो मैं सह सकता हूँ, लेकिन आपके प्रति जो मेरे मन में श्रद्धा है उसका अपमान मुझसे नहीं

सहा जायगा। आपको पता होना चाहिये कि मैं आपको देवता समझता था।" इतना कहते-कहते राकेश फिर रो पड़ा।

अब वसन्त चुप हो गया।

रिक्शा चला जा रहा था।

प्रातःकाल के नौ बज रहे थे। कैलाश बाबू का नाश्ता समाप्त हो चुका था। दो प्रौढ़जन कुर्सियों पर बैठे हुए उनसे बातें करने में लीन थे। उनमें से एक के हाथ में पान था; दूसरे सिगरेट फूँक रहे थे। कैलाश बाबू के सामने लाल फीते की दूसरी फ़ाइल थी और उसे खोलते हुए वे कह रहे थे—"खेद है कि मैं आपके लिए कुछ नहीं कर सकता। मेरे अन्दर मानवीय सहानुभूति की कमी नहीं है; लेकिन हमारी भी एक ज़िम्मेदारी है।"

वसन्त कमरे के बाहर खड़ा हुआ अरदली की प्रतीक्षा कर रहा था और राकेश भीतर हो रही बातों के मर्म को हृदयंगम करने में लीन था।

इतने में सिगरेट पीनेवाले व्यक्ति ने कह दिया--"ताऊजी, ज़िम्मेदारी तो सबकी होती है। मैं जिस आशा को लेकर आपके पास आया था, वह भी अपनी एक ज़िम्मेदारी रखती है। क्योंकि ऐसा तो है नहीं कि दुनिया में अब नाते-रिश्ते वाले सम्बन्ध अपना कोई मूल्य न रखते हों! और ऐसा भी नहीं है कि अधिकार की कुर्सी पर बैठे हुए आदमी सब दूध ही के धुले हुए हों! न्याय बहुत बड़ी चीज़ है। कौन नहीं जानता! लेकिन एक दृष्टिकोण ही तो है कि कल्पित न्याय के नाम पर हम प्रायः अन्याय करते रहते हैं। और साहब यह क्या चीज हुई कि आपके साथ यदि हमारा कोई नाता है तो इसी कारण आप मुझे सहयोग से वंचित कर देंगे। ग़बन किसी ने किया है, धोखा किसी ने दिया है; और दंड हमारा लड़का भोग रहा है!"

राकेश सोचने लगा कि एक दृष्टिकोण ही तो है कि स्वार्थ-बुद्धि से प्रेरित होकर आदमी नातों-रिश्तों का सहारा ढूँढता है !

इतने में राकेश ने सुना—"देखिए रामप्रकाशजी ! आपको जो कुछ कहना था, कह चुके। और मुझको जो कुछ कहना था, उसे मैंने भी आपके सामने प्रकट कर दिया। दूसरा कोई होता तो मैं इस विषय में बात भी न करता। इसलिए अब आपको और अधिक कुछ कहने की ज़रूरत नहीं है। आप घर के अन्दर जाइये और खाना खाकर आराम कीजिये। मगर अब यहाँ से तशरीफ़ ले जाइये। वैसे आप मेरे मेहमान हैं, पर आपको इस भ्रम में न रहना चाहिए कि आपकी तरह मैं भी सरकार का मेहमान हूँ। समझ गये ?"

"जी, ताऊजी।"

"तो अब तुम जा सकते हो। और बाबू राधारमन आप बहुत देर से आये। आपके सम्बन्ध के काग़ज़ पर मैं अपना नोट भेज चुका हूँ। मुझे क़तई कुछ मालूम नहीं था। काग़ज़ ने अपनी लिपि और अक्षरों के द्वारा मुझसे जो कुछ कहा उसी के अनुसार मैंने अपना निर्णय दे दिया। अब उसमें कोई परिवर्तन सम्भव नहीं है। क्योंकि अब उस फ़ाइल के मेरे पास लौटने की कोई सम्भावना नहीं रह गयी।"

"फूफाजी, बात यह है कि फ़ाइल अभी आपके दफ़्तर ही में होगी। अभी आगे वह किसी तरह बढ़ न सकी होगी। अगर आपको कोई आपत्ति न हो, तो अब भी वह लौटकर पुनः आपके पास आ सकती है।"

"आपको और कुछ कहना है ?"

"नहीं फूफाजी। बस मुझे इतना ही कहना था।"

"तो भतीजेराम आप तशरीफ़ ले जाइये। फिर कभी इस बँगले के अन्दर क़दम न रखियेगा।"

वसन्त के कानों में सन्-सन्-सी आवाज़ आरही थी। प्रदर्शनी में आकाशगामी रहट जब तीव्रगति से चलता है, तो उसके नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे अत्यन्त तीव्रगति से उठने और गिरने में जैसा कुछ

अनोखा, अकल्पित और अनभ्यस्त बोध होता है, वैसा ही कुछ तीखा और कड़ुवा उसे प्रतीत हुआ।

राकेश सोचने लगा—एक प्रशासन-अधिकारी के नाते कैलाश बाबू वास्तव में सफल व्यक्ति हैं।

इतने में भीतर बैठे दोनों व्यक्ति बाहर निकलने लगे। वसन्त ने अर्दली को सामने देखते ही अपना कार्ड दे दिया।

इतने में अर्दली जब भीतर पहुँचा तो कला कैलाश बाबू के पास खड़ी हुई कह रही थी—"पापा! पापा! लीजिये आप तो सुन ही नहीं रहे हैं!"

आँखों को चश्मे की सीमा से ऊपर लेजाकर कैलाश बाबू ने कह दिया—"क्या है बेटी?" और चिट देखकर अर्दली से बोल उठे—"ले आओ उनको।"

कला बोली—"पापा, गाड़ी तो बनकर आयी नहीं अभी। और हमें आज प्रदर्शनी देखने जाना है। तुम मेरे लिए इतना भी नहीं कर सकते कि शाम को अपने मित्र माथुर साहब की गाड़ी मँगवा देते। ताँगे पर जाते हुए परिचित लोग क्या कहेंगे? यही ज़रा-सा ख़याल होता है। वरना कोई बात न थी।

इतने । वसन्त राकेश को लेकर अन्दर जा पहुँचा। और कैलाश बाबू ने थोड़ा मुस्कराते हुए कह दिया—"अच्छा जा, मैं प्रबन्ध कर दूँगा।"



: ५ :

वसन्त इच्छाओं की करवट के लिए अपने समाज में बदनाम था। वह निरन्तर ऐसे स्वप्न देखता रहता, जो मादक, उनींदे और स्वच्छन्द होते थे। ऐसे क्षणों में वह अपनी मान्यताएँ भूल जाता था। आत्मविश्वास और आस्था की पगडंडियाँ भूल जाता था। भावी जीवन के संकल्प भूल जाता। उसकी प्रतिज्ञाएँ अस्त-व्यस्त, छिन्न-भिन्न हो उठती थीं। सामाजिक व्यवस्था, एक दृढ़ बन्धन बनकर उसकी देह को काटने लगतीं। भावी जीवन का निखिल संकल्प विस्तार संकुचित हो-होकर क्षणस्थायी कामनाओं पर केन्द्रित हो उठता।

कई दिनों तक वह सोचता रहा—'कला ने कहा था कि आप भूल तो न जाइयेगा ?' फिर उसे याद हो आया—'धृष्टता उत्साह की वाणी, हृदय की रागिणी और आत्मिक सारल्य की अविकल अभिव्यक्ति है।' प्रायः मन-ही-मन वह इस कथन की व्याख्या करता रहता। समीक्षा में अपनी मान्यताओं के कथोपकथन सोचता हुआ कहता रहता—'धृष्टता वास्तव में उत्साह की वाणी है। किन्तु वह शिष्टता के लिए एक व्यतिरेक भी तो है। माना कि वह हृदय की रागिनी भी है ; किन्तु अव्यवस्थित कामनाओं का अतिरंजन भी तो है। और आत्मिक सारल्य माना कि दर्पण में प्रतिबिंबित यथार्थ अवलोकन है, किन्तु अविकल अभिव्यक्ति तो सर्वथा प्रकृति का धर्म है। आवरणहीन और नग्न। तो धृष्टता केवल शिष्टाचार का अनुलंघन नहीं, सभ्यता के लिए भी एक अवांछनीय पदक्षेप है। आज की संस्कृति के लिए एक अभिशाप !

फिर सब उलट-पलट जाता। एक निःश्वास !—'ओ उत्साह की

मनोमर्म वाणी ! तुम मेरे लिए अवांछनीय हो । हृदय की रागिणी, तुम नकारात्मक भविष्य हो ! आत्मिक सारल्य, तुम जहाँ-के-तहाँ बैठे रहो। उठने की अपेक्षा नहीं, आगे बढ़ने के लिए गति नहीं। अविकल अभिव्यक्ति, तुम प्रकृति की प्रतिलिपि हो, विवाद-ग्रस्त और चिन्त्य ; क्योंकि तुम निरावरण हो, बर्बर, अमानवी और वन्य।

तब वह भावनाओं के ऐसे भयंकर घटाटोप में पड़ गया कि दूसरे दिन जब घर से निकलने लगा, तो अपनी वह कविता-पुस्तक ही घर पर भूल गया जिसे कला को देने का वचन दे आया था। सुदूर राज-पथ पर चलते-चलते सहसा उसे ध्यान आया—'अरे ! कविता-संग्रह तो भूल ही आया। सचमुच कला ठीक ही कहती थी—कवि भुलक्कड़ होते हैं।'

वह तुरन्त लौट पड़ा और रास्ते-भर अपने को कोसता रहा—"यह भावना भी बड़ी प्रमदा होती है। जब लोग कहते हैं सूक्ष्म होती है। मुझे तो तितली जैसी चंचल जान पड़ती है। सूक्ष्म और चंचल ! लोग कहते हैं स्थिर होती है। कुछ ठीक नहीं कि कब जग पड़े। सोती भी है और जागती भी है। जाग-जागकर सो जाती है। सोती-सोती उठकर उनींदी आँखें तिलमिलाने लगती है—'चलो हटो, बड़े आये कहीं के मुझे असमय जगानेवाले !'

फिर अपने प्रति ही क्षुब्ध हो उठा। यह आजकल मुझको क्या हो गया है ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि चेतना में कोई विक्षेप आ गया हो ? यह मैं अपने तत्कालीन कर्तव्य को, वचन और कर्म की विधा को बार-बार भूल क्यों जाता हूँ ? सुधियों के आँगन में पग धरते-धरते बेसुध क्यों हो जाता हूँ ? कला ने कहा था······ ।'

धीरे-धीरे जब वह घर में पहुँचा, तो मौलश्री अध्ययन-कक्ष के द्वार पर मिली। पान चबाती, तर्जनी में लगे कत्थे के दाग़ को कपाट के किनारे पोंछती हुई बोली—"लौट क्यों आये ?"

"पुस्तक भूल गया था।"—टेबिल पर से उसने पुस्तक उठाते हुए कहा।

तब मौलश्री हँस पड़ी। बोली—"भूलों के देवता ! इसी तरह तुम कभी-कभी मुझे भी भूल जाते होगे।"

"तुम पगली हो मौलश्री। इतना भी नहीं जानतीं कि भूल करते समय भी हम यह कभी नहीं भूल पाते कि हम किसको भूल रहे हैं।"

"फिर भी भूल करते जाते हैं !"

"क्योंकि अपने को ही भूल जाते हैं। जबकि वास्तव में आदमी अपने शरीर और उसके धर्म, मन और उसके संस्कार, संस्कृति और उसके विधान को कभी नहीं भूल पाता। क्योंकि उसके ऊपर भविष्य और उससे भी बढ़कर काल का अंकुश रहता है।···मगर मुझे देर हो रही है मौलश्री। शेष फिर।"

इसके बाद वसन्त चला आया था। राज-पथ पर आकर उसने देखा था—स्त्री-पुरुषों को एक बहुत बड़ी भीड़ गोमती-स्नान को बढ़ी चली जा रही है। नन्हें-नन्हे शिशु माताओं की गोद में हैं। कोई वक्ष से चिपके हुए, कोई कन्धे से लगे नन्हीं तर्जनी उठाकर संकेत को प्रश्न बनाते हुए। कोई पिता या पितामह के हाथ में अँगुलियाँ दिए हुए। स्वर उठते थे—'चले आओ मुन्ना।' एक जगह उसने देखा—बाल-छौना दोनों हाथ उठाकर कह रहा है—'ऊँ···कनियाँ ले लो।'

वसन्त को ध्यान हो आया, मौलश्री ने एक दिन कहा था—'अब कोई आशा नहीं रह गयी। तो ऐसा न करो, कोई लड़का ही गोद ले लो। वर्ष-छः महीने का हो। ऐसा जो बचपन से ही अपना बन जाय और वयस्क होते-होते यह बिलकुल भूल जाय कि मैं इनकी निजी संतान नहीं हूँ।

वसन्त की आँख में आँसू आ गये। फिर उसे ध्यान हो आया कि एक भूल ही तो है कि जो हमारी आकांक्षा को पोषण देती है। ओः भूल, जो एक ओर दोष है, अपराध और पाप है और दूसरी ओर है जीवन-पथ में अनिवार्य पाथेय और संबल। तो भूल भी मनुष्य के लिए अपेक्षित है।···यकायक वह हलवासिया की ओर मुड़ गया।

सामने ही एक रिक्शा खाली हो रहा था। उसकी ओर लक्ष्य कर उसने पूछा—"ऐ रिक्शेवाले। रिबर-बैंक-कालोनी ?"

"जी, बाबूजी। आठ आने।"

वसन्त चार आने कहते-कहते रुक गया।—'भैया ने कहा था—जब तक हम सामूहिक रूप से कुछ नहीं कर सकते, तबतक व्यक्ति के रूप में जो कुछ कर सकते हैं उससे मुँह मोड़ने का यह बहाना बड़ा हसीन है !'

इस समय वसन्त को एक कविता का स्मरण हो आया, जिसका आशय था—मेरे जीवन की पीड़ा का झंझावात ठीक वहीं है, जहाँ नौका तो है, किन्तु तट नहीं है। प्रवाहमयी सामने अथाह जलराशि है ; पर लक्ष्य का अन्त नहीं है। बहा चला जा रहा हूँ ; विराम नहीं है। कब पहुँचूँगा, किस दशा में पहुँचूँगा, कहाँ पहुँचूँगा कुछ ठीक नहीं। लेकिन बहते जाना ही गति है। यही तो जीवन है। इसलिए चिन्ता की क्या बात है ? पहुँचना तो है ही। और जहाँ पहुँचना है, कौन कह सकता है कि वहाँ सरिता है, समुद्र है, महासागर है—किनारा नहीं है !

फिर उसके मन में आया—'पतवार चलाये चल नाविक। कैसी स्थिरता ! और कैसा विराम !' एक क्षण में बिजली दौड़ गयी और उसके मुँह से निकल गया—"अच्छा आठ आने ही सही।" फिर उसे ध्यान हो आया—'मैंने राकेश को उत्तर दिया था—तुम्हारा दिमाग़ ख़राब होगया है। इसके बाद उसका उत्तर था—भैया, अपना अपमान तो मैं सह सकता हूँ ; लेकिन आपके प्रति मेरे मन में जो श्रद्धा है उसका अपमान मुझसे सहा नहीं जायगा। आपको पता होना चाहिए, मैं आपको देवता समझता था !'

रिक्शा जब थोड़ी देर में कैलाश बाबू के बँगले पर जा पहुँचा, तो कला गुलाब के थाल में भरे हुए पानी से सूखी पत्तियाँ और काँटेदार टहनियाँ निकालती हुई सोचती जाती थी—'सूखी पत्तियों और हिंसक काँटों में भी सौरभ रहता है। यद्यपि थोड़ा मन्द।' फिर वह उठी

श्रौर किनारे लगे हुए पाइप के छोटे से भरे हुए जल-कुण्ड में हाथ धोने लगी। पर इतने से उसे संतोष न हुआ। तब पाइप खोलकर वह अपने हाथ धोने लगी। तभी वसन्त की दृष्टि उस पर जा पड़ी। तब उन्हीं भीगे हुए हाथों को जोड़कर उसने कह दिया—"नमस्ते।" फिर थोड़ी संकुचित भी हुई और व्रीड़ा से मुस्कराती हुई बोल उठी—"अच्छा, तो आप भूले नहीं। कविता-संग्रह लेते ही आये। लेकिन क्या इसके लिए मैं आपको धन्यवाद दूँ ?"

"नहीं, उसकी कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि वह बहुधा प्रतिदान के आन्तरिक महत्व को शिथिल बना देता है।"

"किन्तु फिर तात्कालिक कृतज्ञताज्ञापन का और कोई साधन भी तो नहीं होता।"

"कला बहन, बुरा न मानो तो एक बात कहूँ। रोजमर्रा के बोल-चाल में यह किताबीभाषा तुमको बनावटी नहीं जान पड़ती !"

"आप तो कवि हैं। मैं आपसे क्या कहूँ ! प्रस्तुत विषय का स्तर जैसा ऊँचा होगा उसी के अनुरूप तो उसकी भाषा होगी। फिर यदि प्रतिपादन मे कृत्रिमता है, तो भाषा में भी हो सकती है। किन्तु सामूहिक रूप से सभी पुस्तकों की भाषा को कृत्रिम कहकर आप साहित्य का अपमान क्यों करते हैं ? पुस्तक की भाषा यदि जीवन की भाषा नहीं है, तो वह जीवन की पुस्तक भी नहीं है।"

वसंत ने उत्तर दिया—"शायद तुम मेरी ही बात कह रही हो। लो, यह कविता-संग्रह। पापा हैं कि नहीं ?"

"अभी अभी गये हैं, गोमती-स्नान के लिए।"

"और तुम नहीं गयीं उनके साथ ?"

कला कुछ संकुचित हो उठी। उसे अपनी वेश-भूषा का स्मरण हो आया, जो उसने अब तक जानबूझकर बदली नहीं थी। क्योंकि वह प्रायः देर से स्नान करती थी। फिर वह आज गोमती-स्नान को क्यों नहीं गयी जबकि पर्व का दिन है, माघी अमावस का। इस प्रसंग के मर्म

को प्रच्छन्न रखती हुई बोली—"आज रात में मुझे कई बार ऐसी खाँसी आयी थी कि पापा की नींद टूट गयी थी। इसलिए उन्होंने मुझे गोमती-स्नान की अनुमति नहीं दी।…ओः ! हम यहीं खड़े-खड़े बात करने लगे। आइये भीतर बैठकर बातें करें।"

वसंत ने उत्तर दिया—"पापा घर में नहीं हैं…।"

"हूँ…हूँ…।…तो क्या हुआ, तो क्या हुआ ?"

"फिर भी मुझे अच्छा नहीं लगता।"

"क्योंकि संकोच है—क्योंकि बनावट है।"

"नहीं कला, बनावट की बात नहीं संकोच सभ्यता और शिष्टाचार का ही एक ढंग है।"

"हो सकता है। लेकिन सदा नहीं और न सबके साथ ही।"

"आइये, आइये। कम-से-कम एक कप चाय तो पीते जाइये।"

"नहीं, मैं बहुत 'हैवी' टी लेकर आ रहा हूँ।"

"अच्छा तो काफ़ी पीजिये। काफ़ी तो आपको अच्छी लगती होगी। प्रिय होगी—मेरा मतलब है।"

"नहीं, नहीं ; अब चलूँगा।"

"देखिये भाई साहब, बुरा न मानियेगा। आप मेरी बनाई हुई काफ़ी पिये बिना चले जायँगे, तो आप समझते हैं, मुझे अच्छा लगेगा ? अगर यही बात मुझे दिन में कई बार स्मरण आये कि आपने मेरा आतिथेय स्वीकार नहीं किया, तो ?"

"तो यही समझ लीजिएगा कि मैं एक असभ्य व्यक्ति हूँ।"

कला की रसना दन्त-मुक्ताओं के नीचे आ गयी और उसने कह दिया —"राम-राम ! किसी कवि को असभ्य समझने में मैं अपने स्तर सभ्यता, शील, सौजन्य से गिर न जाऊँगी ! आप मुझे इतना भोला समझते हैं ?"

हाथ जोड़कर उत्साहित वसंत ने उत्तर दिया—"चलिये चलिये। अब तो मुझे काफ़ी पीनी ही पड़ेगी।"

"थोड़ी देर बाद कला ने जब वसंत के लिए ट्रे में काफ़ी और साथ में नमकीन काजू और मठरी भेज दीं, तो वसंत आत्मगत होकर सोचने लगा—'अभी थोड़ी देर पहले मौलश्री ने कहा था—फिर भी भूल करते जाते हैं।'

एक मिनट, दो मिनट, दस मिनट। कला जो स्नान करके अभिनव वेश-भूषा में लौटी तो हँसती-हँसती बोल उठी—"ओः! मुझसे बड़ी ग़लती हो गयी। काफ़ी तो ठण्डी पड़ गयी होगी। स्नान करने में थोड़ी देर लग ही गयी। और एक आप हैं कि मेरी अनुपस्थिति में काफ़ी को छुआ तक नहीं!"

"मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करता रहा कला।"

"हाँ...हाँ...वही तो, वही तो। आपको मेरी प्रतीक्षा करनी पड़ गयी न? तो लाइये। मैं फिर से बनवाये देती हूँ।"

जब वह काफ़ी के पॉट को उठाने के लिए हाथ बढ़ाने लगी, तो वसंत ने उस पर हाथ धरते हुए कहा—"अभी तो काफ़ी गरम है। जाने दो, हम इसी को पी लेंगे।"

फिर जब कला ने पहले घूँट की चुस्की ली, तो उसने कह दिया—"मैंने आपकी बात मान ली। उसी का यह फल है कि हमको ठंडी काफ़ी पर समझौता करना पड़ गया।"

"पता नहीं, मैं सही हूँ या ग़लत। चाय की अपेक्षा काफ़ी को तो मैं कुछ कम गरम ही पसन्द करता हूँ।"

"हूँ...हूँ......। तभी आप कवि हुए, समीक्षाकार नहीं बन सके।"

"यहीं पर तुम भूल रही हो कला। कविता को हम जीवन की समीक्षा ही समझते हैं; रोटी की व्याख्या नहीं।"

"ये भी आपका सौजन्य ही है।"

"जो सौजन्य आलोचना की कटुता को पी नहीं सकता—भगवान् शंकर की भाँति—वह समीक्षा का धर्म भी नहीं बन सकता।"

बात करते-करते वसन्त सोचने लगा—"इस समय अगर कैलाशबाबू आ जायँ, तो उनको कला का मेरे पास बैठकर स्वतंत्रतापूर्वक बात करना कभी पसन्द न आयेगा। यह भी हो सकता है कि वे मेरे सम्बन्ध में कोई भ्रान्त धारणा बना लें। अतएव उसने कह दिया—"अब मैं चलूँगा।"

इतने में कला ने कह दिया—"आपने यह कविता-संग्रह मुझे सदा के लिए दिया है, या सिर्फ़ पढ़ने के लिए ?"

"मैंने इसको पुनः वापस पाने के इरादे से नहीं दिया। यह तो मेरी भेंट है।"

"हूँ···हूँ। तब तो इसको अपने हस्ताक्षर के साथ मुझे देना चाहिये। इस तरह तो कोई भी अपना नाम अपने हाथ से लिख लेगा और कहेगा मेरी है।"

वसन्त ने पुस्तक ले ली और फ़ाउन्टेनपेन जेब से निकाल उसके अन्दरवाले पहले कोरे पृष्ठ पर लिख दिया—'प्रिय कला को।' और उसके बाद हस्ताक्षर कर दिया।

कला ने एक बार इन अक्षरों को देखा और फिर वसन्त को, कुछ कहा नहीं। पुस्तक बन्द करके वहीं टेबिल पर रख ली और कहा—"अब आप कब आयेंगे ?"

इतने में माली आकर बोल उठा—"रानी बिटिया, तुमको माँजी बुला रही हैं।"

कला उठकर खड़ी हो गयी। इसके पहले कि कला चल दे, वसन्त ने कह दिया—"हो सका तो कल, नहीं तो परसों अवश्य।"

चलते-चलते कला बोल उठी—"आपने सिर्फ काफ़ी ही पी। सो भी मेरे अनेक बार के अनुरोध से। काजू शायद एक-आध ही खाया। अभी मुझको आपकी रुचियों का कुछ ज्ञान नहीं है।······दो-चार बार साथ बैठने-उठने में थोड़ा-बहुत ज्ञान हो जायगा। संभव है तब आपका कुछ सत्कार कर सकूँ। आज के दिन अगर कोई कमी रह भी गयी हो, तो आशा है, आप उस पर ध्यान नहीं देंगे।"

तब सहसा वसन्त के मुँह से निकल गया—"ऐसी कोई बात नहीं है कला। हम भी इसी संसार के प्राणी हैं। अपनापन छिपा नहीं रहता।"

वसन्त का इतना कहना था कि कला गम्भीर हो उठी और तपाक से "अच्छा नमस्ते" कहती हुई अन्दर चल दी।

वसन्त बैठक के बाहर पदक्षेप करता हुआ सोचने लगा—"मुझसे कोई ग़लती तो नहीं हो गयी। मेरे मुँह से ऐसा कोई शब्द तो नहीं निकल गया, कला ने जिसका कोई अन्यथा अर्थ लगा लिया हो।

वह विचार में पड़ गया—एक सरिता है, जिसमें हम सब बहे जा रहे हैं निरुपाय, विवश। कुछ नहीं जानते, कहाँ पहुँचेंगे। कगार फट रहे हैं। पेड़, पौदे, फ़सल, डालें, टहनियाँ, बौर, फूल, स्त्री-पुरुष, बच्चे-वृद्ध, पशु, खाट, छप्पर, भूसा-घास, कपड़े-लत्ते घर का सारा सामान!

फाटक पर आते-आते उसने अपना सिर थाम लिया। मौलश्री ने कहा था—"फिर भी हम भूलें करते जाते हैं!"

कैलाश बाबू के पास पहुँचकर वसन्त ने पहले दूर से ही हाथ जोड़ लिये, फिर निकट जाकर उनके चरण छू लिये। राकेश ने भी वसन्त का अनुकरण किया। दोनों तख्त के आगे पड़ी कुर्सियों पर बैठ गये।

कैलाश बाबू ने पूछा—"कल तुम आये थे, मुझे कला ने बतलाया था।"

"आया था पापा। आप गोमती-स्नान करने चले गये थे।"

"हाँ, कला बतला रही थी कि थोड़ी देर ही रुके थे। और शाम को तो वह तुम्हारी कविता पढ़-पढ़कर बड़ी प्रसन्न हो रही थी; बल्कि तुम्हारी प्रशंसा भी कर रही थी।"

"सब आपका आशीर्वाद है पापाजी। जो बात मेरी समझ में नहीं

आती उसके सम्बन्ध में मैं एक शब्द लिखना पसन्द नहीं करता। पर यह संसार मुझको जिस तरह से स्पर्श करता, आशा देता, झुलाता, निराशा करता, लटकाता और रुलाता रहता है, उस सबका, अपनी वास्तविक अनुभूतियों के साथ, निदर्शन मैं अवश्य करता हूँ। जीवन की जो थोड़ी-बहुत उपलब्धियाँ हैं, राजपथ और पगडंडियों के ऊँचे-नीचे-बीहड़ मार्ग पर चलते-चलते कंकड़-पत्थर, कंटक, धूल, बवंडर, प्रकाश-छाया, तमिस्रा सायं-प्रातः, धूप, लू-लपट, वर्षा, सघन घन-घटाएँ, बिजलियाँ, क्रंदन, चीत्कार, अट्टहास, दैन्य-दुर्दशा, मृत्यु-श्मशान तथा अग्निशिखा! कहाँ तक गिनाऊँ; जीवन के कड़ुए-मीठे, सम्भव-असम्भव, सत्य, खंडसत्य, असत्य, स्वप्न-दुःस्वप्न देखता और अनुभव करता हूँ, उन्हें यथावत् लिख डालता हूँ। पापाजी, बहुतेरे नाते बने और बिगड़ गये। जीवन में बहुतेरे मित्र बने और फिर शत्रु बन गये। पहली भेंट में जिन्होंने आरती की थाली सजायी, बाद की परिस्थितियों में वही लोग रास्ते से लौटकर दूसरी गली से मुड़ गये। सामने हुए तो बोल उठे—'बहुत दिनों बाद मिले यार।' अगर पीठ पीछे किसी ने चर्चा कर दी, तो कहने लगे—'क्या उससे मिलें! तुम्हें पता नहीं, कितना घमंडी हो गया है!'

कैलाश बाबू मुस्कराने लगे। बोले—"मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई वसन्त कि इतने छोटे जीवन में तुमने संसार को थोड़ा-बहुत समझ लिया। लेकिन फिर किया भी क्या जाय! आजकल तो अनास्थावाद का युग चल रहा है। कौन किसका है, कुछ समझ में ही नहीं आता। अभी जो मेरे दूर के रिश्तेदार आये थे, कुछ ऐसा मालूम हुआ कि उन्होंने मुझे बहुत ग़लत समझ लिया। अपराध करते हैं और रियायत चाहते हैं। कच्चे, अधकचरे, अशिक्षित और अयोग्य लोगों को लेकर अधिकार और पद-प्राप्ति के लिए मेरा अवांछनीय अवलंब चाहते हैं! लटकाये रहो, तो प्रसन्न रहते हैं; स्पष्ट कह दो, तो बुरा मानते हैं, झूठ बोलने से मुझे चिढ़ है। और सत्य तो कटु होता ही है। एक अजीब चक्कर है। हम सभी उसमें ऊपर-नीचे एक रहँट की भाँति झूल रहे हैं!

"अभी इस कमरे में प्रवेश करने से पहले कुछ भनक मेरे कानों में पड़ गयी, तो मुझे ऐसा जान पड़ा, जैसे कोई देवदूत बोल रहा हो। इसमें जरा भी अतिशयोक्ति आप न समझियेगा पापाजी। आज के युग में ऐसे सच्चे और तपे हुए महात्मा और मनस्वी, सामाजिक जीवन के अधिनायक और व्यवस्थापक मिलते कहाँ हैं ?"

"ऐसा तो कुछ नहीं है वसन्त। मैं भी संसार के उन्हीं क्षुद्र प्राणियों में से हूँ, जो करना बहुत कुछ चाहते हैं, लेकिन कर कुछ नहीं पाते। आज मैंने जिनको विमुख और निराश कर दिया है, वे मुझको कई दिन तक, बल्कि महीनों और समय-समय पर तो पचासों बार याद आयेंगे। बस केवल इतना संतोष बना रहता है कि मैं और कुछ कर भी तो नहीं सकता। अयोग्य लोगों को अनुचित प्रोत्साहन देता रहूँ तो भय है कि जहाँ आ पहुँचा हूँ, उससे भी पीछे लौटना पड़ जाय।"

"पापाजी बस, यही तो आपमें एक विशेष गुण है कि थोड़े ही समय बाद वह समुदाय भी, जो आपका सहारा न पाकर पहले विरोधी स्वर में बोलना शुरू कर देता है, कालान्तर आपकी प्रशंसा करने लगता है।"

"खैर, अब छोड़ो इस प्रसंग को। कोई कुछ भी कहे, हमको अपने कर्तव्य से विचलित नहीं होना चाहिये।...ये शायद तुम्हारे भाई हैं।"

"हाँ पापाजी, उस दिन मैं इसी के सम्बन्ध में आपसे कह रहा था।"

"क्या नाम है तुम्हारा ?"

राकेश ने उत्तर दिया—"राकेश बाबूजी।"

"हाँ, मुझे याद आ गया। क्या इरादे हैं तुम्हारे ?"

"बाबूजी, सपना तो बहुत बड़ा है ; लेकिन पता नहीं जिन्दगी कहाँ ले जायगी। अब तक तो बराबर सफल होता रहा हूं, भविष्य की भगवान् जाने।"

"अभी तो तुमने जीवन के मार्ग पर क़दम ही रखा है। इसलिए हो सकता है, तुम्हारे विचारों में अभी कोई स्थिरता न भी आ पायी हो।"

"नहीं बाबूजी, ऐसी कोई बात नहीं है। मैं तो अपनी चेतना के

प्रारम्भिक काल से ही आस्थावादी हूँ। संसार की हरएक वस्तु, स्थितियाँ और उपलब्धियाँ मेरे लिए स्थिर और निश्चयात्मक हैं। विचारों से डिगना और प्रतिकूल परिस्थितियों के सम्मुख आकर सिर झुकाना और फिर उनसे समझौता कर लेना, मुझे स्वीकार नहीं। संक्षेप में, मैं टूट सकता हूँ, पर झुक नहीं सकता। मैं मर सकता हूँ, पर नाक नहीं रगड़ सकता !"

"वाह ! तुम्हारे विचार मुझे पसन्द हैं, राकेश। भगवान् तुमको बड़ी उमर दे। तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल हो, यही मेरी आन्तरिक कामना है।"

"बाबूजी, बस आपके इसी आशीर्वाद को मैं चरितार्थ देखना चाहता हूँ। मैंने आपकी बड़ी प्रशंसा सुनी थी, इसलिए आपके दर्शन से मुझे प्रसन्नता तो हुई ही, आशीर्वाद पाकर बड़ा बल मिला।"

"आज तो हमारा छुट्टी का दिन है। चाय तो पीते हो न ?"

वसन्त बोल उठा—"पापाजी, हम लोग चाय पीकर ही घर से चले थे।"

"तो ऐसा करो, आज हमारे यहाँ खाना खाओ।"

कथन के साथ घंटी पर भी कैलाश बाबू का हाथ पड़ गया। अर्दली अन्दर आ गया और कैलाश बाबू मुँह पर हाथ फेरते और भी रूमाल से मुँह पोंछते हुए बोले—"जाओ, अन्दर कह दो—वसन्त और राकेश दोनों यहीं खाना खायेंगे। मगर ठहरो ! मैं खुद जाता हूँ।" और कथन के साथ वे भीतर की ओर चल दिये।

वसन्त बोल उठा—"आज मैंने परिचय करा दिया है राकेश। अब पापा के साथ तुम अपने सम्बन्ध बनाये रखना। यह ज़रूरी नहीं है कि तुम मेरे साथ ही यहाँ आओ।"

अब एक बार वसन्त के मन में आया, वह यह भी स्पष्ट कर दे कि ऐसे ऐश्वर्य और सुलभ सौख्य का जीवन प्राप्त करने पर भी कैलाश बाबू पुत्र-विहीन हैं। किंतु वह सोचने लगा—"जीवन के सम्बन्ध में बहुतेरे ज्ञान

स्वाभाविक रूप से ही होने चाहिये। ठीक समय पर, न बहुत पहले, न बहुत देर से। कुछ बातें ऐसी भी होती हैं जिन्हें कहने की आवश्यकता नहीं होती। उन्हें प्रकृति ही बतलाती और परिस्थितियाँ ही कह डालती हैं। मूक रहकर भी उपलब्धियों के माध्यम से वे अपने आप मानस में तरंगित हो उठती हैं।

इतने में कैलाश बाबू आ गये और उन्होंने कह दिया—"इस कमरे से लगा दूसरा कमरा हमारे वाचनालय का है। उसमें एक छोटा-मोटा पुस्तकालय भी है। तुम स्वतंत्रतापूर्वक उसमें बैठकर बीच का समय व्यतीत कर सकते हो। मैं तो अब कुछ देर के लिए नित्य-कर्म में लग जाऊँगा।"

तब दोनों उठकर खड़े हो गये।

आँगन में पहुँचते-पहुँचते कैलाश बाबू खड़े हो गये और बोले—

"अरे कहाँ हो कला की माँ ?"

सिर से खिसकी हुई साड़ी को माँग के सिन्दूर तक खिसकाती हुई वसुधा समक्ष आ पहुँची।

निकट बढ़ते हुए, कान के पास मुँह ले जाकर, मन्द स्वर में कैलाश बाबू बोले—"आज दो लड़के आ गये हैं। एक तो वसन्त कवि है, विवाह भी उसका हो चुका है—छोटा राकेश है उसी का भाई। दोनों के लिए खाना बनवा लेना। दही तो घर में होगा ही। हजरतगंज से अच्छी, बढ़िया क़िस्म की दो-एक मिठाई भी मँगवा लेना। राकेश की ओर ज़रा ध्यान रखने की आवश्यकता है।

वसुधा मुसकराती हुई बोली—"दोनों, कमरे में बैठे हैं क्या ? मैं किसी बहाने पहुँचकर देख आऊँ, तो कोई हरज है क्या ?"

आगे के दाँत गिर गये थे। आजकल में डेंटिस्ट ने बना देने का वादा किया था। कथन के साथ वसुधा सोचने लगी—'कल गोमती से लौटती हुई लेती आती, तो कितना अच्छा होता !'

कैलाश बाबू हँसने लगे। बोले—बुड्ढी हो गयीं, पर उतावलापन न गया तुम्हारा। प्यार से खाना खिलाते समय ख़ूब अच्छी तरह, निकट से, देख लेना। इसी समय देखने की आतुरता उनके मन में आशंका भी तो बन सकती है। पहले हम सभी बातें स्थिर कर लें, तभी कुछ प्रकट करना अधिक युक्तिसंगत होगा।"

अब तक उनका स्वर मन्द ही बना हुआ था। पर इसके आगे वे स्वाभाविक स्वर में बोले—"कला कहाँ खिसक गयी? दिखलाई नहीं पड़ती।"

इतने में अन्दर से उसका कथन आ पहुँचा—"मैं यहाँ अपनी चित्र-शाला में हूँ पापा।"

तब कैलाश बाबू उसी के कमरे की ओर बढ़ गये। चिक के भीतर पहुँचे ही थे कि कला बोल उठी—"शकुन्तला के पीछे यह जो मृगछौना है पापा, उसके नासिका-रन्ध्रों पर सूँघने की चेष्टा कुछ निखर नहीं पायी थी। आज उसी को स्पष्ट कर देना चाहती हूँ।"

हृदय में एक अपूर्व आनन्द का उद्दीपन अनुभव करते हुए कैलाश बाबू बोल उठे—"आज दो अतिथियों को मैंने भोजन के लिए निमन्त्रण दे दिया है। दोनों वाचनालय में बैठे हैं। ज़रा ध्यान रखना बेटी, कोई त्रुटि न होने पाये।"

"कौन-कौन है?" कथन के साथ कला की तूलिका थम गयी। प्रश्न उसकी उत्सुकतामयी भंगिमा पर मुद्रित हो उठा।

तब कैलाश बाबू ने कह दिया—"एक तो वही तुम्हारा परिचित कवि वसन्त है, दूसरा उसका अनुज राकेश।"

आश्चर्य के साथ कला ने पूछा—"राकेश!"

"हाँ राकेश। अच्छा, प्रतिभाशाली लड़का है।"

कला ने कुछ सोचते और अधर दबाते हुए कह दिया—"होगा!"

: ६ :

वसन्त का शरीर गोल-मटोल था। मस्तक कुछ चौड़ा और नासिका भी कुछ-कुछ चपटी थी। वर्ण न श्याम था, न गौर। वह ताम्र की-सी झलक रखता था। केश इतने सघन थे कि जब वह उनको सँवारने लगता, तब कंघे की तीलियाँ प्राय टूट जाती थीं ! खादी का कुरता-पाजामा पहनकर वह ऊपर से काली सदरी धारण कर लेता। सुगंधित रूमाल जेब से निकालकर मुँह पोंछता हुआ जब वह घर से बाहर निकलने लगता, तो नित्य ही किसी-न-किसी का उसे ध्यान आ जाता। वे स्वप्न जो कभी चरितार्थ नहीं हुए; वह कल्पना जो कभी साकार नहीं हुई; वह प्रतिमा, जो सदा पाषाण बनी रही, मानो एक छाया बनकर निकट से जाने लगती। उस समय मौलश्री का ध्यान उसके मन से उतर जाता था। प्राप्य के प्रति उसके जीवन में कोई मोह न था। वस्तुतः जो अप्राप्य और दुर्लभ था—उत्सुक, अधीर और व्याकुल—यह उसी के ध्यान और स्वप्न में रहता था। उसकी मान्यता थी कि जो कुछ भी इस जगत् में सुन्दर, अद्भुत और अलौकिक है, वह मेरा है, मैं ही उसका अधिकारी हूँ। वह यह कभी नहीं सोचता था कि दूसरों का भी अपना एक जीवन और जगत् है। उनका भी अपना एक क्षेत्र है; उनकी भी अपनी सीमाएँ और मर्यादाएँ हैं।

उसका मकान ऐसे मार्ग पर था, जिस पर कपड़ेवाले, बर्तनवाले, लकड़ी और मसालेवाले, सागभाजी, शृंगार-प्रसाधन, शीशा, कंघी, तेल-पाउडर, चूड़ी, चाट, मूँगफली और खिलौनेवाले छोटी पूँजी के व्यापारी नित्य निकलते रहते। आवश्यकतानुसार एकादशी सारी सामग्री वहीं खरीद लिया करती। वसन्त इस विषय में कभी कोई

दायित्व अनुभव न करता था। इसका परिणाम यह होता कि जो साग उसकी थाली में परोसा जाता, उसकी ओर दृष्टिपात करते-करते वह तुरन्त विग्रह कर उठता—"अम्मा, तुम रोज़-रोज़ एक ही साग बनाती रहती हो। जो दोपहर को बना था, वही इस समय शाम को भी सामने धर दिया। मैं ऐसे जीवन से ऊब गया हूँ।"

वस्तुतः एकादशी का इसमें कोई दोष न रहता था। क्योंकि खाना मौलश्री अपनी इच्छानुसार बनाती थी। पर बहू के दोष को भी वह अपने ऊपर लेकर उत्तर दे देती—"बेटा, सवेरे आलू-गोभी का बनाया था, इस समय आलू-मेंथी का बना लिया।"

"मगर आलू तो दोनों में ही शामिल रहा, नवीनता क्या हुई?"

ऐसे समय एकादशी विचार में पड़ जाती। एक अमांगलिक आशंका से उसका मन काँप-काँप उठता। वह बोल उठती—"न जाने तुमको कब समझ आयेगी बेटा। यह जो तू रोज़-रोज 'नित नयी' की पुकार मचाता रहता है, यह कोई अच्छी बात है! दुनिया में कौन चीज़ नयी है? गेहूँ खेत में डाला गया, नमी पाकर सड़ा, उसमें अंकुर फूटा, पौधा उगा और पनपा, दाना पैदा हुआ और दुनिया कहने लगी—वह नया है। लेकिन आज से हजार वर्ष पहले जो गेहूँ पैदा होता था, उसके और इस गेहूँ के रूप-रस-गंध में क्या कोई ज़मीन-आसमान का फ़रक पड़ गया?"

वसंत बोल उठता—"तुम पढ़ी-लिखी तो हो नहीं; मैं क्या समझाऊँ तुमको? 'हर सबेरा नया होता है, कुछ खबर भी है वसंत की तुमको!"

एकादशी बोल उठती—"बेटा मैं पढ़ी-लिखी नहीं हूँ, पर पढ़े-लिखों की मां तो हूँ; मैंने उन्हें जन्म तो दिया है—तुम जैसों को अपनी कोख में तो रखा है!"

ऐसे समय वसंत अपनी मां के मुख की ओर देखता हुआ अवाक् हो उठता और तब एकादशी उत्तर देती—"हर सबेरा जितना नया होता

है उतना ही नित नया स्वाद हर तरकारी या साग-भाजी का भी होता है।"

वसंत विचार में पड़ जाता। भीतर से जैसे कोई बोल उठता हो, 'शायद अम्मा ठीक कहती हैं।' दो-चार दिन तक यही क्रम चलता। अन्त में फिर वसंत का वही उलाहना फूट पड़ता—"क्या तुम भी रोज-रोज वही अरहर की दाल धुमा फिर वही कद्दू-बैंगन-आलू का साग बनाती रहती हो। तुम्हारी तबियत भी नहीं ऊबती !"

एकादशी उत्तर देती—"तो बेटा, रोज़ बतला दिया करो कि आज यह बनेगा।"

कुछ दिनों तक यह भी क्रम चला। पर एक दिन जब वसंत एक कविता लिखने की कल्पना में लीन था, उस समय कहीं मौलश्री ने कमरे के द्वार पर आकर पूछा—"आज क्या बनेगा ?"

यकायक कल्पना में आघात उपस्थित देखकर वसंत बिगड़ उठा—"आज मेरे सिर की दाल बनेगी और तुम्हारे भेजे का साग। बेवकूफ़ की बच्ची कहीं की। निकल जाओ मेरे कमरे से ! मेरी सारी कल्पना मिट्टी में मिला दी !"

मौलश्री अपना-सा मुँह लेकर चौके में चली आयी। एकादशी ने जब उसे आँसू पोंछते हुए देखा तो बोल उठी—'दुलहिन, इसमें रोने की कोई बात नहीं; यही हमारी आज की सभ्यता है। एम० ए० तक पढ़ाया किस दिन के लिए था ? तुम्हारे ससुर के सामने तो जैसा कुछ बनाकर रख देती थी, उसे ही परमात्मा की असीम कृपा मान कर और व्यंजन समझकर—उसका भोग लगा दिया करते थे। इतने पर भी कुल्ला करते करते इतना कहे बिना न मानते थे कि आज साग बढ़िया बना या दाल बड़ी स्वादिष्ट बनी है। भगवान् ने उनकी निभा भी खूब दी।"

मौलश्री अरहर और उड़द की मिलवाँ दाल बटलोई में डालती हुई सोचने लगती—'न जाने कभी-कभी इनको क्या हो जाता है··· !"

उपालम्भों का यह क्रम कभी-कभी टूट भी जाता था। जब कभी वसन्त विचार-विलीन रहता, तब वह चुपचाप खाना खाकर उठ जाता। थोड़ी देर बाद सास-बहू जब खाना खाने बैठतीं, तब प्रथम ग्रास कण्ठ-गत करती-करती एकादशी विस्मय से हँसकर कह उठतीं—"आज नमक दाल में कुछ ज़्यादा हो गया; फिर भी बड़े ने कुछ नहीं कहा। और तुम हो कि उसकी बात का बुरा मानती हो?"

समाधान के इन स्वरों से जीवन-सौख्य की मन्दाकिनी अबतक कल-कल निनादित बनी हुई थी।

खाना बनवाने में कला ने कोई भाग नहीं लिया। वसुधा ने बीच में दो बार कहा भी—"कला बेटी, एक साग तू ही बना ले।"

कला अपनी हरी साड़ी के भूमि पर फिसलते हुए अंचल को कंधे पर डालती हुई बोली—"माई आर्ट इज़ मोर इम्पारटेंट देन योर कुकिंग बिज़नेस ममी, यू सी?"

वह प्याले में पानी लेकर अपने कक्ष के अन्दर जा रही थी। तूलिका को रंगों के मिश्रण से भिगोती हुई वह जब मृगछौने के नासिका-भाग पर मन्द स्पर्श दे रही थी, तब उसके भीतर दुबककर बैठा हुआ कोई कहता जा रहा था—'उसके कालेज की एक गोष्ठी थी। पूर्वकल्पना के बिना बोलने की प्रतियोगिता में राकेश अपना प्रदर्शन दे रहा था। उस का विषय था—'अभिरुचियों का दौर।' उसको स्मरण आ रहा था—ठीक-ठीक शब्दावली क्या थी, वह सब विस्मृति के अगाध गगनांचल में खो गया है। लेकिन उसका आशय उसे अब भी स्मरण आ रहा था। 'देखिये, सबसे पहले मैं आपके शरीर की बात बताता हूँ। यह जो आपका दक्षिण कर-पल्लव है, हम सबके लिए कितना प्यारा है! एक योद्धा का हाथ है, एक सैनिक का। इसे आप कर्म का विजेता मानते

हैं। इससे आप भोजन करते हैं। इसी से आप अपना लेखन-कार्य करते हैं। आगे और ऊँचे उठने में, बालकनी पर चढ़ते हुए, रेलिंग थामते हुए यही हाथ आपका आगे बढ़ता है। रक्षा का प्रश्न हो कि न्याय-दंड का, अग्रगन्ता यही हाथ होता है। लेकिन एक बात कहूं आपसे—इसका आप कभी शृंगार नहीं करते। करते भी हैं तो क्षण-भर के लिए। बहुत हुआ तो दो-चार दिन के लिए। क्योंकि राखी इसी में बँधवाते हैं। मगर अब एक प्रश्न उठता है यहाँ कि इस हाथ का जो छोटा भाई है आपका बायाँ हाथ, रिस्टवाच तो उसी में बाँधते हैं। ऐसा क्यों है, आपने कभी सोचा है ? मैंने सोचा है—'आपका यह हाथ पौरुष का प्रतीक है।' उसने दायाँ हाथ उठाकर कहा और फिर तत्काल उसने बायाँ हाथ उठाकर कह दिया—"और यह हाथ ? आपके नयनों में जो रेशम के डोरे हैं, उनका है : कला, शृंगार, प्रेम और वासना का। ये बहुतेरी बातें जिनको आप रूढ़ि समझ बैठे हैं, इनके भीतर भी एक मनोविज्ञान है। आप सबको मालूम है, प्रणय के समय हम अपनी जीवनसंगिनी को बामपार्श्व में स्थान देते हैं, जिसके साथ हमारी कोमल भावना का, प्यार का, सम्बन्ध होता है और जिसके साथ भक्ति और श्रद्धा का, उसे हम दक्षिण पार्श्व में स्थान देते हैं।

कला को स्मरण आ गया, राकेश के इस कथन पर देर तक करतल-ध्वनि होती रही थी। विश्वविद्यालय के कलाविभाग की कई लड़कियों ने कला की कमर में चुटकी काट ली थी। रजनीगन्धा ने कहा था—"तुम तो प्रेम-शृंगार और सुकुमारता की प्रतीक हो रानी। राकेश का सबसे पहला हिट तुम्हारी ही ओर था। बहुत बनती थीं। अब बोलो—है कोई उत्तर आज तुम्हारे सामने ?"

कला ने कुछ भावना के साथ, कुछ आवेश में आकर उत्तर दिया था—मर्म की वाणी फूट पड़ी थी ; क्योंकि इन्टरवल के बाद फिर बोलने के लिए वह स्वयं मंच पर आ गयी थी।—"अभिरुचियों को मान्यताओं का रूप देने के सम्बन्ध में आपने पूर्व वक्ताओं की कुछ बहकी-

बहकी बातें और युक्तियाँ सुनी हैं। अब मेरी भी सुन लीजिये। ये जो हमारी बहनें और साथिनें हैं, मैं नित्य देखती हूँ कि हफ़्ते के काम के छः दिनों में प्रायः प्रतिदिन वेश-विन्यास बदलकर आती हैं। हममें से ऐसा कौन है जो सायंकाल वही भोजन करता हो, जो प्रातःकाल करता है? मैंने तो देखा है कि वेणी-गुम्फन में भी नित्य नवीनता का प्रयोग होता रहता है। यह हुई मानव-प्रकृति की बात। अब जगत-सृष्टि की ओर दृष्टि डालिये। आज का दिन मंगल है। कल जो बीत गया सोमवार था और जो कल निकट भविष्य का है, बुधवार का होगा। अभी कलतक पुरवा हवा चल रही थी, आज पछुआ। परसों बदली घिर आई थी, आज कड़ी धूप है। कल प्रिंसिपल साहब को अकस्मात् दिल्ली जाना पड़ा, आज सुनती हूँ कि वाइस प्रिंसिपल साहब इसलिए नहीं आये कि छड़ी हाथ में लेकर जब वे द्वार पर आ खड़े हुए, तभी उनकी चेतना पर—क्षमा कीजिएगा, पुरातन मान्यता पर—सड़क के किसी यात्री ने ठाँय से रिवाल्वर मार दिया। मेरा मतलब यह है कि बिलकुल सामने ही आकर छींक दिया! आपने देखा? इसीलिए वे हमारी गोष्ठी की पहली सभा में आ नहीं सके थे!"

इतने में हास्य का एक कोलाहल सभा में चारों ओर गूँज उठा। और तभी सभापति ने घण्टी बजा दी। बोलने की अवधि के लिए जो समय नियत था वह बीत चुका था। कुछ ऐसी बात हुई कि टीका-टिप्पणी करनेवालों ने कह डाला—भाई मुझे तो राकेश के कथन में वह मज़ा नहीं आया, जो कला के कथन में। राकेश ने ऐसी गम्भीर बातें कीं कि मेरा मत्था पकड़ लिया। मगर कला के कथन में जो व्यंग-विनोद था, उसने वाइस प्रिंसिपल जैसे रूखे और गम्भीर व्यक्तित्ववाले विचारक को भी हँसने के लिए वाध्य कर दिया।

अतीत का यह दृश्य आज कला के लिए स्वप्न बन गया था। उसी स्वप्न को लेकर आज कोई उसके भीतर से बोल रहा था।—'हूँ...मुझ पर एहसान करने आये हैं। इनको खाने के लिए यहाँ किसने बुलाया था

जी ? बड़े आये कहीं के दावत उड़ानेवाले ! मिठाई परोसना दूर रहा, मैं तो तुमको साग का कोई एक मसाले का दाना भी उठाकर देने से रही। मगर एक बात है, मम्मी करेला बना रही हैं। खुशबू आ रही है। अच्छा जनाब, आप तशरीफ़ लाये भी तो पूरे साल-भर बाद। मगर यह बिल्ली रास्ता कैसे काट गयी जो आप इधर मुड़ पड़े ! ओः आई सी। यह कविजी महोदय अपने साथ लाये होंगे। हूँ······बरखुरदार तभी तशरीफ़ लाये हैं। मगर बरखुरदार···नो···नो···कान्ट······ आई रेस्पेक्टफुली बेग टु स्टेट···यह रंग जरा गहरा हो गया। इसको थोड़ा मन्द करना पड़ेगा। ···शकुन्तला दीदी, तुम बुरा न मानना। तुम्हारा रंग बहुत चोखा है हम सब पर। मैं तुम्हारे रंग को हलका तो कर नहीं रही हूँ··· बसंत की कविता वैसी बहुत अच्छी तो नहीं, क्योंकि उसमें प्यास-ही-प्यास का स्वर है···। मगर स्वर क्यों, मुझे तो चिल्लाहट जान पड़ती है ! क्या पंक्तियाँ हैं—'आज तुम फिर मुस्कराये।···पुनः क्यों आँसू बहाए। और तभी उसने आगे जोड़ दिया—विश्व के किस काम आये ?...मगर कुछ कविताएं अच्छी भी हैं। 'सपने हैं—आते-जाते हैं।'

उसे ध्यान आ गया एक संध्या का। अचानक बदली घिर आयी थी और ठण्डी-ठण्डी हवा चलने लगी थी। सर्दी के दिन थे और मंसूरी में बड़े जोर की बरफ़ गिर रही थी। कृष्णमेनन महोदय का भाषण था। काफ़ी भीड़ हो गयी थी। कला जब चलने लगी तो उसकी गाड़ी आ न पायी थी। शहतूत वृक्ष के नीचे खड़ी कला सर्दी से ठिठुर रही थी। दोपहर में जब वह यूनिवर्सिटी आयी थी, तब वैसी सर्दी की कोई कल्पना भी न कर सकता था। ऐसे समय में उसके साथ उसकी सहेली मन्दाक्रान्ता खड़ी थी। सहसा मालिनी ने आकर एक चेस्टर उसे देते हुए कहा था—"लो, संकोच मत करो। नहीं तो सर्दी लग जायगी। बूँदा-बूँदी होने लगी है। हवा बड़े जोर की चलने लगी। हो सकता है साइक्लोन आ जाय !"

मन्दाक्रान्ता ने पूछा था—'पर इसे दिया किसने है इस समय ?"

"तुम्हें आम खाने से मतलब है या पेड़ गिनने से ? दिया है एक काले चोर ने ।"

तभी कला बोल उठी—"मगर काले चोर का नाम तो कुछ होगा ।"

मन्दाक्रान्ता ने कह दिया—"काला चोर सो काला चोर । उसका नाम और क्या होगा !"

कला बोली—"चलो हटो । ज़रूर इसमें कोई रहस्य है, तुमको क्या पता ! साथ में नाम तो मेरा समेटा जायगा । मैं किसी का चेस्टर-वेस्टर नहीं लेती । हो जाय मुझे निमोनिया । कल होता हो, तो अभी हो जाय !"

मालिनी ने कह दिया—"देखो, बिगड़ो मत बेकार । एक ओर सहानुभूति की भावना से कोई आदमी सहायता करे, दूसरी ओर तुम उसका तिरस्कार करो । यही तुम्हारी सभ्यता है !"

"दीदी, इसमें बुरा मानने की कोई बातन हीं ।" कला बोली—"तुम इन छोकरों को नहीं जानतीं । तुम इनकी जालसाज़ी नहीं समझतीं । ये सदा ऐसे अवसरों की ताक में रहते हैं । तुम मेरा नाम लेकर कह देना कि कला को किसी की सहानुभूति की आवश्यकता नहीं है । कला स्वयं अपने आपमें विश्व की एक महान समवेदना है ।"

मन्दाक्रान्ता स्तब्ध हो उठी थी और मालिनी ने कला को अपने वक्ष में भर लिया था । फिर सहसा उसके मुख से निकल गया—"तुम्हारा कभी कोई बाल बाँका नहीं हो सकता कला । इस कालेज के इतिहास में तुम अपनी अभिव्यक्तियों की अमर छाप छोड़ जाओगी ।"

बात यह थी कि उस कालेज में घनश्याम एक ऐसा छात्र था, जो ऐसे अवसरों से लाभ उठाकर घटनाओं को गढ़ता और उनका प्रचार करके सारे वातावरण को एक बार सप्ताहों के लिए क्षुब्ध, विचलित और कम्पित कर देता था । कला के कथन में इसी आशंका की प्रतिक्रिया थी ।

तभी मालिनी ने कह दिया—"फिर भी मेरा कहना है कि तुम यह चेस्टर पहन लो और जब तक गाड़ी न आये, तब तक रंजना दीदी के यहाँ चलकर बैठो।"

इतने में पानी का एक ऐसा सर्राटा आ गया कि तीनों रजनीगन्धा के यहाँ पहुँचती-पहुँचती भीग गयीं। थोड़ी देर में गाड़ी आ गयी। पर मालिनी के बहुत आग्रह करने पर भी कला ने चेस्टर लेना स्वीकार नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि कला सरदी खा गयी। उसे जुकाम के साथ इन्फ्लुएंजा हो गया। कई दिन तक वह कालेज नहीं गयी।

संयोग की बात है कि एक दिन राकेश ऊष्मा के कान के पास मुंह ले जाकर कोई बात कह रहा था, तभी कला की दृष्टि उस पर जा पड़ी। एक सन्देह से वह ऐसी विजड़ित हो उठी कि राकेश के प्रति उसका दृष्टिकोण ही बदल गया। पर कालान्तर में जब उसे यह विदित हुआ कि उष्मा राकेश की मौसेरी बहन है, तब तो कला को इतना विस्मय, परिताप और दुःख हुआ कि वह सदा के लिए सतर्क और अदृष्टवाद की समधिक समर्थक बन गयी।...वह चेस्टर मालिनी को ऊष्मा ने ही दिया था और उसको ऊष्मा और राकेश का सम्बन्ध ही नहीं उसके संकेत का भी कोई ज्ञान न था।

अब निरंतर कला यही सोचती रहती—'राकेश इतना बौद्धिक है कि वह समय पर सहायता तो करना चाहता है, लेकिन अपने को कितना अलग रखकर! संबंध की यह दूरी जब उसकी समझ में आ गयी तब कभी तो वह राकेश की सभ्यता की मन-ही-मन सराहना करती और कभी उसकी मनोगत भावना के साहस की भर्त्सना करना चाहती।

किन्तु राकेश अपनी प्रकृति में अहंवादी उतना न था जितना अनियंत्रित और स्वच्छंद। अकसर विज्ञान को भी उससे यह शिकायत बनी रहती कि वह सर्वथा अव्यवहारिक है। और घनश्याम तो उसे नितान्त स्वार्थी समझने लगा था। उसका कहना था कि राकेश मिलने

भी तभी आता है जब उसे कोई काम होता है। घनश्याम और विज्ञान जब इकट्ठे हो जाते तब राकेश उनके विश्लेषण और विचार-विनिमय का विषय बन जाता। एक दिन विज्ञान ने कहा—"शिष्टाचार तो उसको आता ही नहीं। हफ़्तों बाद रास्ते में मिल जाने पर वह बोलना दूर रहा, नमस्कार तक नहीं करता।

घनश्याम ने उत्तर दिया—"वह रात दिन अपने घमंड में ही चूर बना रहता है।"

"यहाँ तुम उसके साथ अन्याय कर रहे हो घनश्याम। तुम्हें पता नहीं, वह धरती पर चलता हुआ भी विचरण मानसलोक में ही किया करता है। ऐसा भी तो हो सकता है उसे पता ही न लगता हो कि मेरे निकट ये कौन जा रहा है!"

यही विचार कला का भी था; किन्तु इन सब लोगों ने उसके सम्बन्ध में जो नाना प्रकार की धारणाएँ बना रखी थीं, एक दिन उसका आप ही आप भंडाफोड़ हो गया।

शोभा रेस्टोरां में जलपान पर बैठे हुए कई लोगों ने अनायास राकेश को घेर लिया। प्रभाकर ने कहा—आज राकेश के जेब की तलाशी ली जाय।" और घनश्याम बोला—"नहीं, उसके मस्तिष्क की चीर-फाड़ की जाय!"

तभी विज्ञान ने कह दिया—"अजीब हाल है तुम्हारा। आजकल जहाँ देखो तुम्हारे ही विचित्र स्वभाव की चर्चा हुआ करती है। कोई तुम्हें फ़िलासफ़र समझता है······।"

"और कोई उचबक।" यह घनश्याम था।

विज्ञान ने कह दिया—"तुमको पता है, कई दिन से कला तुमको कनखियों से देखती है। मैंने इसको कई बार लक्ष्य किया है और एक तुमको हो, जो उस पर दृष्टि डालना भी पसंद नहीं करते। सच-सच बतलाओ यह क्या बात है?"

राकेश ने उत्तर दिया—'देखो, मुझको छेड़ो मत। सब बेकार है।"

घनश्याम ने कह दिया—"वैल सैड (अच्छा बोला)।"

तब विज्ञान कह उठा—"यह स्वर तो प्रतिक्रियात्मक है। स्पष्ट बता दो तुम्हारे मन में क्या है ?"

"देखो, यह स्थल ऐसी बात करने का नहीं है।"

घनश्याम ने उत्तर दिया—"सोंठ जैसा बनाने का है।"

इस पर एक बार सब हँस पड़े।

तब राकेश ने इस प्रकार अपना वक्तव्य दिया—"तुम मेरा मुंह खुलवाना ही चाहते हो तो सुनो। मैं एक कला की बात नहीं करता हूं। मैं समस्त प्रकार की रूपात्मक प्रभविष्णुता को अस्वीकार करता हूँ; क्योंकि वह क्षणिक है, विषाक्त है, हिंसक और कृत्रिम है। उसे जागृत, सजीव और अभिनव रखने की आवश्यकता होती है। वह स्थिर है और नश्वर है। बतलाओ, ऐसी दशा में मैं उसके प्रति अगर कोई आस्था न रखूँ, प्रलोभन न पालूँ, उसके मोह में न पड़ूँ, उसके पास में अपने आपको न जाने दूँ तो इसमें मेरा क्या दोष है ?"

घनश्याम ने कह दिया—"भाई मेरे पल्ले तो कुछ पड़ा नहीं ! जब देखो तब ताड़ के झाड़ से बोलने लगते हैं।"

लेकिन विज्ञान विचार में पड़ गया तभी प्रभाकर ने कह दिया—"नथिंग बट ट्रैश।"

राकेश मुस्कराता हुआ बोला—"मैं जानता था प्रभाकर, तुम यही कहोगे। लेकिन यह सूत्र था। अब इसकी व्याख्या सुनो। तुम मुझे बेवकूफ़ कह लो और तुम्हें अधिकार है कि पागल ही समझ लो। किन्तु जो मैं कहता हूँ उसके मर्म को समझने की चेष्टा तो करो।" मान लो एक लड़की है जिसका नाम है प्रियम्वदा। बड़ी सुन्दरी है सुनो प्रभाकर, मानलो, बड़े प्रयत्न के बाद उसके साथ तुम्हारा विवाह हो जाता है। पर विवाह के तीसरे दिन उसको भयानक चेचक निकल आती है। मुख चेचक के दागों से बिलकुल छलनी बन जाता है और साथ में एक आँख

चली जाती है ! मैं जानना चाहता हूँ उसके बाद प्रियम्वदा के साथ तुम्हारा क्या सम्बन्ध रहेगा ? तुम उससे प्रेम करते रहोगे ?"

और इसी कथन के साथ वह उस रेस्तोराँ से चला आया था। लोगों ने उसे बहुत रोकना चाहा, मगर वह रुका नहीं। प्रभाकर के मुँह पर तो जैसे काली स्याही फिर गयी हो। घनश्याम की आँखों में भी आँसू आ गये थे क्योंकि उसे अपनी उस बहन का स्मरण हो आया जो इसी प्रकार की घटना के कारण एक परित्यक्ता का जीवन भोग रही थी ! और विज्ञान ने गंभीरता के साथ कह दिया था—"उसे जाने दो। रोको मत। तुम चाहे मानो, चाहे न मानो, हम लोग सब-के-सब उसके पास बैठने योग्य नहीं हैं। तुम्हें पता नहीं वह पढ़ता कितना है ! उसका एक-एक वाक्य कभी-कभी दर्शनशास्त्र के भीमकाय ग्रन्थों का एक अध्याय होता है। उसने बिलकुल ठीक कहा था कि रूप क्षणिक है। बड़ी देर तक घनश्याम, प्रभाकर और विज्ञान स्तब्ध मौन बैठे रहे। आए तो थे बहुत कुछ खाने-पीने के लिए, लेकिन एक-एक कप चाय पीकर चुपचाप लौट गये।



: ७ :

एक बड़ी टेबिल है गोल, जिसके आस-पास पाँच कुर्सियाँ पड़ी हुई हैं। चीनी के छोटे-बड़े बर्तनों में सारी खाद्य-सामग्री रखी हुई है और सबके अन्दर चम्मच पड़े हुए हैं। पहले तय हुआ कि टुमैटो सूप परस दिया जाय। उसके लिए सबके आगे एक-एक शीशे का कटोरा रख दिया गया। एक बड़े-सेजग में टुमैटो सूप था। वसुधा ने जग को उठाकर सबके कटोरों में टुमैटो सूप समान मात्रा में उँडेल दिया।

वसन्त को तो कई बार ऐसा अवसर मिल चुका था, लेकिन राकेश के लिए नयी बात थी। टुमैटो सूप मीठा बहुत कम था। गाढ़ा कुछ अधिक था और कुनकुना भी था। राकेश जब पीने लगा, तो उसको थोड़े नयेपन का बोध हुआ और फिर बाद में ताजगी का भी। कला का स्वभाव था कि बिना कुछ टीका-टिप्पणी किये हुए वह मानती न थी। बैठा चाहे जो हो और पूरी छूट है कि समझे भी चाहे जो कुछ। उसने कह दिया—"लीजिये पापा, आपने पहले सूप मिलाकर अपने विदेशी संस्कारों की एक मुहर लगा दी।"

जब किसी ने कुछ नहीं कहा, तो कैलाश बाबू ने राकेश की ओर उन्मुख होकर पूछा—"तुम्हारा क्या खयाल है राकेश ?"

वसन्त को कुछ ऐसा प्रतीत हुआ मानो अब इसी क्षण पतंग के से मंझे में खिचाव पैदा हो गया हो। इसके बाद ढील दी जायगी और पतंग सर्र-सर्र करती हुई दस-बीस गज ऊँची उठ जायगी। फिर सौ पचास गज। फिर······!

राकेश पहले मुसकराया, फिर कुछ गम्भीर होकर बोला—"अपनी-अपनी बात है, बाबूजी। इसमें खयाल का सवाल ही कहाँ पैदा होता है !"

"क्यों, सवाल क्यों नहीं पैदा होता है ? रुचियाँ भिन्न न हों तो टकराहट कैसे पैदा हो ? औ' टकराहट भी किसी के लिए सम्पर्क है, किसी के लिए संघर्ष ।"

"यही तो मेरे कहने का मतलब था बाबूजी । क्योंकि बैंगन किसी के लिए व्याधि है और किसी के लिए पथ्य ।"

"सवाल यह है···।" कैलाश बाबू ने कहा—"कि जहाँ उपलब्धियों का प्रश्न है और अनुभव की माँग है वहाँ यह कहने का क्या अभिप्राय है कि यह विदेशी है ?"

राकेश मुस्कराते हुए बोल उठा—"बस-बस, यही मैं भी कहने जा रहा था कि यह देशी-विदेशी क्या ! आज हमें देश के नवनिर्माण की आवश्यकता है, तो हम विदेश से मशीनरी मँगवाते हैं और उनके विशेष संचालक । थोड़े दिनों के अन्दर हम उन मशीनों का क्रिया-कलाप, उनकी उपयोग-विधियाँ और उत्पादन की भावी संभावनाएँ प्राप्त कर लेंगे, तब जिसे हम आज विदेशी कहते हैं, कल वही स्वदेशी बन जायगा । और एक बात और है बाबूजी, कि जब विश्व के सभी राष्ट्र उन्नति की दौड़ में लगे हुए हैं तब उनकी संस्कृतियों में पारस्परिक सम्बन्ध और भावनाओं, व्यवहारों और आदान-प्रदान के प्रकारों में मैत्रीधर्म का निर्वाह बिल्कुल स्वाभाविक है । मैं अपनी बात कहता हूँ । खाने के पहले सूप ग्रहण करने की प्रथा व्यक्तिगत रूप से मेरे लिए बिल्कुल नयी है । लेकिन—साथ ही—हमें यह भी तो देखना पड़ता है कि फिर नया है क्या नहीं ? सबसे पहले तो आज का दिन नया है, आपका स्नेह नया है । अब अगर स्नेह का धागा भी नया हो, तो इसमें सोचने और आपत्ति करने की गुंजाइश ही कहाँ रह जाती है ।"

वसन्त सोचने लगा—पतंग कट रही है और कला सोच रही थी—"इनके लिए कोई नयी बात नहीं है । इनका विरोधी स्वर तो बहुत पुराना है ।"

वसुधा चुपचाप बैठी हुई थी । अब उसने 'सैंडविचेज' और 'टुमैटो सास,' आलू, गोभी, मटर सूखा सब के पात्रों में परोस दिया । कला

ने बैंगन की कलौंजी सबसे पहले अपने आगे रखी ; फिर सबको परोस दी। तब तक कैलाश बाबू बोल उठे—"आज कवि की वाणी मूक क्यों है ?"

वसन्त ने उत्तर दिया—"बाबूजी, मैं सुन रहा हूँ। जहाँ बोलने का अवसर आयेगा, मैं बोलूँगा।"

इतने में कला ने कह दिया—"तो पापा, यहाँ एक प्रश्न उठता है। उन्नति की दौड़ में विभिन्न राष्ट्रों की संस्कृतियों के सम्यक मिश्रण के अनन्तर उनका अपनापन भी, हो सकता है; कभी लोप हो जाय !"

अब वसन्त ने कह दिया—"ऐसी कोई सम्भावना नहीं है। राष्ट्रों की अपनी-अपनी संस्कृतियाँ भी बनी रहेंगी। जैसे फूलों का गजरा ; गुँथा हुआ होने पर भी विचित्र पुष्पों के महत्व को समन्वय का बल देते हुए उनका अपना निजी महत्व स्थिर बनाये रखता है।"

और राकेश ने कह दिया—"जैसे हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने पर भी प्रादेशिक भाषाओं का अपना एक अलग महत्व सदा बना रहेगा।"

इस बात पर कला ने चुटकी ली—"इसमें आप कौन-सी नयी बात कह रहे हैं। यह तो पंडितजी की बात है।"

वसुधा मुस्कराती हुई कहने लगी—"आप लोग खाते भी जाइये।"

कैलाश बाबू ने कहा—"राकेश, काँटा-चम्मच का उपयोग तुम नहीं कर रहे हो।"

कला मुस्कराने लगी और राकेश बोल उठा—"बाबूजी, यही मेरा राष्ट्रीय पृथक्करण है।"

कला से बिना बोले न रहा गया—"अन्तर्राष्ट्रीय समन्वय की घड़ियों में यह राष्ट्रीय पृथक्करण चीं मानीदारद !"

इस पर यकायक सबके सब हँस पड़े।

सैंडविचेज़ का कोर्स समाप्त हुआ। उसके बाद आये सूखे गरम और दही में गले हुए बड़े और साथ ही अमावट में तर भी। वसुधा बोल उठी—"यह हमारी देशी पसन्द की चीज़ है। सबको अवसर है

कि चाहे नमकीन पसन्द करे और चाहे मधुर। और कला ने कह दिया—"चाहे गीले-गीले—चाहे कुरकुरे।"

वसुधा ने कह दिया—"मैं अक्सर सोचा करती हूँ कि इस कला में आखिर गम्भीरता की कला कब विकसित होगी !"

कला यह कहते-कहते रुक गयी कि जब तुम्हारी आयु की होगी तब···।

अब इसी स्थल पर कैलाश बाबू बोल उठे—"यों सामान्य रूप से मैं चंचलता को बुरा नहीं मानता। लेकिन उसका भी एक अवसर होता है।"

कला ने कह दिया—"अवसर की प्रतीक्षा में बैठे रहनेवाले लोग सदा पीछे रह जाते हैं। अवसर न आये तो उसको बुला लेने का दायित्व भी हमारे ही ऊपर तो है पापा।"

अब वसन्त को बोलना पड़ा—"मेरा भी ऐसा ही ख़याल है पापा। अवसर उपस्थित कर उसकी पृष्ठभूमि के निर्माण में अपने-आपको आगे खड़ाकर देने में भी मैं कोई दोष नहीं देखता।"

"मगर सवाल यह है कि अवसर आये क्यों न ,जबकि वह आता है। जीवन की प्रकृति अवसर देती है; समाज की गति अवसर देती है; क्योंकि जब कभी भी अवसर आने में देर लगती है, तब मानवता की ज्वलंत प्रतिभा-विभूतियाँ करवटें ले-लेकर अपने आप जाग उठती हैं। सच पूछिये तो आज के युग में उस प्रकार की प्रतिभा के लिए कोई स्थान नहीं है, जो दबी पड़ी रह जाती है। बल्कि मैंने तो यह भी अनुभव किया है कि वास्तविक प्रतिभा किसी के दबाये दब नहीं सकती।"

कथन को पूरा करते-करते राकेश ने एक बार कला के मुख पर दृष्टि डाल दी, तो पहले उसके अधर थोड़े विकसित हुए, किन्तु फिर तत्काल ही वह नतशिर हो उठी।

अनुकूल अवसर देखकर वसन्त बोल उठा—"मेरी मान्यता ऐसी नहीं है पापाजी। प्रतिभाएँ दबी पड़ी रहती हैं; क्योंकि वे दबाई जाती

हैं। उदाहरण के लिए मैं अपना विषय ही आपके समक्ष रखना चाहता हूँ। मेरे दो कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं लेकिन एकाध पत्र-पत्रिका को छोड़कर किसी ने मुझे प्रोत्साहन नहीं दिया। गुट बन गये हैं और अपने-अपने लोगों का ढोल पीट रहे हैं। क्या आप समझते हैं कि मैंने कोई सेवा ही नहीं की या मुझ में प्रतिभा की कमी है! बस यही सोच कर संतोष कर लेना पड़ता है कि जब आँधी के आम चूसने से ही लोगों को फुरसत नहीं है, तब दशहरी और सफ़ेदा की ओर लोग क्यों ध्यान देने लगे!"

"बाबूजी बस, यही स्थल विवादग्रस्त है। आँधी के आम खानेवालों का अपना एक अलग समुदाय है। दशहरी और सफ़ेदा खानेवाले आँधी के आम कभी छूने भी नहीं।"

"समुदाय अलग होने से क्या होता है!"

"होता यह है कि जिसको दशहरी और सफ़ेदा आम खाने या बेचने की आवश्यकता होती है, उसे बाजार में जाना ही पड़ता है। घरों में बैठे रहकर अपने-आपको कालिदास और शेक्सपियर समझनेवालों की कमी नहीं। और यह रोना तो अब बहुत पुराना पड़ गया है कि हाय-हाय रे मक्खियों ने भिनभिनाकर मुझे चाट डाला! जबकि बिजली के पंखों के अभाव में खजूर, ताड़ की पत्तियों, बाँस की खपच्चियों और बेंत की छाल के पंखे हमारे निकट पड़े रहते हैं!

अपना मन्तव्य प्रकट करने की विधा में राकेश कुछ आविष्ट-सा हो उठा। तभी वसन्त ने उत्तेजित स्वर में उत्तर दिया—"राकेश तुम बहुत आगे बढ़े जा रहे हो!"

"मैंने किसी को आगे बढ़ने से मना नहीं किया और पीछे रहना मेरा स्वभाव नहीं। बाबूजी, आपने देखा। स्वतन्त्रतापूर्वक मुझे अपना अभिमत प्रकट करने का अवसर भी भैया नहीं देना चाहते! और उन्हीं की यह शिकायत है कि प्रतिभा दबाई जाती है! बाबूजी एक बात और है। ये समस्त विवाद उसी समय कटु जान पड़ते हैं, जब आक्षेप निजी

आत्म-गौरव पर आघात करता है। बातें हो रही थीं साधारण रूप से सामान्य स्तर पर और उदाहरण आपने अपना ही उपस्थित कर दिया। तब यह स्वाभाविक हो गया कि मेरा उत्तर भी आपकी प्रतिभा, आपके व्यक्तित्व और निजत्व पर आरूढ़ हो बैठे। अब यहाँ प्रश्न यह है कि व्यक्तिगत उदाहरण आपने उपस्थित ही क्यों किया ?"

कला फिर बिना बोले न रह सकी—"हियर······हियर···!"

परिणाम यह हुआ कि कैलाश बाबू और वसुधा भी प्रभावित होकर अवाक् हो उठे और वसन्त के मुख पर उदासी छा गयी। उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि राकेश ने जान-बूझकर कला के सामने मुझे अपमानित किया है।

पराभूत अहंकार जब आघात से तिलमिला उठता है तभी प्रायः मानवीय ईर्ष्या, द्वेष बनकर अग्नि के स्फुलिंग छोड़ने लगती है।

एक तिलमिलाहट के पश्चात् वसन्त का मुख एकदम से लाल हो उठा। होंठ कंपित हो-होकर अपना उग्र आभास देने लगे और उसने कह दिया—"पापाजी, इतना तो आप मानेंगे कि सम्मान की भूख सबको होती है ; लेकिन योग्यता या प्रतिभा के दम्भ में पड़कर जब हम अपने से बड़े सम्मानीय व्यक्तियों को अपदस्थ और तिरस्कृत करने पर तत्पर हो जाते हैं, तब दुस्साहसिक उत्साह भी परुष बन जाता है। मैं और भी स्पष्ट कर दूं कि सामाजिक कलुष तो संघर्ष की भूमिपर आकर विकास और उत्कर्ष की सीढ़ियाँ चढ़ने लगता है ; किन्तु पारिवारिक द्वेष और कलुष प्रगति की ओर न जाकर विनाश की पृष्ठभूमि बन जाता है !"

राकेश एक-एक शब्द ध्यान से कड़ुए घूंट की भाँति पीता जा रहा था। खाना अब सबने बन्द कर दिया था। वसुधा और कैलाश परस्पर एक-दूसरे की ओर देख रहे थे। कला की दृष्टि वसन्त के आनन और विशेष रूप से उसके होंठों पर थी। वसन्त कला के नयनों की ओर देख रहा था। इतने में राकेश ने कह दिया—"बाबूजी, हमारे बीच में आप न्यायाधीश हैं। बतलाइये, यह अपमान, तिरस्कार और कलुष का जो

लांछन मेरे ऊपर आ रहा है इसकी पृष्ठभूमि में क्या भैया के मन की भावनामयी हीन ग्रन्थि ( इन्फ़ीरियारिटी काम्प्लेक्स) नहीं है ?

कैलाश बाबू विचार में पड़ गये। बोले—"बड़ी देर से मैं सोच रहा हूँ कि इस विचार-विनिमय को विवाद नहीं बनना चाहिये था। किन्तु साधारण वार्तालाप विचार-विनिमय की भूमि से उठकर जब वाक्‌युद्ध बन जाता है तब प्रायः यही होता है। उत्तर और प्रत्युत्तर व्यक्तिगत आक्षेप का जामा पहन लेते हैं और आक्षेप भी विषाक्त तभी जान पड़ते हैं, जब विवाद के तथ्य हमारे व्यक्तिगत होते हैं। सचमुच मैं भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि वसन्त का कवि पहले से ही अपने को हीन समझता आ रहा है। अगर कलाकार का स्वाभिमान सजीव और जागृत है, सप्राण और मूर्धन्य है, तो वह अपने को कभी हीन नहीं समझेगा। दुनिया भले ही उसकी उपेक्षा करती रहे, मैं जानता हूँ कि कभी-कभी समर्थ प्रतिभावान व्यक्तियों को उचित प्रोत्साहन नहीं मिलता। लेकिन समुचित मूल्यांकन और प्रतिष्ठा-प्राप्ति के अभाव में न वे किसी कलह में पड़ते हैं, न ऐसे संघर्ष में, जो उन्हें मरणोन्मुख बनाने को विवश कर दे। मेरा तो यह विश्वास है कि सच्ची प्रतिभा अमर होती है। उसे कोई मार नहीं सकता। और तुरन्त न सही तो सुदूर भविष्य के अगम विस्तार में उसको समुचित प्रतिष्ठा, श्रद्धा और समादर एक दिन मिलकर रहता है। अब इस क्षण के बाद यह विवाद यहीं समाप्त होता है। भविष्य में ऐसे अवसरों पर वसन्त तुम कोई व्यक्तिगत उदाहरण न दोगे और राकेश तुम भी अपने बड़े भैया के सम्मान का ध्यान रखकर चलोगे।"

कैलाश बाबू के इस कथन के बाद वसन्त और राकेश दोनों अपनी पूर्व स्थिति में आने लगे। दोनों की मुखश्री साधारण स्तर पर जान पड़ने लगी। तब मुस्कराती हुई कला बोल उठी—"मैं तो एक ऐसे लोक में पहुँच गयी थी जहाँ व्यक्ति नहीं, केवल विचार थे। विचार भी नहीं, केवल सिद्धान्त थे। और सिद्धान्त ही तो इस सृष्टि के वे खिलने हैं, जिन्हें

प्राण देकर हमारा स्रष्टा सदा एक नाटक खेलता रहता है। मुझे यह जान कर बड़ी प्रसन्नता हुई कि आज के नाटक का अन्तिम दृश्य जब समाप्त हुआ, यवनिका पतन हुआ तब हम पुनः धरती पर आ गये। तभी इस अवसर पर मैंने जान-बूझकर ममी नाम नहीं लिया क्योंकि मुझे भय था कि नाम के कारण भावना कहीं व्यक्तिगत न हो जाय !"

कला की इस बात पर सबके सब हँस पड़े। और फिर एक बार उत्साह के साथ सबको भोजन करते देख वसुधा बोल उठी—"मुझे शिकायत यही है कि भोजन ठण्डा हो गया। नाटक के संवाद कुछ बड़े हो गये थे और जज साहब तो यह भूल ही गये कि हम भी उसके एक पात्र हैं।"

भोजन के समय वातावरण अब उतना गंभीर न रहकर पुनः हास-परिहासमय हो उठा तो कला बार-बार उस घटना का स्मरण करने लगी, जब विज्ञान के द्वारा उसके रूप और अरूप के सम्बन्ध का उदाहरण सुनकर राकेश ने विज्ञान, प्रभाकर और घनश्याम को एकदम से हत्प्रभ कर दिया था। उस क्षण से एक आशंका भी उसके मन में उठने लगी थी कि ऐसा तत्वदर्शी व्यक्ति पूर्णरूप से किसी का बन नहीं सकता। यह भी हो सकता है कि वह विवाह ही न करे और यह भी सम्भव है कि विवाहित जीवन में ही वह एक सीमा तक अनासक्त योगी ही बना रहे। फिर भी अपनी प्रकृति के अनुरूप वह हास्य के प्रयोग करने में चूकती न थी। भोजन करते-करते जब एक बार वसुधा बोल उठी—"राकेश बेटा, तुम वसन्त की बातों का कभी बुरा न मानना। जो लोग बात और बहस करने में अपने सम्बन्धों को भूलकर कोई चुभने-वाली बात कहने में रुकते नहीं, वे यह भूल जाते हैं कि स्वाभिमान पर चोट सहते-सहते सगे-से-सगे आदमी कभी-न-कभी सहज ही बिछुड़ जाते हैं !"

तब भोजन करते-करते सहसा राकेश का हाथ रुक गया और वह बोल उठा—"माताजी, शायद मैं अपनी बात अब भी पूरी कह नहीं पाया

हूँ। शिष्टाचार की मुझ में कमी हो सकती है। यह भी हो सकता है कि मधुर भाषा मैं कभी न बोल पाऊँ, लेकिन बड़ों और गुरुजनों के प्रति श्रद्धा की मुझ में कमी नहीं है। इसका एक कारण है कि जैसे रूप और सौंदर्य को मैं क्षणिक और नश्वर समझता हूँ, वैसे ही मधुर वाणी और शिष्टाचार का भी मोह मैं बहुत अधिक पालता नहीं। क्योंकि यह भी अन्ततोगत्वा प्रलोभन के ही अंग हैं। मधुर वचन और शिष्टाचार उस सत्य के विरोधी हैं जो कड़ुवा और अपरूप होता है। सत्य का अनुसंधान ही नहीं, समर्थन और परिपाक भी मेरे मनोगत जीवन की अविकल मर्म-वाणी है। इसलिए यदि कोई मेरी बात का बुरा मानता है तो मैं यह सोचने को विवश हो जाता हूँ कि निकट-से-निकट रहने पर भी वह मुझे समझ नहीं पाया।"

राकेश का यह कथन समाप्त हुआ ही था कि कला बोल उठी—"मुझे तो ऐसा जान पड़ा कि लखनऊ से छूटी यह मेल ट्रेन दिल्ली से पहले भला क्या रुकेगी ! बड़ी ग़नीमत हुई जो हरदोई ही में रुक गयी।"

वसन्त को यह बात बहुत पसन्द आयी। वसुधा हँसती-हँसती बोली—"कला के पापा ने ही छूट दे-देकर उसको इतना ढीठ बना डाला है।"

कैलाश बाबू ने कह दिया—"लाओ, अब खीर का भी कोर्स जल्दी शुरू कर दो। मेरा पेट तो अभी से भर गया।"

अब राकेश हँस पड़ा। बोला—"बाबूजी, आपने यह बड़ा गड़बड़ किया। मैं अगर ऐसा जानता तो थोड़ी-सी गुँजाइश बनाये रखता।"

वसन्त अब तक मौन था। उसे कहना पड़ा—"मेरे पेट में तो खीर का 'ड्रार' ही अलग है।"

इस पर कला अपना हास न रोक सकी। बोली—"तब तो आपकी मेज में ऐसे 'ड्रार' दो एक न होकर करीब-करीब आधे दर्जन होंगे !"

वसुधा ने खीर के प्लेट्स भर दिये और कैलाश बाबू बोल उठे—"अभी कला की ममी ने मुझ पर जो दोष लगाया है, उसके अन्दर मेरी मान्यता का एक छिपा हुआ पहलू भी है। जबसे मैंने सुधि सम्भाली

है तब से केवल एक बात का ध्यान रखा है कि आदमी अपने प्रति सच्चा हो तो वह समाज के लिए कभी भय और विवाद का कारण नहीं बन सकता। क्योंकि एक चरित्र ही तो है जो जीवन ही में नहीं, समाज में भी कभी अशान्ति का कारण नहीं बनता। अतः सचाई और चरित्र जिस किसी का भी ऊँचा हो उसकी प्रकृति को दबाने की फिर कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।"

अन्त में जब भोजन समाप्त हुआ तो पान, इलायची, सौंफ आदि लेकर राकेश वसन्त के साथ जब बँगले के बाहर आया, तब दोपहर के दो बज रहे थे। सड़क पर आते-आते राकेश ने घड़ी उतारकर वसन्त को लौटाते हुए कहा—"मैं पहले कुछ न जानता था; पर अब मुझे मालूम हो गया कि आप मुझे इनके यहाँ क्यों ले आये।"

वसन्त ने घड़ी लेते हुए कह दिया—"तुम भ्रम में हो राकेश।"

रजनीगंधा ने लक्ष्य किया कि राकेश विश्वविद्यालय में अपना शोध-कार्य सम्बन्धी थोड़ा-सा अपेक्षित समय लगाकर तुरंत लौट जाता है। मित्रों के बीच बैठकर समय नष्ट करना उसे कभी गवारा नहीं होता। पहले तो ऊष्मा उसके सम्बन्ध की बातें कभी-कभी बतलाती भी रहती थी, किन्तु अब पूछने पर भी वह यही कह देती है कि इधर तो मुझसे भेंट ही नहीं हो रही है। इधर मालिनी ने एक दिन कुछ उदासीनता प्रकट करते हुए कह दिया—"पता नहीं क्या बात है कि राकेश में कुछ रूखापन आ गया है। आज वे मेरे पास से निकल गये लेकिन मेरी ओर देखा तक नहीं! और लाइब्रेरी में तो अध्ययन करते हुए इतने डूबे रहते हैं कि बात करना मुश्किल हो जाता है। अरे आदमी बैठे-बैठे ऊबकर खड़ा होता है, इधर-उधर घूमता है, यत्र-तत्र परिचित जनों को देखता है, तो कुशल-समाचार तो पूछता है, हँसकर बात तो करता है। पर आपने आज हमारी तरफ़ देखा तक नहीं।"

कला ने जब सुना तो कई प्रकार की आशंकाओं से वह एकाएक आक्रान्त हो उठी।

एक दिन शयन से पूर्व दूध पीते-पीते कैलाश बाबू ने वसुधा से पूछा—"इधर राकेश आया नहीं।"

वसुधा ने चिन्ता प्रकट करते हुए कहा—"बड़ा मुश्किल है, ऐसे लोगों के साथ निभना।"

"क्या कहा! ऐसे लोग! राकेश कोई मामूली लड़का है? तुमने उसके सम्बन्ध में बहुत गलत धारणा बना ली। उसकी योग्यता का तो इधर मैंने कोई युवक देखा नहीं।"

"हो सकता है; लेकिन सबसे मुश्किल बात तो यह है कि योग्यता एक चीज़ है और व्यवहार-कुशलता दूसरी। मैं सोचती थी कि राकेश नित्य न सही, पर दूसरे-चौथे तो आता रहेगा।"

"हम लोगों का उसके सम्बन्ध में ऐसा सोचना गलत है। कला का मन्तव्य क्या है, उसके प्रति उसके मन में कोई आकर्षण है कि नहीं, कभी तुमने यह भी जानने की कोशिश की?"

"कला के पापा, बात यह है कि हम लोगों के ज़माने में तो ऐसी परम्परा थी नहीं। हम लोगों के माता-पिता तो जैसा चाहते थे, वैसा कर डालते थे। विवाह से पूर्व मैंने ही तुम्हारी शक्ल कहाँ देख पायी थी, बल्कि हालत तो यहाँ तक पिछड़ी हुई थी कि बाबूजी के सामने—पर बाबूजी ही क्यों—अम्मा के सामने भी तुमसे मिलने-जुलने में कितना संकोच होता था। एकाध बार तो ऐसा हुआ, तुम्हें याद होगा कि जब तुमसे भेंट नहीं हुई, तो मुझे बीबी रानी से कहकर तुमको बुलवाना पड़ा था! पर आज की हालत यह है कि हमें बच्चों का ही मन टटोलना पड़ता है।"

इतने में दूध का गिलास वसुधा को लौटाते हुए कैलाश बाबू कुछ सोचते-सोचते बोल उठे—"कला की माँ, पुरानी बातें याद करने पर मुझे तो कभी-कभी बड़ा दुःख होता है। ऐसा जान पड़ता है कि जीवन में

कुछ रस ही नहीं रह गया है। ख़ैर, छोड़ो इस प्रसंग को। ज़रा माथुर साहब को फ़ोन तो करो।"

"अब इस समय दस बजे रात को।"

"तो क्या हुआ। जैसे हम नहीं सोये हैं, वैसे वे भी नहीं सोये होंगे।"

"तो उनसे कहूँ क्या ?"

"पूछना कि इधर वसन्त आया नहीं, क्या बात है ?"

"कला के पापा, मैं तो अब वसन्त को बुलाना बिलकुल बेकार समझती हूँ। हमारे घर में आकर तो लड़ाई कर बैठे, अपने घर में न जाने कैसी गुज़रती होगी !"

"हाँ, यह भी तुम ठीक कहती हो, मगर कोई चारा भी तो नहीं। अच्छा ठहरो। ज़रा डाइरेक्ट्री तो हमें देना।"

और क्षणभर बाद उन्होंने एक ऐसा नम्बर बतलाया जो दर्शन-विभाग के अध्यक्ष डाक्टर मिश्रा का था।

टेलीफोन का डायल घूमने पर ज्योंही डाक्टर मिश्रा का स्वर मिला त्योंही अर्दली से उसने कहा—"ज़रा साहब को बुलाना।"

कैलाश बाबू ने रिसीवर को बाएँ कान के सामने थामते हुए कह दिया—"डाक्टर साहब, नमस्कार। कहिए, क्या हो रहा है ?"

उत्तर में डाक्टर साहब हँसते-हँसते बोले—"कैलाश बाबू, इस समय मैं सोने से पहले थोड़ी देर रामायण पढ़ता हूँ।"

"अच्छा !" आश्चर्य के साथ कैलाश बाबू ने कहा—"रामायण का पिंड अभी आपने नहीं छोड़ा।"

कुछ गम्भीरतापूर्वक डाक्टर मिश्रा बोले—"पिंड क्या छूटेगा, वह तो हमारे मानसपिंड के साथ विजड़ित है। कहिये, इस समय आपने मुझे कैसे याद किया ?"

"वो राकेश तो शायद आप ही के विभाग में शोधकार्य कर रहा

है। इधर कई दिनों से दिखाई नहीं पड़ा। तबीयत तो ठीक है उसकी? आपके यहाँ तो आता होगा।"

डाक्टर साहब ने जवाब दिया—"तबीयत भी ठीक है। आता भी नित्य है और इस समय मेरे यहाँ उपस्थित भी है। लीजिये, फ़ोन उसी के हाथ में दिये देता हूं।"

"अच्छी बात है।" कैलाश बाबू ने कहा—"दे दीजिये। मगर ऐसा कीजिये अगले रविवार को, कष्ट तो होगा आपको, घंटे-आध-घंटे के लिए मेरे यहाँ आ जाइये। बहुत दिनों से हम लोग एक साथ बैठे भी नहीं हैं। और हाँ, भोजन भी मेरे यहाँ कीजियेगा।···जी, यही बारह-एक बजे।···अरे साहब, बिलकुल शाकाहारी। इस विषय में भी मुझको अब बताने की जरूरत है? अच्छा, अच्छा, धन्यवाद।······सुखी रहो, राकेश। उस दिन के बाद फिर तुम दिखलाई ही नहीं पड़े।···हाँ, वो बात यह हुई ···अब तुमसे साफ़ ही कह दूँ—वसन्त की बातों ने हम लोगों को कुछ प्रभावित नहीं किया; बल्कि कुछ ऐसा लगा कि वह तुमसे भीतर-ही-भीतर, हृदय के कहीं किसी कोने में; ईर्ष्या भी रखता है। हालाँकि हमको तुम्हारे आपसी सम्बन्धों में हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है; लेकिन मुझे कुछ जान ऐसा ही पड़ा। जो हो, हम लोग अक्सर तुम्हारी याद करते रहते हैं।···हाँ, हाँ, अच्छा! हाँ, सोचते तो तुम ठीक ही हो। और संकोच जो तुमको हुआ, वह भी सर्वथा उचित है। पर ऐसी तो कोई बात नहीं कि तुम अगर हमको अपने यहाँ आमंत्रित करते, तो मैं उसे अस्वीकार कर देता। कोई बात नहीं। तुम्हारी परिस्थिति की कल्पना मैं कर सकता हूँ। अच्छा तो अब तुम कब आ रहे हो? ··हाँ, हाँ, अरे ऐसी क्या बात है! तुम कभी भी आ सकते हो। वैसे मैंने अगले रविवार को तुम्हारे विभाग के अध्यक्ष डाक्टर मिश्रा को बारह बजे भोजन पर बुलाया ही है। अब उनको अपने साथ ले आने का काम मैं तुम्हें सौंपता हूँ। बल्कि अच्छा हो, तुम थोड़ा पहले

यहाँ आ जाना, गाड़ी तुम्हें तैयार मिलेगी। फिर उसी पर उन्हें साथ लेते आना। "हाँ, हाँ, जियो जागो, सदा सुखी रहो।"

राकेश से फ़ोन पर वार्तालाप करके कैलाश बाबू ने रिसीवर यथावत् रखा ही था कि देखा—कला द्वार पर खड़ी है। मूक और विचार-मग्न। वसुधा पास ही कुरसी डाले बैठी थी और उसकी पीठ द्वार की ओर थी। इस स्थिति में वे कला से कुछ पूछते-पूछते रुक गये। तभी वसुधा ने कह दिया—चलो, यह कार्य-क्रम तुमने अच्छा बना दिया।

इतने में कैलाश बाबू ने जो द्वार की ओर देखा, तो कला जा चुकी थी। इसके बाद रविवार आ गया। कैलाश बाबू साढ़े ग्यारह बजे तक राकेश की प्रतीक्षा करते रहे; लेकिन वह नहीं आया। तब उन्होंने डाक्टर साहब के यहाँ कार पर वसुधा को ही भेज दिया। वे समय से आ भी गये। उन्होंने डाक्टर साहब से पूछा—राकेश आपके यहाँ पहुँचा था? उन्होंने बतलाया कि कल तो नौ बजे तक मेरे ही यहाँ था।

कैलाश बाबू ने पूछा—"और आज नहीं पहुँचा?"

डाक्टर साहब ने जवाब दिया—"आज तो नहीं आया।"

तब कैलाश बाबू कुछ चिन्ता में पड़ गये और सोचने लगे कि मेरे बुलाने पर भी राकेश आया क्यों नहीं। पति-पत्नी ने डाक्टर साहब को साथ बैठाकर आदरपूर्वक भोजन कराया। एकाध वाक्य उन्होंने राकेश के सम्बन्ध में पूछा भी। अंत में कह दिया—"इस लड़के के सम्बन्ध में ज़रा ध्यान रखियेगा। हम लोगों की एक आकांक्षा है कि जल्दी ही यह किसी अच्छे सिलसिले से लग जाय। वैसे कला के लिए दो-एक लड़के मेरी दृष्टि में हैं; किन्तु यह मुझे विशेष होनहार जान पड़ता है। यद्यपि इनकी तो शिकायत है कि वह व्यावहारिक नहीं है; किन्तु मेरा विचार दूसरा है। हर एक प्रतिभाशाली व्यक्ति कुछ अनोखा अवश्य होता है। और फिर इसका अनोखापन मुझे प्रिय है।"

धीरे-धीरे भोजन समाप्त हुआ अन्त में जब दोनों डाक्टर साहब को

विदा कर ही रहे थे, तभी द्वार मंच पर राकेश साइकिल पर आ पहुँचा।

सबको यथावत् अभिवादन करने के अनन्तर जब डाक्टर साहब विदा हो गए तब राकेश कैलाश बाबू के साथ बैठक में चला आया। कैलाश बाबू उसको बैठक में छोड़कर ज्योंही अन्दर पहुँचे, त्योंही वसुधा बोल उठी—'देखा तुमने! कहते थे—बड़ा होनहार है बड़ा प्रतिभाशाली है। पहली बार जो काम सौंपा, वही नहीं किया। तुम चाहे जो सोचो, लेकिन मुझे तो यह बात पसन्द नहीं आई। ऐसे लड़के का क्या भरोसा!"

कैलाश बाबू बोले—"ऐसी कोई चिन्ता की बात नहीं है कला की मां। अवश्य ही कोई-न-कोई कारण होगा। इतनी जल्दी हमको उस पर अविश्वास नहीं करना चाहिये। तुमको स्मरण होगा, डाक्टर साहब ने भी कहा था—यह लड़का वास्तव में होनहार है। मैंने उनसे कोई बात छिपाई नहीं। अगर उसमें ऐसी कोई गैर-जिम्मेदारी होती तो वे जरूर बतलाते।"

उत्तर में वसुधा ने कह दिया—"यह सब तुम जानो। पता नहीं क्या बात है! आज प्रातःकाल से ही कला कुछ खोई-खोई-सी जान पड़ती है। भोजन भी उसने मन से नहीं किया। व्यंग-विनोद के बिना जो एक घड़ी नहीं रह सकती, वही आज उदास, गम्भीर और अन्यमनस्क है। क्यों है, मेरी तो कुछ समझ में नहीं आता!"

"ऐसा होता है वसुधा, सबके साथ होता है। फिर तुम यह क्यों नहीं सोचती कि अगर उसके सम्बन्ध में हमें चिन्ता हो सकती है, तो उसे क्यों नहीं हो सकती! उससे कोई बात छिपी तो है नहीं।"

कैलाश बाबू की बात समाप्त हुई थी कि उन्होंने सुना—पार्श्व के कमरे से रेडियो-संगीत-लहरी का जो मन्द-मन्द स्वर फूट पड़ा है, उसके प्रारम्भ के बोल हैं—

"श्याम मोसे आँडो डोलै रे!'

क्षणभर के लिए मीरा की इस मर्मवाणी में उसकी आत्माभिव्यक्ति का ध्यान करते-करते वे कला के मनोभावों की संयोगात्मक अनुकूलता का पावन आभास देखने लगे। प्रसन्नता की एक मन्द झलक उनके आनन पर लहरा उठी। धीरे से वे कला के कमरे में द्वार पर जा खड़े हुए।

कला उस समय भी चित्राधार पर तूलिका चलाने में व्यस्त थी। तभी अवसर देखकर कैलाश बाबू ने कहा—"अपना वह चित्र तूने राकेश को नहीं दिखलाया, जिस पर उस दिन तूलिका का जीवन्न-स्पर्श दे रही थी।"

कला ने उनकी ओर उन्मुख होकर सहसा प्रकृत-परिहास में कह दिया—"चित्र की अनुप्राणता से एक दिन वे सभी प्रभावित होंगे पापा, जो आज इतने व्यस्त हैं कि आने का वचन देने पर भी टाल जाते हैं।"

"यह तू क्या बक रही है कला! राकेश कब से कमरे में बैठा है, तुझे पता भी है? मुझे तो इस समय एक प्रशासनिक समिति की बैठक में जाना है। आने में देर उसको ज़रूर हो गयी है मगर उसने खाना तो नहीं खाया होगा। अपने यहाँ यदि कोई भी सम्भ्रान्त अतिथि आता है तो उसका स्वागत-सत्कार आदमी थोड़े ही छोड़ देता है।"

इतने में वहीं खड़े-खड़े उन्होंने सुना, वसुधा राकेश के निकट जाकर कहने लगी—आज तुमने बहुत प्रतीक्षा करवाई राकेश। हम सब लोग बहुत परेशान थे। आखिर हमारे वचन का कुछ तो मूल्य होना चाहिये। ऐसा कभी नहीं सोचती थी कि तुम भी उसी सम्प्रदाय के हो जो अपनी जिम्मेदारियों को नहीं समझते। आखिर ऐसा कौन-सा कारण था कि तुम समय पर नहीं आये। हमारा तो सारा उल्लास ही तुमने नष्ट कर दिया था। ख़ैर कोई बात नहीं। मुझे आशा है भविष्य में तुम वचन के औचित्य का ध्यान रखोगे। चलो, योंही बहुत देर हो गई,

न कला ने भोजन किया है न मैंने। चलो आओ इधर निकल आओ।"

राकेश ने बहुत शांत, शिष्ट और मृदुल भाषा में उत्तर दिया—"माता जी, इस समय आप सबकी दृष्टि में मैं अपराधी तो हूँ ही; क्योंकि समय का ध्यान मैंने नहीं रखा। लेकिन समय का ध्यान, यह कृत्रिम सभ्यता, यह दायित्व की माँग, इन सबसे ऊपर भी एक वस्तु है। आपको मालूम होना चाहिये कि मेरी जगह पर दूसरा कोई होता तो इस समय यहाँ कदापि न आता। मेरे देखते-देखते एक रिक्शेवाला ट्रक की टक्कर से बुरी तरह आहत हो गया। उसका प्राण संकट में छोड़कर मैं चला आया और उसे बलरामपुर हास्पिटल में। उसकी माँ महीनों से बीमार है और पिता अन्धे हैं!"

बात करते-करते राकेश की आँखों में आँसू भर आये, कंठ रुँध गया। अन्त में उसने कह दिया—"आप लोग कुछ भी समझें, मानवता से अधिक दायित्वमयी वस्तु मेरे लिए इस विश्व में कोई नहीं है। कुछ भी नहीं है।" और आँसू पोंछते पोंछते उसने कहा—"मैं खाना नहीं खाऊँगा। मैं खाना खाने नहीं आया हूँ।" और इतना कहते-कहते वह तुरन्त उठकर चल दिया।

राकेश चला जा रहा था और पीछे से सब-के-सब इकट्ठे होकर द्वार तक आते-आते कहते जा रहे थे—"मगर भोजन तो किये जाओ राकेश। ऐसी क्या बात है! थोड़ी देर बाद चले जाना।"

कैलाश बाबू कपड़े पहन चुके थे। वे द्वार-मण्डप की सीढ़ियाँ उतरते हुए गुनगुनाते जा रहे थे—हूँ, हमसे कहा जाता है, वह व्याहारिक नहीं है। अब भी लोगों की समझ में न आये, तो मैं क्या करूँ।"

थोड़ी देर में—

कला रिसीवर कान से लगाये हुए किसी से कह रही थी—"हाँ, चाचीजी, पापा तो एक जरूरी काम से गाड़ी लेकर चले गये। और मुझे भी संयोग से इसी समय तुरंत हास्पिटल पहुँचना है। ज्यादा-से-

ज़्यादा मुझे आधा घण्टा लगेगा। चाची, आपकी बड़ी कृपा होगी, ज़रा अपनी कार भेजवा दीजिये। यस, जस्ट नाऊ···नहीं, नहीं; कोई पारिवारिक घटना नहीं है।"

और थोड़ी देर पश्चात् कला बलरामपुर हास्पिटल में राकेश के पास जा पहुँची और रोगी की रिपोर्ट सुनकर थोड़ी आश्वस्त होकर बोली—"तुमने मुझे बहुत ग़लत समझा है। जब कर्तव्य की पुकार होगी, तब भी तुम समझते हो, मैं तुमसे पीछे रहूँगी ?"

राकेश स्तब्ध होकर खड़ा-खड़ा कला का मुँह देखने लगा। तुरन्त वह कोई उत्तर न दे सका। तब कला ने कह दिया—"तुम मेरे यहाँ आये और ममी से लड़कर लौट आए। मैं कब से तुम्हारे लिए व्याकुल हूँ, मैं जानती हूँ क्षणभर के लिए भी तुमने न सोचा होगा···ख़ैर।" फिर घड़ी को देखती हुई बोली—"तीन बज रहे हैं। आपको तो समय की परवाह रहती नहीं···!"

राकेश ने उत्तर दिया—"वैसे तो मैं आज भोजन न करता, जब तक कि मरीज़ को सचेत अवस्था में न देख लेता; किन्तु मानसिक और शारीरिक दोनों ही प्रकार से अपने को क्षणभर भी शिथिल होने का अवसर देना जन-सेवक का धर्म नहीं। इसके अतिरिक्त अब इस दशा में, तुमको भूखा रखना भी मुझे सहन न होगा। चलो, भोजन कर ही लें।"

बातचीत करते हुए राकेश डाक्टर साहब के पास जा पहुँचा। वे कमरे के अन्दर—एक सीरियस आपरेशन करके हाथ धो रहे थे। तौलिये से हाथ पोंछकर जब वे बाहर निकले तो राकेश ने पूछा—"डाक्टर साहब, यह रिक्शेवाला भला कितनी देर में सचेत होगा ? मेरा मतलब यह है कि इन्होंने अभी भोजन नहीं किया है।" उसका संकेत कला की ओर था।

डाक्टर गुप्ता कला की ओर उन्मुख होकर कुछ सोचते हुए बोले—"आपको मैंने कई बार देखा है। अगर मैं ग़लती नहीं करता तो आप शायद मिस कैलाश ही हैं न ?"

कला ने हाथ जोड़कर संकोच के साथ कह दिया—"हाँ चाचाजी, मैंने भी आपको अपने यहाँ देखा है।"

"तो तुम यहाँ कैसे ?"

कला पहले कुछ विचार में पड़ गयी। व्रीड़ा की एक अरुणाभा उसके आनन पर लहर उठी, किन्तु अपने को संभालते हुए उसने उत्तर दिया—"चाचाजी, पापाजी ने इन्हें आज भोजन के लिए आमन्त्रित किया था—इन्हीं को लेने के लिए आयी हूं।"

डाक्टर साहब ने उत्तर दिया—"हूँ, हूँ, तब आप लोग जा सकते हैं। वैसे मेरा खयाल यह है कि···पाँच बजे के बाद ही होश आयेगा।"

राकेश यह कहते हुए चल दिया—"मैं ज्यादा-से-ज्यादा घण्टेभर में लौट आऊँगा।"

दोनों जब कार पर जा रहे थे तो कला सोच रही थी—'घटनाओं के इस तारतम्य में जगत् स्रष्टा का बहुत बड़ा हाथ है।' फिर सहसा उसके मुख से निकल गया—"आपको उस घटना का स्मरण भला काहे को होगा, जिसमें केवल एक आशंका और भ्रम के कारण आपके भिजवाये हुए चेस्टर को, आवश्यकता होने पर भी, शरीर पर धारण करने से मैंने इनकार कर दिया था !"

राकेश के मुख से निकल गया—"यही आप लोगों की सभ्यता है !"



: ८ :

हज़रतगंज के चौराहे और इण्डिया-काफ़ी-हाउस के, फुटपाथ पर कैलाश बाबू हाथ में छड़ी और शरीर पर शाल डाले खड़े हुए ही थे कि उन्होंने देखा—वसन्त साइकिल से निकल रहा है। झट उन्होंने पास खड़े हुए एक व्यक्ति से कह दिया—'ज़रा इस लड़के को बुलाना।"

वह व्यक्ति झट से आगे बढ़कर बोला—"बाबू साहब ज़रा एक बात सुनियेगा।"

वसन्त साइकिल से उतर पड़ा। बोला—"कहिए।"

तब उसने कह दिया—"आपको साहब याद कर रहे हैं।"

वसन्त ने आगे बढ़कर कैलाश बाबू को प्रणाम किया।

इतने में आशीर्वाद के साथ कैलाश बाबू बोले—"कई दिन से तुम दिखाई नहीं पड़े वसन्त।"

"पापाजी मैं बड़ा दुःखी हूँ।"

उसका मुख गम्भीर था और स्वर में पीड़ा जान पड़ती थी।

कैलाश बाबू ने कह दिया—"मैं जानता था वसन्त, इसीलिए मैंने अभी तुम्हें बुलवाया। शाम को घर पर ज़रूर मिलना।"

सायंकाल जब वसन्त कैलाश बाबू के पास पहुँचा, तो राकेश जा चुका था। वसुधा फलाहार करके उठी थी और कला एक चित्र बना रही थी। ऐसा चित्र, जिसमें भगवान् कृष्ण के हाथ में वंशी थी और राधा द्वार की ओट में खड़ी-खड़ी गाय के बछड़े के सिर पर हाथ फेर रही थी और गाय खूँटे से बँधी हुई पागुर कर रही थी।

वसन्त आगे बढ़ गया।

कैलाश बाबू लान पर टहल रहे थे। वसन्त को देखकर द्वारमंच की ओर मुड़ गये और बोले—"इधर निकल आओ।"

वसन्त जो अन्दर पहुँचा तो कैलाश बाबू ने बैठते ही पूछा—"बोलो, क्या बात है? दुःख का क्या कारण है?"

वसन्त अब भी गम्भीर था, बोल उठा—"पापाजी मैंने कभी सोचा नहीं था कि जीवन में ऐसा भी एक दिन आ सकता है जब राकेश मेरा अपमान करेगा। मेरे बतलाए हुए मार्ग पर न चलकर अपना एक स्वतन्त्र मार्ग बनाने पर उद्यत हो जायगा और हमारे ही घर के अंदर, हमारे ही मित्रों के बीच में, मेरी बुराई करने को तत्पर हो उठेगा।"

कैलाश बाबू के मुँह से निकल गया—"हूँ···और कुछ?"

वसन्त ने उत्तर दिया—"बस, मूल बात तो इतनी ही है और जो कुछ भी है वह इसी में निहित है।"

"तो तुम समझते हो कि राकेश बुराई से परे है?"

"मेरा यह मतलब नहीं पापाजी।"

'तो तुम यह समझ बैठे हो कि तुम बुराई से परे हो?'

वसन्त चुप रह गया। कैलाश बाबू बोले—"तुम्हें शायद नहीं मालूम कि सबसे बड़ी बुराई यह है कि हम बुराई के बदले में बुराई-दर-बुराई करते हुए अपने-आपको भला समझ बैठते हैं!"

वसन्त अब भी चुप था; तब तक वसुधा ने आकर कहा—"गोपीलाला के यहाँ से कोटिंग के कुछ थान आये हुए थे। उनका कहना है—'जो पसन्द हो, उसे ले लें, तो बाकी मैं लेता जाऊँ···।"

इतने में कला उछलती हुई आ पहुँची। आज उसकी चोटियों में नीले रंग की रिबन की तितली गुँथी हुई थी। पैरों में गरारा और दोनों कन्धों पर लहराती हुई चुन्नी, जिसका कण्ठ के नीचेवाला अंश चुन्नटदार था। कुरते का रंग गरारा से मैच करता था और पैरों के सैण्डिल्स भी उसी वर्ण के थे। दोनों पैरों के नख सजग लाल थे और हाथ की दोनों कनिष्ठिका अँगुलियों के बढ़े हुए नखों की लालिमा लहक रही

थी। मस्तक के बीच में नासिका के ठीक ऊपर लाल-लाल ज्योति-चिह्न था; ऊपर बहुत महीन और नीचे क्रमशः मोटा होता हुआ, उसके नीचे बड़ी बिन्दी फिर छोटी बिन्दी। कानों में ऐसे टाप्स, जिनका निम्न भाग तो मोतियों का और ऊपरी भाग स्वर्ण-पत्र पर नगीनों से जड़ा हुआ। कान के शेष भाग पर सोने के तारों का जाल, गले के लाकेट में हीरे के जड़े हुए कण।

अब कमरे के बीच में लगी हुई शुभ्र, श्वेत प्रकाशदायक दो छड़ियाँ जल चुकी थीं और कला के लाकेट के हीरों के कण जगमगा उठते थे।

सहसा वसन्त की दृष्टि जो उस पर जा पड़ी, तो उसका उदास-उदास पराभूत मन एक उल्लास से भर गया।

इतने में कैलाश बाबू बोले—"कला की मां, यह काम तो तुम अपने-आप कर सकती थीं।"

वसुधा मुस्कराती हुई कुछ कहने जा रही थी कि कला बोल उठी—"पापा, आधा जाड़ा निकल गया, मगर आधा क्यों, दो-तिहाई—और इस साल मेरे लिए तुमने कोई गरम कपड़ा नहीं बनवाया।"

"तो अब बनवालो न? ऊँ···अच्छा···ऐसा करो, उन थानों को यहीं भेज दो, तो वसन्त भी अपने लिए पसन्द कर लेगा।"

वसुधा लौट गयी और कला पास पड़ी हुई रबर की गद्दीदार कुर्सी पर बैठ गयी।

वसन्त सोचने लगा—'इतने दिन मैं जो नहीं आया, यह भी अच्छा नहीं हुआ। यह तो मानी हुई बात है कि कमज़ोरियाँ मुझ में भी हैं। मगर तुरन्त इसी क्षण उसके भीतर का शैतान बोल उठा—इस समय अगर मौलश्री न होती तो कला के साथ मेरा····!' फिर इसके बाद एक बात और उसके मन में आयी कि यदि यह राकेश न होता तो···? फिर अपनी ही इस भावना के उद्भव पर वह कुछ सशंकित हो उठा, यह मुझको क्या हो गया! मैं यह सब क्या सोचने लग गया और तुरन्त उसने कह दिया—"पापाजी, मैं अब कोट क्या बनवाऊँगा!"

"क्यों ? तुम्हारे पास कितने कोट हैं ?"

वसन्त बोला—"एक पुराना पड़ गया, दूसरा एक यह है।"

कला ने कह दिया—"यह भी तो पुराना पड़ गया।"

कैलाश बाबू को कला का यह कथन कुछ अच्छा नहीं लगा। उन्होंने कह दिया—"कला मैं तुमसे ऐसे कथन की आशा नहीं करता।"

"पापाजी, दो महीने तो हो गये इसे पहनते हुए।" वसन्त बोला—"इसलिए कलाजी का यह कहना उचित ही है।"

"नहीं वसन्त, सब बातें करने की नहीं होतीं।"

इतने में अर्दली थान लेकर आ पहुँचा और साथ-साथ वसुधा और गोपीलाला।

गोपीलाला ने कमरे के अंदर क़दम रखते ही कह दिया—'जै राम-जी की। हें···हें···आपकी तबियत तो ठीक है ? ·· हें·· हें·· मेरा मतलब यह कि रात को नींद तो आती है ? हाजमा दुरुस्त है ?···हें··· हें ···कोई टानिक तो जरूर लेते होंगे सेक्रेटरी साहब ?'

कैलाश बाबू ने उत्तर तो कुछ न दिया, मुस्कुराहट भी दबा ली और चश्मा उतारकर मखमली टुकड़े से लेंसों को रगड़ते हुए एक बार वसुधा की ओर देखा और लालाजी की ओर उन्मुख होकर कह दिया—"हमारा तो सब ठीक ही है भगवान् की कृपा से। पर आप कहिए ! आपके दाँतों के इस नये सेट ने तो आपको एक तरह से जवान ही बना दिया। बत्तीस के जान पड़ते हो।···क्यों वसुधा, क्या ख़याल है तुम्हारा ?"

कैलाश बाबू का इतना कहना था कि सारा कमरा हास्य से गूँज उठा।

गोपीलाला कुछ संकुचित हो उठे। बोले—'हें···हें···जवान तो अब क्या होंगे साहब ! ग़ालिब ने शायद इसी वक़्त के लिए कहा था—

'हम भी समझते हैं जन्नत की हक़ीक़त लेकिन'

'दिल के खुश करने को ग़ालिब ये ख़याल अच्छा है।'

लाला जी का कथन पूरा होते-होते वसुधा, कला, वसन्त सब-के-सब गम्भीर हो उठे।

"वाह !' कैलाश बाबू के मुंह से निकल गया—'क्या बात कही है आपने लालाजी !"

और गोपीलाला ने करुणाविगलित स्वर में कह दिया—"आपको पता नहीं कि अभी तीन महीने भी नहीं हुए, मेरे गोदाम में आग लग गयी थी। दो लाख छियासी हजार रुपये की हानि हुई। उसी का यह नतीजा है कि मुझे अब इस बुढ़ापे में दौड़ना पड़ रहा है !"

कथन के साथ उनकी आँखों में आँसू भर आये।

कैलाश बाबू ने पूछा—"यह सब थान भला कितने के होंगे ?"

गोपीलाला मन-ही-मन पुलकित होकर बोले—"·· हें-हें···दाम कभी मत पूछा कीजिये कैलाश बाबू। बीजक देखकर जैसा मुनासिब समझेंगे, बिल बना देंगे। आपसे कुछ ज्यादा थोडे ही ले लेंगे ?"

"फिर भी कुछ अन्दाज़ तो होना चाहिये।"

"पहले पसन्द कर लीजिये।"

"आप मेरा मतलब नहीं समझे !"

"वह तो मैं समझता हूँ···हें···हें···सब समझता हूँ सेक्रेटरी साहब। मगर मेरा मतलब यह है कि सब लेकर क्या करेंगे आप ? मेरे कारण आपको अगर थोड़ी भी तकलीफ़ हो गयी तो आप समझते हैं, मुझे अच्छा लगेगा !"

कैलाश बाबू ने कुछ सोचते हुए उत्तर दिया—"अच्छा, अच्छा। तुमको कौन पसन्द है वसन्त ?'

"मुझे तो स्लेटी कलरवाला सर्ज पसन्द है, पापाजी।"

और कला ने कह दिया—"मुझे यह शरबती।"

कैलाश बाबू ने पूछा—"और कला की माँ तुम ?"

वसुधा ने उत्तर दिया—"मेरे पास काफ़ी कपड़े हैं। मुझे कुछ बनवाने की ज़रूरत नहीं।"

और कैलाश बाबू बोले—"ज़रूरत तो मुझे भी नहीं है, मगर एक चेस्टर का कपड़ा मैं ले लूँगा। अच्छा ऐसा कीजिये, लालाजी कि सबके पसन्द के लिए आप अब दे ही दीजिये।"

वसुधा बोली—"इसमें जो सबसे अच्छा हो कला के पापा, वह पूरे सूट का राकेश के लिये ले लो।"

वसन्त सोचने लगा—"राकेश के लिए पूरे सूट का और मेरे लिए केवल कोट का!—जबकि पहले मैं पैदा हुआ। कैलाश बाबू के साथ पहले परिचय मैंने स्थापित किया। कालेज में उनका अभिनन्दन मैंने करवाया। कविता मैंने लिखी और मैं ही राकेश को यहाँ ले भी आया।' एक बार उसके मन में आया—'कपड़ा लेने से मैं इनकार ही क्यों न कर दूँ इस समय! लेकिन फिर यह सोचकर रुक गया कि इस भावुकता में क्या रखा है। जो कुछ मिल रहा हो उसको तो कभी छोड़ना ही न चाहिये, किन्तु इसी क्षण अपने पसन्द किये हुए कपड़े की ओर संकेतकर एकाएक वह प्रश्न कर बैठा—"यह कपड़ा है कितना?"

लालाजी बोल उठे—"साढ़े पाँच गज। एक सूट और केवल एक कोट का कपड़ा है।"

कैलाश बाबू ने कह दिया—"तो पेंट के लिए तुम कोई दूसरा कपड़ा पसंद कर लो।"

वसन्त के मन में आ रहा था—'मतलब यह कि राकेश को एक ही कपड़े का पूरा सूट बनेगा। मुझको कोट और पेंट के लिये अलग-अलग कपड़ा दिया जायगा। तब तो अच्छा होगा कि मैं सर्ज न लेकर गैबरडीन ले लूँ।' अतएव उसने कह दिया—"पापाजी, वरदान की घड़ी जब सामने आ ही जाय, तब मैं देवता के सामने अपने मन की बात कहने में हिचकूँगा नहीं। सूट मैं एक ही कपड़े का बनवाऊँगा। इसलिए मैं सर्ज न लेकर यह गैबरडीन लूँगा।'

कैलाश बाबू ने कह दिया—"हाँ, यह ठीक है।"

और लालाजी बोल उठे—"...हें...हें...इसका और दाम भी ज़्यादा है।"

अब कैलाश बाबू से न रहा गया। उन्होंने पूछा—"कला तू ने कौनसा कपड़ा पसन्द किया?"

"मुझे तो यह ट्वीड पसन्द है पापाजी।"

अब कैलाश बाबू बोले—"पहले इस कला को यह ट्वीड निकाल दीजिये दो गज़।"

उनका इतना कहना था कि लालाजी की कैंची चलने लगी।

लालाजी कला की ट्वीड तहा ही रहे थे कि वसुधा बोल उठी—"अब राकेश और वसंत दोनों के लिए यही गैबरडीन दे दो। क्यों कला के पापा? मेरे ख़याल से यही ठीक रहेगा। अन्तर क्यों रखा जाय? वसंत की प्रतिक्रिया मेरी समझ में आ गई।"

कैलाश बाबू वसुधा की ओर देखकर मुस्करा उठे।

"प्रतिक्रिया की बात नहीं माताजी।" वसंत बोला—"प्रतिक्रिया भला मैं क्यों पालूँगा। राकेश मेरा भाई ही तो है।"

कैलाश बाबू इस पर कुछ न बोले।

अर्दली दरवाज़े पर खड़ा था। उसे देखकर कैलाश बाबू ने कह दिया—"लालाजी को आज यहाँ देर बहुत हो गयी। अच्छा, ऐसा करो कि उनके लिए अन्दर जाकर चाय बनवा दो।"

"......हें......हें...ऐसा आप क्यों करते हैं...इतना कष्ट करने की क्या ज़रूरत है? यूँ भी आपके एहसान मुझ पर कम नहीं हैं...हें...हें......।'

कैलाश बाबू ने कह दिया—"कोई किसी पर एहसान नहीं करता लालाजी। करनेवाला तो कोई दूसरा ही है तो हम सब उसके मोहरे और पाँसे हैं!"

लालाजी ने मुग्ध होकर कह दिया—"आपकी इन बातों को सुनकर मैं अपने घर में भी, लल्लू की अम्मा से अकसर कहा करता हूं कि

जो सुख मुझे सेक्रेटरी साहब के यहाँ बैठक में मिलता है, उसके आगे ...हें...हें...स्वर्ग भी मात है !"...

इतने में कला ने कह दिया—"लालाजी, अगर आपमें यह गुण न होता, तो गरम कपड़ों की इस खरीद में बड़ा अन्तर पड़ जाता ।"

यह बातें चल ही रही थीं कि राकेश आ पहुँचा। उसका चेहरा बहुत उतरा हुआ था। अतिशय गम्भीर अवस्था में देखकर वसुधा ने पूछ दिया—"क्या बात है राकेश बेटे ! बहुत परेशान जान पड़ते हो !"

राकेश ने सिर ऊपर उठाते हुए आँसुओं की भाषा में कह दिया—"आखिरकार हम उस रिक्शेवाले को किसी तरह बचा नहीं सके माताजी ! अभी-अभी उसका देहान्त हो गया ।" और इतना कहते-कहते वह बैठक से हटकर दूसरे कमरे में चला गया।

राकेश बहुत दिनों के बाद आज प्रसन्न था। जब वह साइकिल से पैडिल मारता हुआ आगे बढ़ता कैसरबाग से रिवर-बैंक कालोनी की ओर जाते हुए इधर-उधर की दूकानें और इमारतें छोड़ता जाता, तो उसे किसी दुकान पर खड़े, किसी मकान की सीढ़ी उतरते हुए, किसी ताँगे पर जाते अथवा पैदल हाथ में दो-एक मोटी जिल्द की पुस्तकें लिये कोई तरुणी दिखलाई पड़ जाती। तत्काल वह सोचने लग जाता—"कला की बात ही और है !" उसने कहा था—"तुमने मुझे बहुत ग़लत समझा है। जब कर्तव्य की पुकार होगी, तुम समझते हो, तब भी मैं तुमसे पीछे रहूँगी ?"

राकेश को ऐसा जान पड़ता था, एक सच्चा जीवन-साथी इसी तरह बोलता है। यह समर्पण की वाणी है, कोरे स्वप्न की भाषा नहीं—समर्पण भी मानस-लोक का, सो भी सेवा के मार्ग में। यह सामन्तवादी अधिकारवाद की आडम्बरपूर्ण कौतुकवल्लरी का अनिल विकम्पन नहीं।

पग-पग पर सहयोग देने की पावन भावना का हार्दिक उल्लास और उत्फुल्ल मन का रागात्मक स्पन्दन है। थोड़ा ग्रौर आगे बढ़ने पर उसने देखा—कैलाश बाबू की गाड़ी खड़ी हुई है, जिसमें ऊष्मा, रजनीगन्धा ग्रौर कला बैठी हुई थीं। ऊष्मा उससे उतरकर एक मकान के ग्रन्दर जाने के लिये जो उधर बढ़ने लगी, तो उसने कह दिया—"ग्ररे राकेश तुम कहाँ ?"

राकेश ठिठका ग्रौर उसने उत्तर दिया—"मैं ज़रा बाबूजी के यहाँ; मगर तुम ?"

ऊष्मा बोली—"मैं यहाँ मालिनी को लेने जा रही हूँ। शोभा में 'कालिदास' देखना है। रजनी ग्रौर कला भी साथ में हैं। तुम भी चलो न ?"

"मैं ग्रौर कालिदास ! बहुत बड़ी दूरी है।"

"तुम सदा इसी प्रकार बहकी-बहकी बातें किया करते हो। जीवन को सदा हँसी-खुशी के साथ बिताना चाहिये।"

राकेश को रिक्शेवाला का ध्यान हो आया। बोला—"हँसी-खुशी बड़ी अच्छी चीज़ है दीदी। लेकिन मानवीय सहानुभूति की करुणामयी ग्राँखों में जो ग्रमृत का झरना है उसे सुखाकर भी क्या जीवन में कोई हर्षोल्लास शेष रह जाता है। पास-पड़ोसी ग्रौर हमारे चारों ग्रोर जो कर्मक्षेत्र है उसका दुख-दैन्य, पीड़ा ग्रौर चीत्कार जो ग्राँखें देखें नहीं पातीं, कान सुन नहीं पाते, वे ग्राज कितने ग्रमानवीय हो गये हैं, कभी सोचा है तुमने ?"

अब कार में बैठी रजनीगन्धा ग्रौर कला भी उठकर राकेश के पास ग्राकर खड़ी हो गयीं। तब तक ऊष्मा बोली—"तुम्हारी हर एक बात कितनी प्राणमयी होती है, इसको क्या हम लोग जानती नहीं या मुझे ग्रब तुम्हारे सम्बन्ध में बहुत कुछ जानना शेष रह गया है ! मैं तो केवल इतना कहना चाहती हूँ कि तरुण जीवन के इस उषाकाल में ही तुम जो यह ग्रनासक्ति-योग-साधन कर रहे हो, उसका भविष्य क्या होगा, यह

तुमको तो सोचने की आवश्यकता है नहीं, लेकिन हम लोग प्रायः सोचा करते हैं।"

ऊष्मा की इस बात पर कला गम्भीर हो उठी और उसके मन में आया कि वह उससे स्पष्ट कह दे कि अगर तुम उनकी बातों का मर्म नहीं समझ सकतीं, तो उनसे बेकार बहस ही क्यों करती हो? परन्तु धृष्टता के विचार से, केवल इस भावना से कि दीदी कहीं बुरा न मान लें और केवल यह ध्यान रखकर कि रजनीगन्धा कहीं कोई अन्यथा अर्थ न लगा बैठे, उसने कुछ नहीं कहा। तब तक ऊष्मा फिर बोल उठी—"मानती हूँ कि जन-गण की सेवा, दीन-दुखी व्यक्तियों की सहायता, जीवन-संघर्ष में निरन्तर आहुति देनेवाले असहाय और अनाश्रितों को अवलम्ब देना बहुत बड़ी साधना है; किन्तु साधक भी तो समय पर खाना खाता है, कपड़े बदलता है, मित्रों में बैठकर घड़ी-दो-घड़ी मनोविनोद करता है। लेकिन तुम तो पत्थर के देवता बने जा रहे हो राकेश। थोड़ा अपनी स्थिति पर विचार करो।"

ऊष्मा की इस बात को सुनकर कला मौन न रह सकी। उसने कह दिया—"दीदी, ऐसा करो कि तुम मालिनी को ले लो और रजनी के साथ सिनेमा देख आओ। मुझे विवश न करो।"

राकेश ने एक बार कला की ओर देखा और मुस्कराता हुआ बोल उठा—"पर मेरे कारण तुम अपने कार्यक्रम में परिवर्तन क्यों करोगी कला? ऐसी तो कोई बात है नहीं कि मुझे तुम सब लोगों का सिनेमा देखना अप्रिय लग रहा हो! मैं तो केवल अपनी बात कह रहा हूँ।"

कला इस अवसर पर कुछ बोली तो नहीं, पर उसके मन में आया—शेक्सपियर ने कहा था—'अपने आपको सबसे अंत में प्रेम कर।' और तब उसने कह दिया—"तुम कुछ भी कहो, किन्तु मालूम नहीं क्या बात है, मैं सदा यही सोचती रहती हूँ कि सेवा से बढ़कर स्वर्ग का और कोई रास्ता नहीं है।"

राकेश बोला—"तुमको शायद मेरी परिस्थिति का ज्ञान नहीं।

अभी घण्टा-भर भी नहीं हुआ, रिक्शेवाले ने अपनी इहलीला संवरण कर दी है। घर के लोगों को शायद पता भी न होगा—और पता होकर भी क्या होगा। मां महीनों से बीमार है और पिता अन्धे हास्पिटल के बाहर सड़क, उस सड़क की बिलकुल नग्न धरती पर छोड़ आया हूँ। केवल दो अपरिचित व्यक्ति पास खड़े-खड़े चन्दा इकट्ठा कर रहे हैं। जो लोग पास से निकलते हैं वे पैसा-दो-पैसा देकर आगे निकल जाते हैं। उसका भी अपना जीवन था। वह भी कुछ आशा लेकर इस संसार में आया था। क्या उसके जीवन में सौख्य-मन्दाकिनी की कोई गंगोत्री न रही होगी? लेकिन हमारी इस दुनिया ने उसका कितना मूल्य आँका?··· और अब उसका शान्ति-संस्कार करने की पावन घड़ियों में तुम मुझसे सिनेमा देखने का अनुरोध कर रही हो ऊष्मा दीदी!”

कला के कण्ठ से सिसकियाँ और नयनों से आँसुओं के मोती फूट निकले। रजनीगन्धा रोमांचित हो उठी और करुणाविगलित वाणी में ऊष्मा ने कह दिया—“बस-बस राकेश, तुम्हारा ही रास्ता ठीक है। अब हम में से कोई सिनेमा देखने नहीं जायगा। चलो कला, हम लोग अपने पास-पड़ोस से कुछ चन्दा इकट्ठाकर उसका अन्तिम संस्कार तो घूमधाम से करवा ही दें। जीवन में जिसको कभी गाजा-बाजा नसीब नहीं हुआ, मरण के घाट पर तो करुणा का शंखनाद एक बार अच्छी तरह हो जाय!”

दूसरे दिन प्रातःकाल राकेश जब घर से निकला, तो वह क्या देखता है कि एक कार खड़ी है और ऊष्मा, कला, रजनीगंधा आदि अनेक लड़कियों का समूह उससे उतर रहा है।

राकेश ने निकट जाकर पूछा—“कहो दीदी, मेरे योग्य कोई सेवा?”

ऊष्मा ने कला की ओर दृष्टि घुमा दी।

और कला ने तब एक लिफ़ाफ़ा राकेश की ओर बढ़ाते हुए कह दिया—“ये रुपये उस रिक्शेवाले के माता-पिता की सहायता के लिये इकट्ठे हो गये हैं।”

हर्ष-गद्गद होकर राकेश सौ-सौ के पाँच, दस-दस के चार, पाँच का एक, दो का एक और इक्यावन नये पैसे गिनते और सँभालते हुए बोला—"आज मुझे विश्वास हो गया कि तुम लोग हमारे नगर की दरिद्र जनता के लिए कुछ-न-कुछ सदा करते रहने का ध्यान रखोगी। करुणा का जो झरना आज तुम्हारी इस सहानुभूति से फूट पड़ा है, वह कभी सूखेगा नहीं।"

क्षणभर तक सब तरुण बालाएँ स्तब्ध मौन खड़ी रहीं। अन्त में ऊष्मा ने कह दिया—"कभी कोई भी सेवा हमारे लायक हो, तो हमें अवश्य याद कीजियेगा। हमको भूलियेगा नहीं। चलो कला, चलें।"



: ९ :

वसन्त के ताऊ ब्रजनन्द बाबू बहुत दिनों के बाद आये थे। यह सोच कर कि छोटे भाई के बाल-बच्चों का घर ठहरा, बहुत दिनों से चिट्ठी-पत्री बन्द रही है। हो सकता है बाल-बच्चा भी कोई हो गया हो वसंत के। हालाँकि ऐसी कोई बात होती तो सूचना अवश्य मिलती, अब तो राकेश भी विवाह के योग्य हो गया है। ज़्यादा न सही तो फिर भी आध सेर ढाई पाव भारती भवन के पिछवारेवाली गली का नमकीन और कर्नलगंजवाले बंगाली की दूकान का रसगुल्ला तो सेर-आध सेर ले ही चलना पड़ेगा। झोले में यह सब सामग्री, गमछा, धोती, लोटा-गिलास के साथ लिए हुए वे जब वसंत के घर पहुँचे, तो प्रातःकाल के आठ बज गये थे। मौलश्री स्नान करके गीली धोती पहने भगवान् सूर्य को जलांजलि दे रही थी और एकादशी हुरसा पर चन्दन का मूठा धीरे-धीरे रगड़ती हुई सोच रही थी—'हुकुम तो आगया है कि राकेश को डाक्टर की उपाधि देना निश्चित हो गया, किन्तु जब तक उसकी नौकरी नहीं लगती, तब तक उपाधि को लेकर ही क्या होगा! जहाँ जाती हूँ वहाँ उसकी बड़ाई सुनने को मिलती है कि अब नगर-भर में एक भी भिखारी नहीं बचेगा। कहीं उनकी शकल भी दिखाई न पड़ेगी किसी को। सब काम में लग जायेंगे। कोई चर्खा कातेगा, कोई चारपाई बुनेगा, कोई मूँज तैयार करेगा, कोई टोकरी, दरी और बोरेवाला टाट तैयार करेगा। छोटे-छोटे उद्योग बड़े पैमाने पर किये जायँगे। बच्चों की पढ़ाई का इन्तज़ाम अलग होगा। सबको कपड़ा मिलेगा। रहने के लिए साफ़ मकान और भोजन के लिए उत्तम प्रबन्ध। रहन-सहन में कोई अन्तर न होगा—लेकिन जो काम अच्छा या सीमा

से अधिक करेगा, उसको इनाम तो मिलेगा ही, तनख्वाह भी उसकी बढ़ जायेगी। सभी कहते हैं—बड़ा भारी काम कर डाला है इन लोगों ने। मैं भी सोचता हूँ, देखती हूँ, सचमुच काम बड़ा है। मगर वसन्त का कहना है कि यह काम चलेगा थोड़े! जितनी रक़म इकट्ठी हो रही है, सब लोग मिल कर चाट जायँगे। तीन साल के अन्दर ही सब लोग भाग खड़े होंगे। जो आज करघा चलाते हुए 'रघुपति राघव राजाराम' का आलाप करते हैं, वे ही एक दिन फिर मोची-के-मोची होकर दाता-धर्मातमा करते हुए गली-गली मारे-मारे फिरेंगे!

इसी समय उसे राकेश का कथन याद आ गया जो उसने इसके उत्तर में दिया था—"भइया का कहना ठीक भी हो सकता है। क्योंकि हमारे देश में एक ऐसा दल है, जो असहयोग, नमक-सत्याग्रह और सन् बयालिस के आंदोलन के समय सदा देश का बुरा चेतता रहा है। वह सदा यही नारा लगता रहा—इन लोगों के किए-धरे कुछ न होगा। आजादी कहीं अहिंसा-अहिंसा चिल्लाने और हाथ जोड़कर माँगने से मिलती है! इस वर्ग के लोग दुर्भाग्य से आज भी हमारे देश में फैले हुए हैं; अछूतों के लिए कोई काम करो, तो कहेंगे कि यह लोग नास्तिक हैं। धर्म को नहीं पहचानते। ज़मींदारी-उन्मूलन के समय यह लोग कहा करते थे—'ऐसा कभी हो ही नहीं सकता।' आज जब हिन्दी राष्ट्रभाषा हो गयी, तो दफ़्तरों में घुसे हुए यही बाबू लोग चिल्लाते हैं, 'अंग्रेजी के बिना काम नहीं चल सकता।' आज कोई भ्रष्टाचार के विरुद्ध कुछ कहता है, तो ये लोग कहते हैं—'हिन्दुस्तान में तो कुछ भी नहीं है। यह बीमारी तो अब सारे संसार में फैल गयी है! और इसमें दोष ही क्या है? यह तो व्यापार है। आप हमारा काम कर दीजिये, हम आपका कर दें। आपका इतना बड़ा स्वार्थ-साधन हो रहा है, हज़ारों का बिल पास करने की बात कह रहे हैं, इसमें पसंवे के बराबर अगर आप हम को दे भी देंगे, तो इसमें आपका क्या बिगड़ जायगा? अरे भाई साहब—'तुलसी पंछिन के पिये घटै न सरिता नीर!' हर एक दुष्कर्म के लिग इनके पास तर्क

हैं ; शास्त्रों के प्रमाण हैं ; स्मृतियों के नीति-कथन हैं । यह लोग कुछ भी कह सकते हैं, कुछ भी कर सकते हैं । अम्मा तुम देख लेना, यह लोग सदा बकते रहेंगे । मगर देश की उन्नति और विकास का कारवाँ कभी रुकेगा नहीं । हम लोग इसी धरती को एक दिन स्वर्ग बना देंगे । मैं जिस काम में हाथ डालता हूँ, उसे पूरा करके छोड़ता हूँ । मैं जो भी काम करूँगा, वह पूरा होकर रहेगा अम्मा, विश्वास रखो ।'

इतने में आ पहुँचे व्रजनन्दन बाबू ।

'अरे कोई है घर में ?···वसन्त···राकेश···! वसन्त की मां !'

घूँघट पहले मस्तक के नीचे, फिर आँखों के नीचे तक खिसकाकर एकादशी ने धीरे से कह दिया—"आओ दादा ।" किन्तु एक ही वाक्य कहते-कहते उसका कण्ठ भर आया ; आँखें सजल हो उठीं । जीवन में पहली बार बच्चों की अनुपस्थिति में वह मुँह खोलकर अपने जेठ से बोली थी । मौलश्री सूर्यांजलि देकर भीतर चली गयी और एकादशी ने दक्षिणी तिदुवारी की ओर बैठने का संकेत कर दिया जहाँ पलँग पड़ा हुआ था और बिस्तर समेटा हुआ सिरहाने रखा था ।

बिरजू बाबू बड़े धर्मसंकट में पड़ गये । बच्चे तब छोटे-छोटे थे । दो में से कोई-न-कोई घर में बना ही रहता था । जो कभी मुझसे मुँह खोलकर बोली नहीं, वह आज कैसे बोले और मैं ही उससे क्या बात करूँ !

इतने में आ गया राकेश । दरवाज़े पर ही सैण्डिल उतारता हुआ बोला —"ओः, ताऊजी ! आपने तो हम लोगों को भुला ही दिया ।" कथन के बाद निकट आकर चरण छूते हुए खम्भे की ओट में खड़ा हो गया ।

बिरजू बाबू ने अपना झोला उठाकर धोती, गमछा और लोटा-गिलास निकालकर पास में रख लिया और बाकी सामग्री मिष्टान्न आदि—रास्ते में कुछ सेव, केले और कुछ संतरे ले लिये थे, वह भी उसमें पड़े थे—देते हुए कह दिया—'लो राकेश, अपनी मां को दे दो ।'

एकादशी ने आपद्धर्म के विचार से जल्दी से आँगन में रखे हुए शंकरजी की प्रतिमा को अंजलि दी । चन्दन, अक्षत और पुष्प चढ़ाये

और हाथ जोड़े। फिर राकेश को पास बुलाकर बोल उठी—"दादा के लिए चाय बनाओ; मगर ठहरो, जाओ; भाभी से कहो—बना दें। मेरी पूजा अभी थोड़ी बाकी रह गई है। भाभी से कहना—थोड़ा हलुवा भी बना दे। नहीं तो ऐसा करो, बाज़ार से मिठाई ले आओ। रवा शायद घर में हो, न हो। गरम पानी से पैर धो दो। थके-हारे आये हैं।"

"मैं सब ठीक कर लूँगा अम्मा, तुम अपनी पूजा में लगी रहो।"

राकेश जो मौलश्री के पास जाकर चाय के लिए कहने लगा, तो मौलश्री ने उत्तर दे दिया—"किसी चीज की कमी नहीं है। सब सामान रखा है। रवा भी है।" और कथन के साथ वह अँगीठी भी सुलगाने लगी।

राकेश तुरन्त बिरजू बाबू के पास आकर बैठ गया। बोला—"चाची अच्छी तरह से हैं? मुनियाँ तो अब सयानी हो गयी होगी? मैं जब गया था, तब उसके दाँत निकल रहे थे। देखे बहुत दिन हो गये दादा।"

बिरजू बाबू ने गरम कोट उतारकर खूँटी पर टाँग दिया। राकेश ने बिस्तर से कम्बल निकालकर उनके पैरों पर डाल दिया। बिरजू बाबू बोले—"मुनियाँ तो अब आठ बरस की हो गयी। लेकिन चुनियाँ अलबत्ता बहुत बढ़ गई है। एक लड़का तय कर दिया है, उसका तिलक भेजना है। छोटी को मैं लेने आया हूँ। बिना उसके कैसे काम चलेगा! आज के दिन अगर भइया बने होते, तो मेरे लिए किस बात की कमी रहती! तुम जानते ही हो कि आजकल लड़की के ब्याह में ख़र्च कितना पड़ता है! सोलह सौ रुपये तय हुए थे, तिलक में भेजने के लिये; अभी तक उसी की पूर्ति नहीं हो पायी है। आगे कैसे पूरा पड़ेगा, भगवान् जाने! क्या कर रहे हो आजकल?"

राकेश मुस्कराने लगा। बोला—"क्या बताऊँ दादा, कैसे दिन काटे कैसे पढ़ाई पूरी की, इसकी एक बड़ी लम्बी कथा है। संक्षेप में इतना ही समझ लीजिये कि जिस किसी ने कोई काम सौंपा उसे

मैंने जान लड़ाकर पूरा अवश्य कर दिया। इसलिए भगवान् की कुछ ऐसी कृपा रही कि कोई भी काम कभी रुका नहीं। कभी-कभी तो ऐसे-ऐसे अवसर मिले कि···परीक्षा के दो महीने रह गये हैं। एक ज्वाइण्ट मजिस्ट्रेट ने बुला लिया मालूम नहीं उन्हें मेरा पता कैसे लग गया। मैं जो उनके पास गया, तो उन्होंने इण्टर में पढ़ती हुई एक लड़की को बुलाकर सामने कर दिया। बोले—"इसकी इंगलिश बहुत कमज़ोर है। हाई स्कूल में तो किसी तरह द्वितीय श्रेणी पा गयी थी, लेकिन अब इस बार परिणाम मुझे अनिश्चित मालूम पड़ता है। उन्होंने मुँह खोलकर कुछ कहा नहीं। मैंने कुछ माँगा नहीं। मैंने पहले महीने में कोर्स पूरा करवा दिया और दूसरे महीने में पत्र-लेखन, निबन्ध-लेखन, लोकोक्ति और मुहावरे। महापुरुषों की वाणी आदि में कसकर इतनी मेहनत ली कि संयोग की बात कुसुमलता प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुई। चोपरा साहब ने परीक्षाफल प्रकाशित होने पर मुझे अपने घर बुलाया—और जो सुनता है वही आश्चर्य करता है।—मुझे पाँच सौ रुपये पुरस्कार दे में दिये। दादा, बस इसी तरह ख़र्च चलता रहा। आपके चरणों के प्रताप से इसी तरह एम० ए० कर लिया और इसी तरह डाक्टरेट भी पा ली। अब आशा है, जुलाई में कहीं-न-कहीं लग ही जाऊँगा।"

इतने में मौलश्री ने निकट आकर खाँसते हुए अन्दर आने का संकेत कर दिया।

राकेश भीतर चला गया। मौलश्री ने कहा—"लला किशमिश नहीं है। यह लो चवन्नी, झट से ले तो आओ। देर मत करना।···और हाँ, छुट्टा पान भी लेते आना आधी ढोली। लाओ चवन्नी लौटा दो, रुपया ही लेते जाओ।"

राकेश चला गया। एकादशी माला फेरती हुई कभी-कभी सोचने लगती, 'बिटिया का ब्याह है। टटोलने के लिए आये होंगे कि कुछ मदद मिल सकती है कि नहीं। वसन्त और राकेश, राकेश का पढ़ना, मैं, बहू, मकान का किराया, कितना भार सँभालना पड़ा! कभी ख़बर भी न

ली कि कैसे दिन कट रहे हैं ! और आज हम सगे हैं ! अब आपको पैसे की ज़रूरत है । ख़ैर, मैं जिस लायक हूँ, ज़रूर करूँगी ।···मन भटक ही जाता है जब चिन्ता होती है···ॐ नमःशिवाय, ॐ नमःशिवाय !'

बिरजू बाबू सोच रहे थे—'कौन जानता था, राकेश इतना तेज़ निकलेगा ! कपड़े पहनने तक का शऊर तो इसको था नहीं । आज ये आसमान से बातें करता है । हीरा है हीरा, आज इसने मेरी तबीयत हरी कर दी । ढाई-तीन-सौ की नौकरी कहाँ गयी है ? मुमकिन है, चार सौ तक पाये । सारे वंश का नाम इसने ऊँचा कर दिया । कोई बड़ा घर जो पा गया, तो दस हज़ार मार देगा । अब बढ़ते क्या देर लगती है ! दस-पन्द्रह बरस में कोठी और कार हो जायगी । दो-चार नौकर-चाकर हो जायँगे । फिर इसके आगे हमारी क्या हैसियत रह जायगी ! राम राम, हमसे बड़ी ग़लती हो गयी । यह तो चुनिया के ब्याह में भी मेरी मदद कर सकता था । अच्छे-से-अच्छा लड़का भी इसके मार्फ़त मिल सकता था । क्या दस-पाँच भी ऐसे दोस्त इसके न होंगे, जो एक-से-एक बड़े आदमियों के लड़के हों !···राम-राम, हमसे बड़ी ग़लती हो गयी । पुरुष पारस होता है । हम सदा ही ग़लती करते रहे । आदमी की पहचान कभी हमको हुई ही नहीं । मगर अब क्या हो सकता है ।"

एकादशी पूजन समाप्तकर के उसी कमरे में आकर, दीवार से सटकर बैठ गयी । अब तक उनको इतने निकट से एकादशी को देखने का अवसर न मिला था । आज इस वैधव्य-वेश में देखकर वे सोचने लगे—'यह तो देवी है, देवी । पूजा और उपासना में संलग्न यह तपस्विनी हमारे घर की लक्ष्मी है ।' यकायक अपने छोटे भाई अवधनन्दन का स्मरणकर सजल-नयन हो उठे । बोले—"आज अगर भइया बने होते, तो हमें कमी किस बात की थी ?" फिर एक निःश्वास लेकर बोल उठे—"ब्याह तो चुनिया का हो ही जायगा, लेकिन उतना उत्साह—दिल खोलकर ख़र्च करने की वह सामर्थ्य हममें अब कहाँ रह गयी है ! छोटे

भइया पुरुष रूप में पारस थे। लक्ष्मी तो उनके संकेत पर बरसती थी। वसन्त के विवाह में मैंने कई बार उनसे कहा था, सोच-समझकर ख़र्च करो। मगर वे बोल उठे—"हमेशा ऊँची नज़र रखा करो दद्दा! जो आदमी अवसर आने पर भी ख़र्च नहीं करता, उसका दिल छोटा हो जाता है। एक-एक बात उनकी मुझको याद आ रही है। संसार में हज़ारों आदमी देख डाले, वैसा रूप ही नहीं दिखलाई पड़ता। सफ़ेद रेशमी कुरता और बढ़िया-से-बढ़िया धोती चुनियाकर जब वे चप्पल पहनकर निकलते, तो ऐसा जान पड़ता था, जैसे कोई मिल-मालिक जा रहा हो! वसन्त के ब्याह में जब समधौरा होने लगा, मैंने उनको समझाया, कई लोगों ने कहा कि असली समधी तो तुम्हीं हो, पर उन्होंने किसी की न मानी। स्पष्ट कह दिया—'जब आप लोग हमारी भावना को नहीं समझते, तो बात ही क्यों करते हैं! समधौरा भइया का ही होगा, मेरा नहीं।' उस समधौरे में मिली हुई शाल अब तक मेरे पास है और आज भी ऐसा जान पड़ता है, जैसे कल ख़रीदी हो।"

एकादशी सिसक-सिसककर रोने लगी। इतने में आ गया राकेश। मौलश्री को सब सामग्री देकर मां के पास एक चटाई डालकर बैठ गया।

बिरजू बाबू बोले—"भैया के लिए रोना तो जीवन-भर बना रहेगा। वसन्त काम से लग ही गया, राकेश भी लग जायगा, थोड़े दिनों में। लेकिन अब इसका ब्याह तो हो ही जाना चाहिये। मुझसे कई लोगों ने कुण्डली माँगी है।"

एकादशी बोल उठी—"बातचीत तो यहाँ भी चल रही है।"

"चल रही है! बहुत अच्छा! कैसा घर है?"

राकेश उठकर चला गया।

एकादशी धीरे से बोल उठी—"दद्दा, घर तो बहुत बड़े आदमी का है। लड़की भी पढ़ी-लिखी है! लेकिन यही सोचती हूँ कि सम्बन्ध तो

बराबरी में ही अच्छा रहता है। बड़े घर की लड़की हमारे यहाँ क्या सुख पायेगी ?"

"कौन लोग हैं ?"

"सचिवालय में अनुशिक्षासचिव। कोठी में रहते हैं। घर में कार है, नौकर-चाकर हैं ! क्या नहीं है ? लेकिन यहाँ तो कुछ भी नहीं है। यही एक ऐसा संकोच है, जो किसी तरह निकाले नहीं निकलता। जिनके घरों में पानी भी अपने हाथ से गिलास उठाकर नहीं पिया जाता, उस घर की लड़की से हमारे घर का काम कैसे होगा ? हम तो चौका-बरतन के लिए नौकरानी भी नहीं रख पाते !"

बात तो तुम बिलकुल ठीक कहती हो, वसन्त की मां मगर ऐसा संयोग भी बड़े भाग्य से मिलता है। फिर यह बातें तो उनके सोचने की हैं।

"हाँ, जब उनको इसमें कोई आपत्ति नहीं है, तो हमको क्यों हो ? आखिर उन्होंने भी तो कुछ सोचा होगा !"

"मैं भी यही उचित समझता हूँ कि अब तुम इसको निपटा ही डालो। कब तक करने का विचार है ?"

"मैं वसन्त से चिट्ठी लिखवाने ही वाली थी दादा। करना-धरना तो सब कुछ तुम्हीं को है।"

"सो तो ठीक ही है। पर जब कोई हमारे पास आयेगा, तो ठीक ढंग से बातें भी करूँगा। बड़े आदमी हैं, तो बड़ा दहेज भी देना चाहिये। बारह हज़ार से कम में तो मैं बात भी नहीं करूँगा !"

आशा के अनेक रूप हैं। कभी वह भीतर से उत्पन्न होती है, कभी बाहर से। कभी सीधे सामने आकर मुस्कराने लगती है, कभी पीछे खड़ी होकर खिलखिला उठती है। कभी क्षितिज पर उदय होती हुई किरण की भाँति झलक उठती है, कभी सायंकालीन नीलाभ गगन पर सतरंगी इन्द्रधनुष बनकर चकित कर देती है। वे मन-ही-मन सोचने लगे—'राकेश का विवाह अगर कहीं पहले हो जाय, तो भी कोई सहारा मिल सकता है। अन्तर चाहे आठ ही दिन का पड़े। क्योंकि राकेश की तो कोई

बहन है नहीं।' फिर प्रसन्नता से पुलकित हो बोले—"मैं बहुत ठीक मुहूर्त से आया हूँ। यह ब्याह तय करके ही जाऊँगा।"

इतने में राकेश एक प्लेट में हलुआ, दूसरे में बेसन की पकौड़ी और चाय एक थाल में रखकर सामने आ पहुँचा। तभी एकादशी बोल उठी—"वसन्त आये तो कह दूँ कि दादा आ गए हैं, जो कुछ बात-चीत करनी हो, कैलाश बाबू कर लें। मगर···" इतना कहती-कहती हँस पड़ी—"मगर मैं सोचती हूँ, उन्हें बैठाऊँगी कहाँ? इस घर में तो उनके बैठने लायक कोई कुर्सी भी नहीं है!"

चाय का सामान देखकर बिरजू बाबू बाले—"अभी मैंने स्नान नहीं किया राकेश! तुमने बेकार यह सब सामग्री तैयार करवा ली।"

राकेश बोल उठा—"दादा, जाड़े के दिनों में तो सबेरे मुझसे नहीं नहाया जाता और खान-पान के सम्बन्ध में मेरे विचारों में भी कुछ अन्तर आ गया है। लेकिन आप ऐसा कीजिये कि चाय तो अभी पी ही लीजिये। उसके बाद स्नान कर डालिये। मैं पानी गरम करवाये देता हूँ···।"

"अब जब तुम्हीं बिना स्नान-ध्यान के सब कुछ खाने लगे, तो मेरा बचाव कहाँ रह गया और परहेज करके हम करेंगे भी क्या?"

एकादशी ने मुस्कराहट छिपाने के लिये अपना मुँह ढक लिया। तुरन्त उठकर वह दूसरी ओर चली गयी।

राकेश बोल उठा—"दादा, मै जानता था कि आपके विचारों में भी अवश्य ही परिवर्तन हुआ होगा। आप कुछ भी कहें। युगधर्म से हम बच ही कैसे सकते हैं!" यह बातें हो ही रही थीं कि यकायक राकेश को स्मरण हो आया—'उसने साढ़े नौ बजे दीनबन्धु पाण्डेय एम०एल०ए० से मिलने का समय दिया है। अतएव वह बोल उठा—"दादाजी, मैं तो अब चलूँगा। मुझे इसी समय एक साहब से मिलना है। बल्कि पहुँचते-पहुँचते थोड़ा लेट भी हो जाऊँगा। मुश्किल यह है कि यहाँ भइया भी नहीं हैं इस वक्त। अच्छा, हो सका तो मैं अभी फ़ोन करके लौटता

हूँ। फिर किसी दूसरे समय मिलने की बात तय कर लूँगा।"

ऐसा कहकर वह ज्योंही बाहर आया, त्योंही जगन्नाथ सामने आ कर बोला—"राकेश बाबू हमारा एक काम करवा दीजिये। लालबाग में एक दूकान खाली है। उसके एलाटमेण्ट का पत्र तो मैंने भेज दिया है, लेकिन आपको थोड़ा ज़ोर लगाना पड़ेगा।"

राकेश बोल उठा—"पहले यह बताओ कि आज का मामला तो नहीं है?"

"सो तो अभी काफ़ी देर है। आवदेन-पत्र मैंने आज ही भेजा है।"

"तब ठीक है। मैं सब देख लूँगा, तुम एक काम करो। आज संयोग से हमारे ताऊ आ गये हैं। क्षौर-सामग्री लाकर ज़रा उनकी दाढ़ी बना दो और नहला-धुला दो। वर्षों के बाद आये हैं। क्या सोचेंगे! जाओ, जाओ, जल्दी आओ, मैं एक ज़रूरी काम से जा रहा हूँ। देर में लौटूँगा।"

जगन्नाथ, राकेश की इस बात को सुनकर बोला—"वाह भाई साहब! आज कितने वर्षों के बाद आपने मुझे सेवा करने का अवसर दिया है।"

राकेश सोचने लगा—सर फ़िलिप सिडनी ने कहा है और बहुत अच्छा कहा है—'या तो मुझे रास्ता मिलेगा ही, या फिर मैं स्वयं बना लूँगा।'

डाक्टर मिश्रा रामायण पढ़ चुके थे। सोने जा ही रहे थे कि एकाएक टेलीफ़ोन की घण्टी बज उठी। रिसीवर को जो कान से लगाया तो कैलाश बाबू ने कहा—"हलो डाक्टर साहब, कहिये, क्या चल रहा है?...हाँ, उस दिन भी ऐसा ही पावन संयोग था।... मैंने अब उस विषय में अपना इरादा पक्का कर लिया है।... हूँ... हूँ ...हाँ, तो ऐसा कीजिये,

कल किसी समय आ जाइये। हाँ-हाँ, अच्छा शाम को सही।···अभी मैं इस विषय में सलाह-बात के लिए और किसी को बुलाना उचित नहीं समझता। नहीं-नहीं, अभी तो वसन्त से भी बात नहीं करूँगा। हर्ज तो नहीं है, लेकिन वसन्त के स्वभाव ने मेरे ऊपर कोई बहुत अच्छा प्रभाव नहीं डाला। खैर, यह हमारी आपस की बात है। आशा है, आप ही तक रहेगी।···तो फिर कल निश्चय रहा कि आप आ रहे हैं। हाँ-हाँ, मैं गाड़ी भेज दूँगा।···अच्छा नमस्कार।"

दूसरे दिन जब डाक्टर मिश्रा कैलाश बाबू के समाने बैठे हुए चाय पी रहे थे, तब एकाएक वसुधा ने हाथ जोड़कर कह दिया—"नमस्ते मिश्रा जी।" और मिश्राजी ने प्रति नमस्कार करते हुए कह दिया—"कहो भाभी, क्या हाल-चाल है ?"

वसुधा तालियों का गुच्छा लिये पास पड़ी हुई कुर्सी पर बैठती हुई बोली—"आजकल तो कला के विवाह की समस्या ही हमारी रातदिन की चिन्ता का विषय बन गया है।"

"चिन्ता का तो है ही; हालाँकि मुझे तो सब कुछ अनुकूल ही दिखाई पड़ता है।"

"देखिये जब सब कुछ सकुशल हो जाय। क्योंकि आप जानते हैं, ये मामले कैसे नाजुक होते हैं।"

"चाहे जैसे नाजुक हों, पर भाई साहब और आपका प्रभाव, व्यवहार, शील-सौजन्य, ऐसे उच्च स्तर का है कि इसमें कोई बाधा-विघ्न आयेगा ही नहीं ··और आयेगा भी तो आसानी से सुलझ जायगा।"

इतने में कैलाश बाबू ने कह दिया—"अब सबसे बड़ा प्रश्न मेरे सामने यह है कि इस विषय को आगे बढ़ाया कैसे जाय ?"

कुर्सी पर बैठे पैर हिलाते हुए मिश्राजी बोले—"राकेश के परिवार में यहाँ तो वसन्त ही एक ऐसा व्यक्ति है, जिससे बातचीत प्रारम्भ की जा सकती है।"

चाबियों का छल्ला घुमाती हुई वसुधा ने कह दिया—"पर मेरी राय में पहले राकेश की मां को साध लिया जाय, फिर जैसा वे कहें वैसा किया जाय।"

कैलाश बाबू ने पूछा—"लेकिन राकेश की मां से कौन मिले और बातचीत कहाँ की जाय?"

"सबसे अच्छा तो यह होगा कि आप उनको अपने यहाँ किसी संयोग से बुला लीजिये और जीजी से बातचीत कराकर उनका मन्तव्य ले लीजिये। वैसे मैं चाहती तो यह थी कि उस समय वहाँ मैं भी आ जाती। पर एक बार उनका मन्तव्य जानकर ही उनसे मेरा मिलना ठीक होगा।"

"भाभी, मुझे कुछ ऐसा स्मरण आ रहा है कि राकेश के ताऊ अभी जीवित हैं। यद्यपि वे इलाहाबाद में रहते हैं। उनकी कोई कौटुम्बिक प्रभुसत्ता तो नहीं है, किन्तु विवाहादिक मामलों में उन्हीं की प्रमुखता मान्य होगी।...... और जब एक बार उनकी स्वीकृति हमें मिल जायगी, तब फिर कोई अड़चन न आयेगी। इधर हम राकेश की मां को भी अपने घर बुलाकर बातचीत प्रारम्भ कर देंगे।"

कैलाश बाबू ने कह दिया—"हाँ, बस यही ठीक रहेगा। वैसे राकेश के ताऊ करते क्या हैं?"

मिश्राजी बोले—"यह तो मैं ठीक नहीं कह सकता, लेकिन माघी पूर्णिमा का एक ऐसा अवसर है कि हम इसी बहाने वहाँ जाकर उनसे बातचीत कर सकते हैं। यह और भी अच्छा होगा...।"

इतने में बैठक की चिक का परदा एकाएक हिल उठा।

वसन्त कमरे के दरवाज़े पर खड़ा हुआ अर्दली से अन्दर जाने के लिए पूछ रहा था, जिसके उत्तर में उसने कह दिया—"ज़रा ठहर जाइये बाबू साहब! अभी साहब किसी से बहुत ज़रूरी बात कर रहे हैं।"

अर्दली का इतना कहना था कि वसन्त ने कह दिया—"अच्छी बात है। इस समय मैं चला जाता हूँ। थोड़ी देर बाद फिर आऊँगा।"

अन्दर जो बातें हो रही थीं, उनकी कुछ भनक वसन्त के कानों में पड़ गयी थी। अतः जब वह द्वारमञ्च से आगे बढ़कर फाटक की ओर जाने लगा, तो उसने देखा—माली, पाइप के नीचे बाल्टी रखे हुए पानी भर रहा है। चुपके से वसन्त ने उसके निकट जाकर पूछा—"तुमको मालूम है, अन्दर साहब किससे बातें कर रहे हैं?"

माली ने उत्तर में कह दिया—'नाम त हमका नाहीं मालुम, पर डराइवर कहत रहै कि यूनिसवर्टी के मिसराजी के पास जाय क है। आपै न अन्दर जाय कै पता लगाय लेव!'

माली का इतना बतलाना ही वसन्त के लिए यथेष्ट था। अतएव वह फिर किसी से कुछ भी कहे बिना चुपचाप वहाँ से लौट गया।

अब सायंकाल के छः बज रहे थे। वसन्त सीधा हेड पोस्टआफ़िस आकर अपने ताऊ को पत्र लिखने लगा।

पूज्य ताऊजी,

सादर चरण-स्पर्श। बहुत दिनों से आपका दर्शन नहीं हुआ और मुझे भी इलाहाबाद आने का कोई काम नहीं लगा। हम लोग यहाँ अक्सर आपकी याद कर लेते हैं। नवीन समाचार यह है कि यहाँ पर अनुशिक्षासचिव महोदय की लड़की कला के साथ राकेश के विवाह की बातचीत भीतर-ही-भीतर चल रही है। अभी मेरे कान में तो नहीं पड़ी है; पर विश्वस्त सूत्र से मुझे मालूम हो गया है। सम्भव है, कन्या-पक्ष का कोई प्रतिनिधि आपसे मिलने के लिए आये। मेरा तो आपसे यही निवेदन है कि आप उनको सोच-समझकर जवाब दें। बहुतेरी ऐसी बातें हैं, जो पत्र में लिखने की नहीं हैं; पर आशा है कि आप इतने ही से बहुत कुछ समझ जायँगे। अम्मा आपको प्रणाम कहती हैं। चाची को मेरा सादर चरण-स्पर्श और विनोद, प्रमोद को शुभाशीष। चम्पाकली तो अब सयानी हो गयी होगी। उसको मेरा प्यार।

आपका चरण-सेवक—

वसन्त।

चिट्ठी लेटरबाक्स में छोड़कर वसन्त पुनः साइकिल उठाकर कैलाश बाबू के यहाँ जा पहुँचा ।

तब तक मिश्राजी लौट गये थे और कैलाश बाबू एक डायरी हाथ में लिये हुए वसुधा से वार्तालाप कर रहे थे ।

वसन्त को सामने देखते ही वसुधा ने कह दिया—"आओ वसन्त । कहो, तुम्हारा सूट सिल गया ?"

वसन्त ने दोनों को प्रणामकर प्रसन्नता के साथ उत्तर दिया—"आपकी कृपा से ।"

कैलाश बाबू ने पूछा—"सिलाई कितनी दी ?"

"पापाजी, सिलाई तो बहुत देनी पड़ गयी ।"

"फिर भी कितनी ?"

वास्तव में सिलाई के दाम वसन्त ने पैंतालिस रुपये दिये थे ; पर उसने कह दिया—"पचास रुपए सात आने ।"

कैलाश बाबू बोले—"कला की मां, ये रुपये तुम आज ही इनको दे देना ।"

"दे दूँगी । अभी तो आये हैं । बैठेंगे, खाना खायेंगे ।"

इतने में कला ने निकट आकर कह दिया—"पापा, तुम तो कभी पिक्चर देखने जाते नहीं । आजकल 'शोभा' में कालिदास लगा हुआ है । मैं देख आऊँ ?"

"साथ में कौन जा रहा है ?"

"रजनीगन्धा और ऊष्मा दीदी ।"

"आई हैं क्या ?"

दोनों पीछे खड़ी हुई थीं । झट से आगे बढ़कर ऊष्मा ने कह दिया—"प्रणाम दादा ।" और रजनीगन्धा बोली—"ताऊजी नमस्ते ।"

कैलाश बाबू बोले—"अच्छी तरह तो हो, ऊष्मा बेटी ?"

विवाह हो जाने के बाद वह प्रथम बार कला के यहाँ आयी थी ।

अतः एक अभिनव व्रीड़ा के साथ सिमटती-झिझकती ऊष्मा किञ्चित् आगे बढ़ते हुए बोली—"आपके आशीर्वाद से।"

और रजनीगन्धा की ओर उन्मुख होकर कैलाश ने कह दिया—"और रजनी रानी तुम तो आजकल दिखलाई ही नहीं देतीं। रेडियो पर अलबत्ता कभी-कभी तुम्हारी शास्त्रीय रागिणी सुनने को मिल जाती है।"

रजनीगन्धा ने किञ्चित् गम्भीर होते-होते उत्तर दिया—"पिताजी जब से लकवा के अटैक से चारपाई से लग गये, तब से…। ताऊजी, आप तो जानते हैं कि अब निर्वाह के लिए रेड़ियो प्रोग्राम्स का ही एक मात्र सहारा रह गया है।"

चश्मा उतारकर सामने रखते हुए कैलाश बाबू बोले—"पुरुषार्थी व्यक्ति की सबसे बड़ी विजय यही है बेटी कि वह संकट आने पर भाग्य के कोप के आगे घुटने न टेककर, कौशल से गति का नया मार्ग निकाल लेता है।"

अतिशय प्रभावित होती हुई रजनीगन्धा ने कह दिया—"ताऊजी आपकी वाणी में अमृत का वास है। पिताजी सदा आपकी याद करते रहते हैं।"

"किसी दिन मैं उन्हें देखने आऊँगा बेटी।"

वसन्त ने जो तीनों को एक साथ देखा, तो उसे ऐसा जान पड़ा, जैसे वे तीनों मिलकर गंगा, यमुना और सरस्वती हों। फिर वह मन-ही-मन सोचने लगा—"ताऊ को पत्र लिखने में मैंने बड़ी जल्दबाज़ी की। राकेश के साथ अगर कला का विवाह होगा, तो मेरा घर-द्वार, आँगन-कक्ष—सब-का-सब एक अलौकिक आभा से जगमगा उठेगा। किन्तु—नहीं, जो वस्तु मेरे भाग्य में नहीं बदी है, उसे मैं राकेश के भाग्य से भी दूर ही रखूँगा!'

कला अतीव अभिनव और मनोहर वेश-भूषा में सज-धजकर आयी थी। रजनीगन्धा की सजावट में कमी न थी, किन्तु रूप-माधुरी में वह

कला से पीछे थी। ऊष्मा का वेश-विन्यास मध्यम श्रेणी का था। इसके सिवा अवस्था भी उसकी कला से अधिक थी।

वसन्त कला को देखकर पहले मुग्ध हो उठा, फिर उसको राकेश के भावी सौभाग्य पर ईर्ष्या हुई, एकाएक उसका द्वेष भड़क उठा। क्षण-भर में इन सभी बेकार की भावनाओं ने उसके मानस को क्षुब्ध कर दिया।

इतने में कैलाश बाबू ने कला की ओर उन्मुख होकर कह दिया—"अच्छा, अब तुम लोग जाओ।"

तीनों प्रसन्न पुलकित चली गयीं। रजनीगन्धा ने लौटते हुए कला के कन्धे पर हाथ रखकर कह दिया—"मैंने कहा न था कि हम लोगों के साथ जाने के लिए ताऊजी कभी मना नहीं करेंगे।"

उनको एक साथ लौटते हुए देखकर वसन्त सोचने लगा—'मेरी चाहे जो दुर्गति हो, पर मैं राकेश को इस सौभाग्य से वञ्चित न होने दूँगा। कला जैसी लड़की जब मेरे घर की शोभा बढ़ायेगी तो मेरी कविता में प्राण आ जायगा। मौलश्री ने कहा था—'फिर भी हम भूलें करते जाते हैं।' और पापा ने भी तो कहा था—'सबसे बड़ी बुराई यह है कि हम एक बुराई के बदले में बुराई-दर-बुराई करते हुए भी अपने आपको भला समझते हैं!' फिर इन लोगों का मेरे प्रति ऐसा उदार व्यवहार···नहीं, नहीं···मुझसे बड़ी ग़लती हो गयी।···पर अब क्या हो! लेकिन आज कला ने मुझको यहाँ बैठा देखकर कुछ कहा नहीं। यह भी नहीं पूछा कि आप कब आये? अधिक न सही तो इतना तो कह ही सकती थी, आज कई दिनों बाद दिखलाई पड़े। पर यह भी तो हो सकता है कि उसका ध्यान सिनेमा की ओर लगा हो। इसके सिवा उसकी सखियाँ भी साथ में थीं।'

वसुधा भीतर चली गयी और कैलाश बाबू सोचने लगे—'वसन्त का मत तो हम इस सम्बन्ध में ले ही सकते हैं।' किन्तु उन्होंने वसुधा से रुपये दिलवाने के बजाय स्वयं जेब टटोलकर रुपये देते हुए

कहा—"वसन्त, हमारा जीवन तो तुम देख ही रहे हो ! एकमात्र कला ही पर सब आशाएँ टिकी हुई हैं । तुम लोग जो घर में आ जाते हो, तो मैं अपने जीवन का यह अभाव भी भूल जाता हूँ । मुझे आशा है कि तुम भी कभी मुझसे संकोच न कर अपनी आवश्यकताएँ मुझे बतलाते रहोगे ।" मतलब यह कि अगर कभी मैं कुछ भूल भी जाऊँ, तो उसकी याद अवश्य दिला दोगे ।

वसंत सोचने लगा—'ताऊ को चिट्ठी लिखकर कितना बुरा काम मैंने कर डाला है ! कैलाश बाबू ने अपनी बात का सिलसिला स्थिर रखते हुए कह दिया—"इस समय कला के विवाह की समस्या ही रात-दिन हम लोगों के चिंतन का प्रधान अंग बन गयी है ।"

"पापाजी, कोई-न-कोई लड़का तो, आपने अपने मन में, तय कर ही लिया होगा ?"

"तय तो नहीं किया है, सोच-विचार अवश्य चल रहा है ।"

मत्थे पर हाथ रखकर वसंत सोचने लगा—ये सामंतवादी लोग कभी खुलकर बात नहीं करते । राकेश अगर इनको प्रिय नहीं है और उसको अधिकृत करने की इनके अंदर कोई योजना नहीं है, तो आखिर इस प्रकार मुक्तहस्त होकर हम लोगों को खिलाने-पिलाने और पहनाने का तात्पर्य क्या है ? ये राकेश के साथ कला का विवाह करना अवश्य चाहते हैं । उसके लिए तत्पर भी हैं और भीतर-ही-भीतर तैयारी भी कर रहे हैं, किंतु अहंकार इनके अन्दर इतना प्रबल है कि स्वयं मुँह खोलकर कहना नहीं चाहते ।—अच्छा, इस अवसर पर अगर मैं अपनी ओर से प्रस्ताव कर दूँ और पूछूँ कि राकेश के विषय में आपका क्या ख़याल है, तो कैसा हो !...

वसंत यह सोच ही रहा था कि इतने में कैलाश बाबू बोल उठे—"बहुत दिनों से एक बात मैं तुमसे पूछना चाहता था, वसंत । लेकिन जान-बूझकर उसे टाल रहा था । टाल क्या रहा था, बल्कि अध्ययन

कर रहा था। वैसे एक लड़का है मेरे मन में, लेकिन मेरी अपनी अभिरुचि के अनुरूप उसमें कुछ कमी है। एक तो उसके पिता नहीं हैं। दूसरे वह अभी किसी उद्योग में नहीं लगा। सामाजिक मर्यादा भी उसकी सामान्य स्तर की है। केवल एक विशेषता उसमें ऐसी है, जो मुझको मोह में डाल देती है। वह व्युत्पन्न और प्रतिभाशाली बहुत है। कभी-कभी तो मैं यहाँ तक सोचता हूँ कि वह या तो एक दिन, हमारे प्रदेश का, बहुत बड़ा जननायक होगा या कोई विभागीय मन्त्री।"

वसन्त थोड़ा मुस्कराया और सोचने लगा—'जो लक्षण-गुण ये बतला रहे हैं, राकेश में वे सब-के-सब निहित हैं। फिर भी ये उसका नाम नहीं लेना चाहते !...वाह ! क्या अद्‌भुत चरित्र है इनका ? तब उसने कह दिया—"पापाजी, राकेश के भविष्य के विषय में आपका क्या ख़याल है ?"

उसका इतना कहना था कि इसी क्षण राकेश ने अन्दर आकर कैलाश बाबू के चरण-स्पर्श करते हुए कह दिया—"बाबूजी, मेरी थीसेस स्वीकृत हो गयी।" फिर जेब से एक लिफ़ाफ़ा निकालकर उन्हें देते हुए बोला—"देखिये। रजिस्ट्रार का यह पत्र भी मुझको मिल गया।"

इसके बाद उसने वसन्त के चरण-स्पर्श करते हुए कह दिया—"तुम यहाँ बैठे हो और घर में ताऊजी तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

कैलाश बाबू हर्ष-गद्‌गद् होकर केस के भीतर से चश्मा निकालकर पत्र पढ़ने लगे। राकेश अन्दर चला गया और वसन्त कुछ सोचता हुआ बोला—"अब मैं आज्ञा चाहूँगा पापाजी।"



: १० :

सन्ध्या समय जब वसन्त कैलाश बाबू के यहाँ से लौटा, तो मौलश्री पाकशाला में बैठी भाजी छौंक रही थी और एकादशी बिरजू बाबू के पास घूँघट लटकाये बैठी हुई धीरे-धीरे बातें कर रही थी। बिरजू बाबू पलंग पर कम्बल ओढ़े हुए बैठे थे और पलंग के नीचे जो अँगीठी रखी हुई थी, उसका कोयला धीरे-धीरे मन्द होता जा रहा था। अँगीठी के उस पार एकादशी बैठी हुई थी, उसकी पीठ दीवार से लगी हुई थी। नीचे फ़र्श पर एक बोरा पड़ा हुआ था। एकादशी कह रही थी—"दद्दा, तुम जानते ही हो, हमारी स्थिति इस समय ऐसी नहीं कि हम राकेश के विवाह के दहेज़ को लेकर दृढ़ता के साथ कुछ कह सकें। एक तो कैलाश बाबू इतने बुद्धिमान हैं कि उन्होंने एक अरसे से वसन्त और राकेश को मिला रखा है। दूसरे हमें यह भी पता चलता है कि लड़की प्रत्यक्ष रूप से इस विवाह के सम्वन्ध में मौन है; लेकिन इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि अगर हमारे द्वारा यह सम्बन्ध तय नहीं होगा, तो उसका दिल टूट जायगा। मुझे तो ऐसा लगता है कि उस समय वह शायद यह भी प्रकट कर दे कि अब मैं विवाह नहीं करूँगी। इसलिए मेरा कहना यह है कि तुम इस सम्बन्ध में जो कुछ भी तय करो, इन दोनों बातों को सामने रखकर करो।"

"हूँ, तो तुम्हारा कहना यह है कि हर हालत में हमी को झुकना पड़ेगा। हम अपनी कोई बात दृढ़ता के साथ कहने की परिस्थिति में नहीं रहेंगे। किसी बात को लेकर हम यह नहीं कह सकेंगे कि यह तो आपको माननी ही होगी।"

एकादशी चुप रह गयी। तब बिरजू बाबू बोले—"तो साफ़-साफ़ यह क्यों नहीं कहती कि हम से राय लिये बिना, पहले से ही सारी बातें, तय कर ली गयी हैं। शायद तुमको यह मालूम नहीं है, मैं जो राकेश की जन्मपत्री लेने आया हूँ, उसका भी एक आधार है। यह विवाह के मामले समुद्र के ज्वार की तरह बड़े पेचीदा होते हैं। इसमें बल्लियों पानी चढ़ता और गिरता है। तुमको शायद यह भी नहीं मालूम है कि हमारे समाज में ऐसे दृढ़ और कट्टर लोगों की कमी नहीं है, जो एक साधारण-सी बात पर अड़कर आयी हुई बारात तक लौटा ले जाने को तैयार रहते हैं। फिर अभी तो कुछ नहीं हुआ है। तुम समझती हो, मेरे द्वारा राकेश का जो विवाह-सम्बन्ध तय होगा, उसमें कुछ कम दहेज मिलेगा!"

एकादशी जानती थी कि जेठजी कैसे अवसरवादी हैं। लेकिन वह यह भी मानती थी कि विवाहादिक कार्यों में सारे कुटुम्ब को मिलकर चलना होता है। इसीलिए वह उनको अप्रसन्न भी नहीं करना चाहती थी और यह भी नहीं चाहती थी कि यह विवाह न हो। मिश्रजी के घर पर कला का अपनी सखियों के साथ आना-जाना बना रहता था और वहाँ वह एक बार कला को देख भी चुकी थी। मिश्रजी की धर्मपत्नी से उसको कैलाश बाबू की मान-मर्यादा का भी ज्ञान हो चुका था। और भी कई लोगों से वह उनकी प्रशंसा सुन चुकी थी। धीरे-धीरे उसे इस बात का विश्वास हो गया था कि अगर यह विवाह-सम्बन्ध हो गया, तो समाज में हमारा मान बढ़ जायगा। इसलिए उसने बिरजू बाबू के कथन पर विशेष ध्यान न देते हुए एक बात में इतना कह दिया—"अब सम्बन्ध तो यही होगा दद्दा।"

बिरजू बाबू बहुत कमज़ोर तबियत के आदमी थे। मान-प्रतिष्ठा और गौरव का उनकी दृष्टि में विशेष महत्व न था। वे पैसे को ही पकड़ते थे। उनकी मान्यता थी कि सारा वैभव और गौरव बात-की-बात में पैसे से खरीदा जा सकता है। इस मान्यता के मूल मर्म की ओर उनका ध्यान नहीं था। वह यह नहीं समझते थे कि वैभव और

ऐश्वर्य का अपना एक इतिहास होता है और वंशगत मान-मर्यादा की एक परम्परा। चरित्रहीन, जुआड़ी, बदमाश और लफ़ंगा आदमी यदि किसी दिन अतुल सम्पत्ति पा जाए, तो न तो समाज की दृष्टि में उसका कोई स्थान और मान होगा और न वह स्वयं ही उस सम्पत्ति की रक्षा कर अपना वैभव और ऐश्वर्य की पीढ़ी-दर-पीढ़ी के लिए कोई स्थायी व्यवस्था कर जाने में समर्थ होगा। इसलिये वे किसी भी अवसर से चूकना अपनी सबसे बड़ी हानि के रूप में देखते थे। उनके लिए हानि की परिभाषा संचित और प्राप्त धन से कोई एक निधि निकल जाने से सम्बन्धित न होकर इसके विपरीत उस धन से थी जो भविष्य में प्राप्त हो सकता है। चोरी से या विश्वासघात से, कपट या षड्यन्त्र से, यह भी इस सम्भावना में निहित था। ऐसी निधि के निकल जाने को भी वे अपनी हानि ही समझते थे।

फलतः छोटी भाभी एकादशी के इस कथन से उनके सामने एक कल्पना-चित्र उपस्थित हो गया। वे सोचने लगे कि ऐसी अवस्था में अगर मैं कहीं थोड़ी-सी भी ग़लती कर बैठा, तो दस-बारह हज़ार के दहेजवाले इस विवाह-सम्बन्ध में लगभग दो हज़ार रुपये की नकद हानि तो प्रत्यक्ष ही है। समधी की हैसियत से भेंट-रूप में जो रुपया, गिन्नी और मूल्यवान वस्त्र आदि मिलने की सम्भावना है, उसकी हानि जो होगी, वह अलग। इस कल्पना में डूबते-डूबते उन्होंने देखा—सौ-सौ के नीले-नीले नोट हैं; एक-दो नहीं, बीस-बाईस। कोई उन्हें ज़बरदस्ती बाँधकर उनकी भीतरी बंडी के जेब से निकालकर भागा जा रहा है! और वे ऐसी दशा को प्राप्त हैं कि हिल-डुल तक नहीं सकते! चुपचाप देख-भर रहे हैं टुकुर-टुकुर! तब उन्होंने कह दिया—"हमारी स्थिति बड़ी दयनीय है। तुमने तो बुद्धिमानी से अपनी गृहस्थी का ठाट बना लिया। परेशानी तो सारी हमारे लिए है। तुमसे अलग हम रह ही कैसे सकते हैं। जैसा तुम चाहोगी, वैसा ही होगा। जो कुछ मिलेगा, तुमको मिलेगा। जो कुछ खोओगी, अपनी नीति और हठ से खोओगी।

बीच में पड़कर हमको तो कुछ लेना-देना है नहीं। साफ़ बात है और पहले से कह देना अच्छा होता है।"

जिस समय बिरजू बाबू यह बात कह रहे थे, उसी समय वसन्त आ पहुँचा और उनके चरण छूते हुए बोला—"मुझको तो अभी राकेश से मालूम हुआ। आज ही मैंने आपको उसके विवाह के सम्बन्ध में राय लेने के लिए जल्दी-जल्दी में एक पत्र भी डाल दिया है।"

वसन्त को बहुत स्वस्थ और सुन्दर गरम सूट में देखकर बिरजू बाबू के मन में आया—'अब इन लोगों को किसी बात की कमी नहीं है। खाने-खर्चने के लिए काफ़ी पैसा आने लगा है। और अब तो और भी ज़्यादा आयेगा। हमने बड़ी ग़लती की, जो लड़कों को ज़्यादा न पढ़ा सके। बड़े लड़के को पहले संस्कृत पढ़ाई, फिर आयुर्वेद की परीक्षाओं में डाला, अब वे इटावा के ज़िला बोर्ड के एक औषधालय में काम करते हैं। साठ रुपये मासिक वेतन के अतिरिक्त दो-चार रुपया और घसीट लेते हैं। ले-देकर कोई डेढ़-सौ हद्द पौने दो-सौ रुपये तक ही मासिक आमदनी सीमित है। छोटे को दसवें तक ही पढ़ा पाया। वह एक मिल में क्लर्क है। पहले सौ पर नियुक्ति हुई थी। अब एक-सौ-बीस पा रहे हैं। बड़े अलग रहते हैं। उनकी आमदनी से कभी टका मिलता नहीं और छोटे का हाल यह है कि महीने में जो अपने वेतन से सौ रुपया देते भी हैं, तो दो-दो, एक-एक करके पचास-साठ रुपये खींच भी लेते हैं! हमारे हाथ में वही पचास रुपये रह जाते हैं उनकी कमाई के। गृहस्थी की गाड़ी चले तो कैसे चले? हम सदा मोची-के-मोची बने रहे और बने रहेंगे। इन लोगों की बात ही और है!'

इसी समय वसन्त ने पूछा—"विनोद भइया और प्रमोद, चुनियाँ-मुनियाँ, दोनों भाभियाँ, चाची सब लोग अच्छी तरह से तो हैं? हाँ, विनोद भइया के तो कोई बाल-बच्चा भी होगा और प्रमोद की वही मिल की नौकरी चल रही है या और कहीं लग गये हैं?"

"और कहीं क्या लगेंगे? उनको आठ बजे तो अपने मील पहुँचना

होता है। चार बजे छुट्टी मिलती है। पाँच बजे घर आते हैं। एक घण्टा घर में रहकर सैर-सपाटे को निकल जाते हैं। ताश खेलने की ऐसी लत पड़ गयी है कि छूटती ही नहीं और बड़े तो आजकल भरथना में हैं। एक बच्चा गोद में है। तुम्हारी चाची ने बहुत चाहा कि वह हमारे यहाँ बना रहे, लेकिन बहू छोड़ने को तैयार ही न हुई।"

इसी समय एकादशी बोल उठी—"अब तुम आ गये हो, तो राकेश के विवाह के सम्बन्ध में जो बात करनी हो, कर लो दद्दा से। मैं जाती हूँ। देखूँ खाना बनने में कितनी देर है।"

एकादशी उठकर दूसरी ओर चली गयी और बिरजू बाबू बोले—"मैं अभी राकेश के विवाह की बातें ही समझने में लगा था। सारी बातें सुनकर मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि तुमको इस मामले में पहले से ही फँसा लिया गया है और तुम दोनों-के-दोनों बुरी तरह इसमें फँस गये हो। मेरी राय में तो यह सम्बन्ध बारह से कम में नहीं जाना चाहिए। लेकिन होगा तो वही जो तुम लोग चाहोगे। मेरे कहने से क्या होता है!"

वसन्त ने कह दिया—"दादा, मामला कुछ ऐसा उलझ गया है कि अब हमको यह सम्बन्ध करना ही पड़ेगा। आपको मालूम नहीं, राकेश पर मेरा अब कोई अनुशासन नहीं चलता। वह मेरी बात भी नहीं मानता और कभी-कभी तो मेरा विरोध भी करता है, उपहास भी करता है। इसलिए अगर मैं न चाहूँ तो भी यह विवाह होकर रहेगा।"

"यह सामनेवाला किवाड़ बन्द तो कर लो।...हाँ, मुझे यह बात सुनकर बड़ा खेद हुआ। ले-देकर दो भाई फिर भी आपस में इतना तनाव! और अभी से। लेकिन मेरी स्थिति तो बड़ी विचित्र है। इधर मेरे पास आ जाओ।"

वसन्त उसी पलँग पर आकर बैठ गया। तब बिरजू बाबू ने धीरे से कह दिया—"मुझको तो हर हालत में तुम्हारा ही रुख देखना है।

जैसा तुम कहोगे, वैसा मैं करूँगा। यहाँ तक कि मैं तैयार हूँ कि इस विवाह में शामिल भी न होऊँ। मुझको क्या लेना-देना है! और फिर जब तुम्हीं शामिल न होगे, तो मेरे शामिल होने से क्या होगा? जब वह तुम्हारा ही मान नहीं करेगा, तो मेरा मान कैसे करेगा? तुम तो उसके सगे भाई हो।"

एक बार वसन्त के मन में आया कि राकेश को अपनी हठधर्मी और नेतागीरी का मज़ा चखा दिया जाय। एक बार उसने यह भी सोचा, मज़ा तो आ जायगा, जब मेरे सिवा चाचाजी भी इस विवाह में शामिल न होंगे। मगर फिर उसको कला की उस छवि-माधुरी का स्मरण हो आया। फिर कैलाश बाबू की शक्ति का।

उसने कह दिया—"दादा, सब कुछ होने पर भी मुझे अपनी नौकरी का ख़याल तो करना ही पड़ेगा। क्योंकि लड़की के पिता कैलाश बाबू हमारे अनुशिक्षासचिव हैं। उनके द्वारा हमारी उन्नति भी हो सकती है और अगर वे चाहें और उनको मुझ पर किसी प्रकार क्षोभ उत्पन्न हो जाय, तो वे मुझे मिटा भी सकते हैं। इसलिये अब विवाह तो यही करना पड़ेगा। रह गयी बात दहेज की, सो आप कहें, तो मैं आपको कैलाश बाबू से मिला दूँ। वे तो यहाँ आने से रहे।"

"मुझको क्या पड़ी है कि मैं दूसरों के दरवाज़े मारा-मारा फिरूँ! उनको सौ बार गरज हो, तो मेरे पास आयें, मुझसे मिलें।"

वसन्त मुस्कराने लगा। बोला—"दादा, यहीं आप ग़लती कर रहे हैं। अकड़ बड़ी अच्छी चीज़ है, मानता हूँ। मगर सब जगह नहीं, यह भी मानता हूँ। आपसे भेंट होगी, तो क्या वे आपका मान-सम्मान न करेंगे? एक गिन्नी तो कहीं गयी नहीं, न मिले तो मुझसे ले लीजियेगा। कहिये तो लिख के दे दूँ!"

वसन्त का उत्तर सुनकर बिरजू बाबू कुछ सकते में पड़ गये। थोड़ी देर स्थिर रहे और अन्त में बोले—"मैं तो पहले ही कह चुका हूँ कि मुझे तुम्हारा रुख देखकर चलना है। जैसा तुम कहोगे, वैसा ही

करूँगा। वैसे इतना तो तुमको मानना ही पड़ेगा कि मैं निर्लोभी व्यक्ति हूँ। रुपये की माया मुझे कभी ख़रीद नहीं सकती। कहो क्या कहते हो ?"

वसन्त हँसने लगा।

दूसरे दिन बिरजू बाबू को लेने के लिए प्रोफेसर मिश्रा के यहाँ से सन्देश आ पहुँचा—"आपको प्रोफेसर मिश्रा ने बुलाया है। आप ही का शुभ नाम व्रजनन्दनजी है न ?"

"हाँ, है तो ! और वहाँ कौन-कौन बैठा है ?"

"मुझे तो कुछ मालूम नहीं बाबू। बस यही मुझसे कहा गया कि वसन्त के घर चले जाओ। उनके ताऊ बिरजू बाबू आये हैं। उन्हें अपने साथ ले आओ। इसीलिए मैं गाड़ी ले आया हूँ।"

गाड़ी का नाम सुनते ही बिरजू बाबू के शरीर में जैसे बिजली दौड़ गयी। मनोभाव को न सँभाल सके और आश्चर्य के साथ बोले—"गाड़ी लाये हो ! अच्छा !"

कमरे में वसन्त का एक नया अलवान टँगा हुआ था, कन्धे पर डालकर चल खड़े हुए। कल जूते में तो पालिश करवा ली थी; लेकिन धोती वही पहने हुए थे, जो यात्रा में कुछ मैली हो गयी थी। यों भी उसे पहने हुए दो दिन हो चुके थे और दूसरी धोती अभी सूख न पायी थी।

मन-ही-मन सोचने लगे—'इतना पैसा कमाया कि दूसरा कोई होता तो कोठीवाला बन गया होता। हमारी श्रेणी के जो लोग सोचकर नहीं चलते, वे चालीस के बाद पतालीस तक पहुँचते-पहुँचते रोना आरम्भ कर देते हैं। कौन परवा करता है। विनोद ने अलग घर बसा लिया है। रह गया प्रमोद, सो उसको भी मेरी परवा नहीं है। क्या उससे इतना नहीं हो सकता था कि झोले में एक नयी धोती डाल देता ? अब मैं साफ़ धोती कहाँ से लाऊँ ? क्या दुनिया बन गयी है ! लड़के जब बाप तक की चिन्ता नहीं करते, तो और अधिक उनसे क्या आशा की जाय, एक क्षण में यह सब सोच गये। फिर···एक निःश्वास के साथ

सोचने लगे—मगर किया क्या जाय ! दो लड़कों में से कोई घर में नहीं है। मैं साफ़ धोती माँगू भी तो किससे माँगूँ !

सन्देशवाहक अब भी सामने खड़ा था। बोले—"इतनी जल्दी तो मैं नहीं चल सकता। लड़के घर में हैं नहीं और वसन्त को तो साथ में रखना ही पड़ेगा।"

ड्राइवर बोला—"अच्छी बात है। मैं गाड़ी में आपका इन्तज़ार करूँगा।"

ड्राइवर चला गया।

इतने में एकादशी पास आ गयी। बिरजू बाबू बोल उठे—"मिश्राजी के यहाँ से बुलावा आया है। छोटी, इस तरह की बैठक में सलाह-मशविरे में सम्मिलित होने का कोई मन्तव्य लेकर तो मैं घर से चला न था। अब यह दो दिन की पहनी धोती पहनकर उनके यहाँ कैसे जाऊँ ? और इन लड़कों का अजीब हाल है। अभी नौ नहीं बजे और घर से ग़ायब ! प्रत्येक आदमी की एक मर्यादा होती है। अब यदि मैं इसी वेशभूषा में चला जाऊँ, तो अच्छा लगेगा। तुमसे इतना भी न बना कि पहले से मुझे सूचित कर दिया होता। वसन्त कह रहा था, कल उसने कोई चिट्ठी लिखी है। मन तो कहता है, इनकार कर दूँ, मगर राकेश के विवाह का मामला है, इसलिए जाना ही पड़ेगा।"

एकादशी भीतर जाकर बढ़िया अठारह रुपये जोड़ेवाली एक धोती ले आयी।

बिरजू बाबू बोले—"धोती तो ख़ैर हो गई। काम चल जायगा। लेकिन ऐसे समय सोने की एक ज़ंजीर भी गले में डालने को होती, तो कितना अच्छा होता ! पुराने ज़माने में फेरवाँ पहनने का प्रचलन था। अब तो लोग ज़ंजीर ही पहनते हैं। जंजीर न सही, कम-से-कम अँगूठी तो उँगली में होती। इस तरह जाने में उत्साह नहीं हो रहा है बिलकुल।"

यह बातें हो रही थीं कि इतने में वसन्त आ पहुँचा। सामने आते

ही बोला—"चलिए जल्दी कीजिये। मैं जरा रास्ते में ठहर गया था। मुझे कुछ काम था। मैंने रात ही कैलाश बाबू को सूचना दे दी थी।"

"पर तुम तो कहते थे कि वो अपने बँगले पर बुलायेंगे!"

"दादा, मैंने सोचा तो ऐसा ही था; मगर मिश्राजी ने कहा कि यह अनुचित है। व्यावहारिक मामलों में हमें दोनों पक्षों की मर्यादा देखनी पड़ती है। वह तो हमारे यहाँ आने को तैयार भी थे, मैंने ही यहाँ बुलाना उचित नहीं समझा।"

"यह तुमने बड़ी नादानी का काम किया। जो व्यक्ति हमारे घर को अपनी मान-मर्यादा के विरुद्ध समझता है, वह हमारे घर में विवाह ही क्यों करता है? जाओ, मैं नहीं जाता कहीं। तुम उनसे जाकर कह दो कि सम्बन्ध इसी घर में तय होगा। यह भी कोई बात हुई कि मुझे वहाँ बुला भेजा गया है!···क्या ज़माना है!"

एकादशी और उपाय न देख भीतर चली गयी। खाँसकर संकेत से उसने वसन्त को भीतर बुला लिया। पछीत की खिड़कियाँ खोलकर सामनेवाले दोनों द्वार बन्द कर दिये। बोली—"बैठ जाओ, सुनो। यह झंझट आज का नहीं है। जिस दिन इस घर में क़दम रखा था, उसी दिन मैंने समझ लिया था कि इनके साथ पटैगी नहीं। लेकिन तुम्हारे बाबू तो थे देवता, वे शत्रु के आगे भी चिरौरी करने में अपनी कोई हेटी न देख पाते थे। तीन वर्ष इनके साथ रहकर मैंने किस तरह दिन काटे हैं, मैं ही जानती हूँ। फिर जो हम लोग अलग हो गये, तो इन्होंने हमारे यहाँ आना-जाना छोड़ दिया, तुम्हें सब मालूम है। काम-काज में हम लोग अलबत्ता सम्मिलित हो जाते रहे। आज भी यह हमारे घर झाँकने न आते, अगर लड़की की शादी में इधर-उधर से नोच-खसोटकर कुछ रुपया जमा कर लेने की बुद्धि न जोर मारती। ख़ैर। हमको इन बातों से कोई मतलब नहीं। वंश में सबसे बड़े यही हैं; इसलिए इनको सामने रखने में ही हमारी प्रतिष्ठा है। अभी बड़बड़ा रहे थे—तुमने हमको पहले से सूचना न दी। धोती दो दिन पहनी हुई है। मैं जो दुलहिन से

तुम्हारी नयी धोती निकलवाकर दे आयी, तो अब गले में सोने की ज़ंजीर और हाथ में अँगूठी पहनकर जाने की बात अभी कह रहे थे। इतने में तुम जो आ गये, तो अब तुमको ताव दिखा रहे हैं !"

वसन्त ने उत्तर दिया—"तुम चिन्ता न करो अम्मा। मैं इनका ताव अभी ठंडा किये देता हूँ।" और इसके बाद उसने झट दरवाजे की कुण्डी खोली और बिरजू बाबू के पास जाकर कह दिया—"दादा, आप पिता-तुल्य हैं। आपकी किसी बात का जवाब तो मैं देना नहीं चाहता। लेकिन इतना ज़रूर जानता हूँ कि हर भले काम में पग-पग पर अड़चनें डालने का स्वभाव आपमें अब तक ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। और जब वह अब तक नहीं सुधरा, तो भविष्य में क्या सुधरेगा ! बड़ी कठिनाई से तो किसी तरह यह खुशी का दिन आया है और ऐसे समय आप ऐसी बातें उठा रहे हैं कि हमारा सारा उत्साह फीका पड़ जाता है। आपको पता नहीं कि आपकी इस तरह की बातों का अम्मा पर क्या प्रभाव पड़ता है !···अब मैं आपसे क्या बताऊँ ! आप यह भी नहीं सोचते कि भीतर बैठी हुई आपकी बहू मन-ही-मन क्या सोचती होगी ! मैं पूछता हूँ कि इस बुढ़ापे में हमारे वंश के सबसे बड़े और बुजुर्ग होकर भी आपको यह नयी धोती गले में ज़ंजीर और हाथ में अँगूठी पहनकर कैलाश बाबू जैसे सम्भ्रान्त पुरुष के आगे उपस्थित होने में अच्छा लगेगा ! आपमें इतनी भी बुद्धि नहीं—क्षमा कीजिएगा—कि जिनके आगे आप अपना यह तीन कौड़ी का वैभव दिखाना चाहते हैं, उनके यहाँ के नौकर भी आपसे अच्छी वेषभूषा में रहते हैं। सोना और महल देख कर राकेश की शादी नहीं हो रही है। उसकी शिक्षा, व्यक्तित्व, प्रतिभा देखकर हो रही है। और अगर आप इस विवाह में सम्मिलित न होंगे, तो क्या उसका विवाह रुक जायगा ! आप कहीं न जाइये, घर बैठे रहिये। राकेश का विवाह होना होगा हो जायगा; न होना होगा न होगा। आपकी बला से ! आपके यहाँ बहन का विवाह होने जा रहा है। ऐसे समय राकेश के विवाह में अगर थोड़ा-

बहुत सामान और नक़द रुपया आपके हत्थे चढ़ जाता, तो मुझे कितनी प्रसन्नता होती ! लेकिन आप करेंगे क्या ! आपकी तो आदत पड़ गयी है !—जिस पत्तल में खायेंगे, उसी में छेद करेंगे !"

सत्य इतना कठोर होता है कि पिता को भी शत्रु बना देता है। परम विवाहिता स्त्री और अपनी सगी धर्मपत्नी विष-पान कर लेती है। परम आत्मीय घनिष्ठ मित्र मिलना-जुलना छोड़ देते हैं। बिरजू बाबू पर भी वसन्त की इन बातों का उलटा ही प्रभाव पड़ा—यहाँ तक कि वे इस समय अपना हिताहित भूल गये। वसन्त ने अपने कथन में जो कुछ भी कहा था, बिरजू बाबू मानते थे कि उसमें उनके अपने हितों का, स्वार्थों का ध्यान रखा गया था। किन्तु उन सब बातों को किनारे रख कर बारम्बार वे यही सोचते थे—मैं बेकार यहाँ आया। छोटी भाभी ने पुरानी बातों का आज अच्छा बदला चुकाया है ! उसने जान-बूझकर मेरा अपमान कराया। अब इस घर में एक मिनट को भी रहना मेरे लिये उचित नहीं।

झट से उठकर उन्होंने आँगन के आगे खूँटियों पर, धूप में बँधी हुई धोती उतारकर उसको तहाना शुरू किया ही था कि वसन्त ने प्रोफेसर मिश्रा को एक पत्र लिख दिया।

आदरणीय मिश्राजी,

यकायक दादा की तबीयत ख़राब हो गयी है। इसलिए, इस समय उनका वहाँ पहुँचना सम्भव नहीं है। अब यह बैठक सायंकाल चार बजे के बाद ही होनी सम्भव है। कृपा करके आप श्रीमान् कैलाश बाबू को फ़ोन से कह दीजियेगा। इस समय मुझे कालेज जाना है। अन्यथा यह काम मैं स्वयं कर लेता। विशेष मिलने पर।

आपका एक अनुचर—
बसन्त

पत्र लिखकर उसने ड्राइवर को देते हुए कहा—इसे मिश्राजी को दे देना और कह देना दादा सायंकाल चार बजे आयेंगे। इस समय नहीं आ

सकेंगे । उनकी तबीयत कुछ गड़बड़ हो गयी है । गाड़ी चली गयी ।

जब पुनः लौटकर वह घर के अन्दर पहुंचा तो उसने देखा—झोला हाथ में लिए बिरजू बाबू इलाहाबाद लौटने के लिए तत्पर हैं और उनकी आँखों में आंसू भरे हुए हैं और अम्मा कह रही हैं—"तुम चाहे जो समझो दादा, हम तुमसे कभी अलग नहीं रह सकते । रह गयी बात वसन्त की सो आप उसके ताऊ हैं और वह आपका भतीजा । आपको मालूम ही है कि अब यह लड़के अपने पैरों खड़े हो गये हैं । यह भी आप लोगों का पुण्य प्रताप ही है । उसने अगर ऐसी कोई बात कही हो जो आपको बुरी लगी हो, तो उसके लिये मैं आपसे क्षमा चाहती हूँ । कितना अच्छा होता कि आप आज ठहर जाते और उस विषय को स्वयं ही तय कर देते ! मेरा तो अब भी आपसे यही कहना है कि आप न जाइये ।"

बिरजू बाबू ने झोले में गीली धोती रख ली थी । अब वे उसको पुनः निकालकर जो पूर्ववत् ,धूप में खूँटियों से बाँधने के लिए उठे, तो वसन्त ने आकर आगे बढ़कर गीली धोती उनके हाथ से छीनते हुए कह दिया—"लाइये, मुझे दीजिये । यह काम आपका नहीं है ।"

बिरजू बाबू सोचने लगे—'सावधान रहने की चेष्टा तो बहुत करता हूँ, पर क्या करूँ ! उमर का तक़ाजा ठहरा । चलने में कभी-कभी ऐसी ग़लती हो जाती है कि अपने को स्वयं बुरा लगता है । राम···राम···! मुझसे बड़ी भूल हो गयी । धोती तक तो ग़नीमत थी, यह मैंने जंजीर और अँगूठी के लिए क्यों कह दिया !

इस समय बिरजू बाबू, वसन्त और एकादशी तीनों मौन थे । कोई किसी से कुछ नहीं कह रहा था । थोड़ी देर बाद वसन्त जो बिरजू बाबू के जलपान के लिये चाय, हलुआ और समोसे ले आया, तब तक बिरजू बाबू का मानस साधारण-स्तर पर आ चुका था । चाय का प्याला मुँह से लगाकर एक घूंट कण्ठगत करने के अनन्तर वे बोल उठे—"ड्राइवर से क्या कह दिया ?"

वसन्त ने मुस्कराते हुए कह दिया—"कहता क्या ! ऐसी स्थिति

में आपको ले चलना असम्भव था। अगर आप किसी तरह राज़ी भी हो जाते, तो आपका रौद्र रूप देखकर मिश्रजी और कैलाश बाबू दोनों पर कोई अच्छा प्रभाव न पड़ता। बारह बजते-बजते खाना खा लीजियेगा, फिर आराम से सोइयेगा। मैं आज ज़रा जल्दी आने की चेष्टा करूँगा। ठीक चार बजे वहाँ पहुँचना है।"

बिरजू बाबू ने कह दिया—"मगर आ जाना तुम तीन बजे तक, अच्छा!"

बिना कोई जवाब दिये वसन्त ने रूमाल मुँह से लगा लिया। भीतर से उभरती हुई हँसी वह सम्भाल नहीं पा रहा था।



: ११ :

हाल खचाखच भरा हुआ था। कपड़ेवाले, बर्तनवाले, अनाजवाले, बिसातख़ाना, दवाख़ाना, डाकख़ाना, रेलवे यूनियन, कुली-यूनियन, सचिवालय के लिपिक, प्रेस-मज़दूर, सराफ़ा, किराना, मिल एजेन्सीज़, शू-स्टोर्स, दैनिक जीवन में छोटे-मोटे काम के राज-मज़दूर, पुताईवाले, कबाड़ी, डॉक्टर, कम्पाउण्डर, वकील, उनके लिपिक, टायपिस्ट, कचेहरी के क्लर्क, पेशकार, मकान-मालिक, कर्मकाण्डी पण्डित, जोशी, ज्योतिषी, तारघरवाले, मोटर-ड्राइवर, होटल रेस्तोरांवाले, सामन्तवादी अथवा सरकारी अधिकारियों के लिए निजी सहायक, गाड़ी, ताँगा और रिक्शे वाले; तात्पर्य यह कि जन-जीवन में जितने भी वर्ग के लोग सम्भव थे, प्रायः सभी के प्रतिनिधि उस बैठक में उपस्थित थे।

सबसे पहले, राकेश के कान के पास मुँह ले जाकर, विज्ञान ने कहा—"इस सभा का उद्देश्य और आयोजन क्यों किया गया, इस विषय पर प्रारम्भिक भाषण ऊष्मा का हो, तो कैसा रहेगा? वे हम सबकी दीदी हैं और नगर के सभी लोग उनको जानते और मानते भी हैं।"

"तो उन्हीं से कहो—बोलें।"

"मेरा कहना चाहे टाल भी जायँ, पर तुम्हारा···उसकी बात और है।"

"देखो विज्ञान, हम इस सेवा-संघ में किसी भी एक आदमी की प्रभुसत्ता इतनी नहीं बढ़ाना चाहते कि कभी वह मंच के नीचे आ जाय तो एकाएक काम रुक जाय।"

कला, राकेश और विज्ञान के बीच में ठीक पीछे बैठी थी। विज्ञान

के बाद मालिनी थी और कला की बाईं ओर रजनीगन्धा। कला के हाथ में पिछले वर्ष की एक कोरी डायरी थी, जो उसे कबाड़खाने में आधे दाम पर मिल गयी थी। उसने झट से राकेश की बात उसमें लिख ली।

विज्ञान ने उत्तर दिया—"उद्देश्य तो तुम्हारा बड़ा पवित्र है, पर संसार में ऐसा कभी होता नहीं। मैं नेता उसी को मानता हूँ, जिसमें सबको मिलाकर चलने की विद्या-बुद्धि होती है। तुमने चुपके-चुपके इतना काम कर डाला है कि थोड़े ही समय में तुम नगर-भर में सबकी चर्चा के विषय बन गए हो, सब तुम्हीं से अधिक प्रभावित हैं, इसलिए देर मत करो। ऊष्मा दीदी से जो कुछ कहना हो, तुम्हीं कहो।"

राकेश बस इसी विषय में दुर्बल और संकोची था। किसी भी महिला से काना-फूसी करने में उसे लज्जा का अनुभव होता था। एक तो ऊष्मा कुछ वयस्क होने पर भी मनोहारिणी थी, दूसरे कला को छोड़कर और किसी भी नारी से इतने निकट से बातें करने की कल्पना भी उसके लिए चिन्तन का विषय बन जाती थी। अतः कुछ गम्भीर होकर वह बोला—"तो आज की बैठक स्थगित कर दो!"

उसका मुख तमतमा उठा और आविष्ट होकर उसने कह दिया—"पहले इसी विषय पर विवाद हो जाय। मैं दिन-रात बहस करने के लिए तत्पर हूँ। मालूम नहीं तुमने मुझको क्या समझ रखा है! मैं किसी के हाथ की कठपुतली हूँ? मैं किसी का एहसान लेना नहीं चाहता। इस मामले में। और इसलिए मैं किसी के हाथ भी नहीं जोड़ूँगा। जो लोग काम करना चाहते हैं, वे सामने आ जायँ, जो नहीं करना चाहते, अच्छा हो, वे अभी से लौट जायँ!"

इतने में कला उठकर ऊष्मा के पास जा पहुँची। उसने उनसे कह दिया—"दीदी, तुम ज़रा वहाँ तो जाओ, विज्ञान दादा के पास···।"

इतनी बात कहकर तुरन्त वह अपनी जगह पर आकर बैठ गयी।

विज्ञान बोला—"अच्छी बात है। मैं अब तुमसे कुछ भी नहीं कहूँगा।"

इतने में जब ऊष्मा आकर सामने बैठ गयी, तो विज्ञान ने कह दिया—"हम लोगों की राय यह पड़ रही है कि इस आयोजन का उद्देश्य और कार्य करने की विधेयात्मक प्रणाली पर सबसे पहले आपका एक संक्षिप्त भाषण हो जाय।"

बैठक में विभिन्न टोलियाँ बन गयी थीं। कोई कह रहा था—'बड़ा कमाल का काम किया है साहब, इस नौजवान ने। शहर-भर में जितने भिखमंगे थे, सबका एक रजिस्टर बन गया है। नाम, पता, जाति, अगर रोगी हैं तो, उसका उल्लेख, कौन कहाँ रहता है, और साथ में परिवार के कितने आदमी हैं, विधवा है कि विवाहिता, कहीं सजा तो नहीं काट आये हैं, घर से भागकर तो नहीं आये हैं, यह खानाबदोश बने कैसे ? क्या मुख्य पेशा भीख माँगना ही है ?—आदि कहाँ तक गिनाएँ, बहुत-सी बातें हैं।

कोई कह रहा था—इस मण्डली में जितने भी नवयुवक हैं, सब एक-दूसरे को चुनौती देते हैं। यह गोरा-गोरा नाटा-नाटा, छल्लेदार बालों वाला जो विज्ञान है न, यह डी० एस० सी० हैं। गोरखपुर के एक शुगर मिल में आप चीफ़ कैमिस्ट थे। बारह-सौ रुपये वेतन मिलता था। राकेश ने एक दिन जो ताव पर धरकर कहीं कह दिया—"तुम बड़-बड़ बहुत करते हो। पर जब कोई ज़रूरी काम आ जाता है तो नौकरी का अड़ंगा डालकर गोरखपुर चल देते हो। मैं उस आदमी की शकल से नफ़रत करता हूँ जो असली काम नहीं करता। या तो सिर्फ राय देता है या आलोचना करता है।" बस जनाब, राकेश का इतना कहना था कि विज्ञान ने झट नौकरी से त्यागपत्र दे दिया !

कोई इस बातचीत को सुनकर उसके सामने खानेवाली तम्बाकू और चूना पेश करते हुए कह रहा था—"लीजिये और इतना सुन लीजिये कि यह विज्ञानशङ्कर लाला प्रभाशंकर के चिरंजीव मशहूर भट्टेवाले हैं। ज़्यादा नहीं, तो बीस लाख की जायदाद है। सच पूछो तो ऐसे ही आदमी सेवा का कार्य भी कर सकते हैं। हमारे जैसे मरभुखे

क्या करेंगे, जिनको अगर पहली तारीख़ को तनख़्वाह न मिले, तो दूसरी को सवेरे उनके घर खाना न पके। फिर भी जनाब आज दफ़्तर से छुट्टी लेकर आया हूँ, जबकि एक दिन की भी छुट्टी शेष नहीं। आज की तनख्वाह के सात रुपये वेतन में से कट जायँगे।"

कोई दरवाज़े पर जाकर सिगरेट पी रहा था और कोई साथियों के लिए पान लिये चला आ रहा था, कोई हँसी-मज़ाक में लगा हुआ था और कोई देवियों की वेश-भूषा पर टीका-टिप्पणी कर रहा था। हाल के बाहर सड़क पर चाटवाला अलग आवाज़ लगा रहा था। सिनेमा के विज्ञापनवाले ताँगे पर सवार होकर हारमोनियम और ढोलक के स्वरों में जनसाधारण का ध्यान आकृष्ट कर रहे थे। हाल के दरवाज़े से लगे खम्भे के ऊपर मुंडेर पर बैठी गिलहरी बोल रही थी—'टिटिर··· टिटिर।' तात्पर्य यह है कि हाल के भीतर और बाहर एक ऐसा कोलाहल था, जिसमें हास-परिहास, पीड़ा, आशंका, व्यंग्य, कटूक्तियाँ, व्यक्तिगत जीवन का अन्तर्द्वन्द्व, दफ़्तरों के बाबुओं का पारस्परिक संघर्ष, पारिवारिक जीवन की समस्याएँ, पत्नी, बहन, माता, लड़के, पिता, चाचा, भतीजे, दूकान के मुनीम, मालिक और गुमाश्ता आदि के साथ, संघर्षों की समस्याओं, उनकी उलझनों और मतभेदों, छल-प्रपञ्च से भरी उलझनों की विविध वाणियों के स्वर एक साथ मिलकर कुछ ऐसा गुंजन उपस्थित कर रहे थे कि धीरे से बात करना संभव न रह गया था।

सर पर चटाई की चाइनीज़ हैट है, जिस पर पुष्पगुच्छ के साथ हरी मयूरपंखी खुँसी हुई है। लट्ठे का पैजामा है और उसी का बुशशर्ट गले में टाईनुमा रिबन के लाल, पीले, नीले रंगों के बोज़ लटक रहे हैं। हाथ में छोटी-सी छड़ी है और नंगे पैरों के नीचे स्टूल रखा है। स्टूल पर छड़ी नचा-नचाकर पैंतड़े बदलते हुए यह महाशय कह रहे हैं—

टट्टिली लि-लि-लिली,
कपड़ा बिकता है।
कट्-कट्-कट्,

पीस क कपड़ा बिकता है।

कपड़ा बिकता है।

आसपास भीड़ लगी है। बच्चे पहले विस्मय से देखते रह जाते, फिर आगे बढ़ते हुए उल्लिखित पद्य को उसी ढंग से कहने का अभ्यास भी करते जाते हैं।

इतने में ऊष्मा ने उठकर कहना प्रारम्भ किया—"नागरिक बन्धुओं और बहनो, इस सभा का आयोजन हमारे कुछ ऐसे बन्धुओं ने मिलकर किया है, जो पानी में आग लगाने के अभ्यासी हैं। हमारी सभ्यता जिस काम को हज़ारों वर्षों से नहीं कर सकी, उसी काम और समस्या को सुलझाने का बहुत ही दुष्कर संकल्प इन लोगों ने कर रखा है। मुझसे कहा गया है कि इस सभा का उद्देश्य मैं आपके सामने रखूँ। मेरा कहना यह है कि ऐसी ज़िम्मेदारी का काम तो उन्हीं को करना चाहिए, जो इसके लिए सर्वथा योग्य और समर्थ हैं, जिनकी वाणी में बल है और हृदय में हाहाकार है, जिनके जीवन में अटूट संयम है और व्यवहार में इतना सौजन्य और माधुर्य कि एक बार आपको सम्पर्क का अवसर मिले, तो आप जीवन-भर के लिए उनके अनुगत हो जायँ। अपने विश्वविद्यालय में वे एम० ए० में फर्स्ट आये और अब तो उन्हें पी० एच० डी० भी मिल गई है। 'सामाजिक जीवन का दार्शनिक स्वरूप' उनके निबन्ध का विषय था और आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि उनके निर्णायकों में कोई मतभेद नहीं था। यह तो हुई उनकी योग्यता की बात। अब सेवा-भावना की स्थिति यह है कि काम लग जाय, तो वे दिन-भर का उपवास कर डालेंगे और मत्थे पर शिकन भी न आयेगी!"

ऊष्मा का इतना ही कहना था कि राकेश उठकर खड़ा हो गया और बोला—"उपस्थित सज्जनो, बस बहुत हो चुका। ये सभा मेरी आरती उतारने के लिये नहीं बुलाई गयी है। ऊष्मादेवी मुझको क्षमा करें और कृपा करके बैठ जायँ। रात-दिन के ये अभिनन्दन, प्रशंसा-पत्र

सुनते-सुनते हम ऊब गए हैं और आपको मालूम होना चाहिए कि अब तो साधारण विवाहों में भी अपने समधियों को अभिनन्दन-पत्र देने की प्रथा चल पड़ी है।"

एकाएक एक हास्यध्वनि हाल भर में दौड़ गई, तब राकेश ने आगे बढ़ते हुए कहा—"मैं अपने मन की बात कह दूँ कि यह मुँह पर अतिशय प्रशंसा करने का नुस्खा अब पुराना पड़ गया है। हम निरन्तर इसका फल और दुष्परिणाम भोगते और अनुभव करते रहते हैं। यह मौखिक प्रशंसा हमारा दिमाग़ खराब कर देती है, फिर मैं देख रहा हूँ कि हमारे देश के नेताओं को इसकी अधिक आवश्यकता है। इसलिये आपको कम-से-कम मुझको तो इसके लिये क्षमा ही कर देना चाहिये।"

इस पर एकाएक हास्य-ध्वनि होने लगी।

राकेश बोला—"अब आप लोग मुख्य विषय पर आ जाइये। बात पहले तो बिना सोचे-समझे शुरू हो गयी। कुछ दृश्य मैंने ऐसे देखे, घर में, पास-पड़ोस में और बाहर भी कि आज का साधारण आदमी दया, ममता, सहानुभूति और मानवता से बहुत दूर चला गया है। सड़क पर पड़े हुए मुर्दों को देखकर आगे बढ़ते हुए कोठियों के रहनेवाले हमारे भाई, गद्दों पर सोने वाले मित्र; जो अच्छी, ऊँचे दर्जे की नौकरी में लगे हुए हैं, सेठ-साहूकार, महाजन, मकान-मालिक, वकील-डाक्टर, कहाँ तक गिनाएँ, संक्षेप में समझ लीजिये कि जिनकी जीविका के साधन और धन्धे उच्च कोटि के हैं, उनका हृदय मुझे पत्थर का बन गया जान पड़ा। यह जो दाने-दाने और पैसे-पैसे के लिये रिरियाते-घिघियाते, नाक रगड़ते और तलवे चाटते हुए बालक-बालिकाएँ, वयस्क-प्रौढ़ा और वृद्ध नर-नारियाँ आप सड़कों पर देखते हैं, यह भी मनुष्य हैं और इनको भी एक इंसान की ज़िन्दगी बिताने का पूरा हक़ है। वे हमारी इसी धरती के लाल हैं, हमारे इसी समाज के अन्याय और पाप की देन हैं।"

राकेश का इतना कहना था कि उपस्थित जनसमुदाय में अधिकांश व्यक्तियों के रोमांच हो आया और करतल-ध्वनि शुरू ही हुई थी कि

राकेश ने उग्र होकर थोड़े जोर से कह दिया—"ठहरो, बड़े शर्म की की बात है कि जिस अवसर पर आपको संकुचित और लज्जित होना चाहिये, उसी अवसर पर आप लोग तालियाँ पीटकर अपनी मूर्खता का परिचय देते हैं। यह हमारी अशिक्षा की नग्नता नहीं तो और क्या है?"

राकेश के इस कथन पर हॉल के बहुतेरे आदमी एक-दूसरे का मुँह देखते-देखते नतशिर हो गये और हॉल में एक बार फिर सन्नाटा छा गया।

तब राकेश बोला—"तो मेरा कहना यह है कि इन लोगों की दुर्दशा आप देखते रहते हैं और कभी कुछ नहीं करते। बहुत हुआ, तो पैसे दो पैसे अथवा मुट्ठी-भर अनाज, सामने पड़े हुए कपड़े, बोरे या चटाई पर फेंककर आगे बढ़ जाते हैं। अब हमारा कहना यह है कि कभी आपके मनमें यह प्रश्न उठा कि यह सब हैं कौन लोग? असल बात यह है कि भाई लोगों को अपने खाने-कमाने से ही फुरसत नहीं है। हमारे धन्धे ही कुछ इस तरह के हैं, हमने स्वभाव ही कुछ इस तरह का बना लिया है कि हम उपकार के नाम पर कुछ नहीं करना चाहते। हाँ, एक बात अवश्य है कि अखण्ड रामायण का पाठ हम बहुत मन से करवाते हैं। मैं धार्मिकता का विरोधी नहीं। आपको विश्वास होना चाहिये कि ऐसे कार्यक्रमों में मैं भी भाग लेता रहा हूँ। मेरा तो कहना सिर्फ़ इतना है कि भगवान् की बनाई इस सृष्टि, उसके इस संसार में जो भी कलुष, कुटिलता, अभाव और अन्याय आप देख रहे हैं, वह उसकी देन नहीं, आपकी अज्ञानता, भोग-लिप्सा और कायरता की देन है। जब आप, दया-धर्म से मुँह मोड़ लेते हैं, तब भगवान् आप पर हँसता है। कभी आपने सोचा है कि जब आप पतन की ओर बढ़ते हैं, पाप के गर्त में गिर जाते हैं, जान-बूझकर अन्याय करते हैं, उन्हीं लोगों के साथ, जो आपके अपने हैं, आपके रक्त के साथ जिनका अटूट सम्बन्ध है, तब भगवान को कितनी पीड़ा पहुँचती है! ये दुखियारे कगले और भिखमंगे सच पूछिये

तो हमारे घरों से निकाले गये वे लोग हैं, जिनको आपने सताया है, या तो तन से भूखा रखा है या मन से।...यह वे लोग हैं, जिनको आपने ही पैदा किया है, समाज के भय और कायरता के कारण आपने उन्हें गली-गली का भिखारी बनने को विवश किया है। बतलाइये, इनके प्रति क्या आपका कोई कर्तव्य नहीं ? सबसे पहले इस सभा में आये हुए लोगों से मैं यह पूछना चाहता हूँ कि आप लोग हमारी बात से, हमारे मन के दुःख और दर्द से, हमारे विचार और संकल्प से कहाँ तक सहमत हैं ?"

इस समय इधर-उधर बैठे हुए कुछ धार्मिक वृत्ति के लोग परस्पर कानाफूसी करने लगे।

रामदयाल ने, जो टेलर्स एसोसिएशन के मन्त्री थे, सोनेलाल से कह दिया—"जो जस करै सो तस फल चाखा ! कोई दुखी, दरिद्र, भिखमंगा है, तो हम इसमें क्या कर सकते हैं। कर्मों का फल तो उसको भोगना ही पड़ेगा। यह तो भगवान् का विधान है, उसकी रचना है, हम इसमें क्या दख़ल दे सकते हैं ?"

सोनेलाल होटल और रेस्तोराँ आदि संघों का सभापति था। उसने मत्थे पर हाथ रखकर उत्तर दिया—"आपका दिमाग सही नहीं है। आप जो बात कह रहे हैं, उसमें पेंदी तो है ही नहीं। जब गोस्वामीजी यह कह रहे हैं कि जो जैसा करेगा, वह वैसा पायेगा, तब तुम उपकार करोगे, तो उसके बदले में भी तो कुछ मिलेगा। और यह क्या बात रही जनाब कि पाप हम करते हैं, लोगों को सताते हम हैं, तकलीफ़ हम देते हैं और कहते यह हैं कि भगवान् दे रहा है ! समझ गये कि नहीं समझ गये ! न समझ गये हों, तो अभी बतला दीजिये। बाद में फिर भेजा न चाट ज़ाइयेगा !"

रामदयाल बेचारा चुप हो गया। राकेश बोले जा रहा था—

"अगर हमारी बात आपकी समझ में नहीं आती, अगर आप इस सम्बन्ध में कुछ नहीं करना चाहते, तो अभी मौक़ा है कि आप यहाँ से

चले जायँ ; क्योंकि यहाँ ऐसे भी लोग हैं जिनको घर के काम-काज को निपटाने में देर हो रही होगी ! हो सकता है, उनके बीवी और बच्चे उनकी प्रतीक्षा कर रहे हों। शृंगार-प्रसाधन की सामग्री, इत्र और फुलेल, साड़ियाँ और मिठाइयों के दोने घर ले जाने में उन्हें देर हो रही होगी। क्योंकि यही काम सवेरे से लेकर रात के दस बजे तक सबसे बड़ा और प्रमुख है भी !

उपस्थित व्यक्तियों में कुछ ऐसे भी लोग थे, जिनके झोलों में इस प्रकार की वस्तुएँ थीं भी। राकेश के इस कथन पर वे संकुचित हो उठे। उन्होंने अपना सिर नीचा कर लिया। तब राकेश बोला—"परवाह नहीं कि वह मज़दूर कल जिसने आपकी चारपाई भरी थी, पारसाल होली पर आपका कमरा पोता था ; वह नौकरानी, जो अभी चार महीने पूर्व आपके यहाँ चौका-बर्तन करती थी, आज भिखारियों के इसी समाज में जा मिली हो ! और ऐसा भी तो हो सकता है कि जिस बहू-बेटी, बहन और भाभी को कुलटा कहकर आपने घर से निकाल दिया हो, वह भी इसी झुण्ड में मिलकर खून के आँसू बहा रही हो !···तो हमारे इस काम में शामिल वही लोग हो सकते हैं, जो मनुष्य का हृदय रखते हैं, मानवीय सहानुभूति की अन्तर्दृष्टि रखते हैं और उनके लिये कुछ करना चाहते हैं, जिनके लिये कोई कुछ नहीं करता !"

इतने में एक ओर से आवाज़ आ गयी—"यहाँ तक कि ईश्वर भी नहीं करता !"

इस टिप्पणी को सुनकर राकेश तिलमिला उठा ; फिर भी उसने मुस्कराते हुए कहा—"हमारे किसी भाई ने, इस विषय में भगवान् का नाम लेकर हमारी छाती में जो तीर मारा है, मैं उसे अनुभव कर रहा हूँ।·· उत्तर में मेरा कहना है कि हाँ, ईश्वर भी नहीं करता। क्योंकि उसने आप जैसे बुद्धिमान लोगों को उत्पन्न करने की ग़लती जो की है या तो हम उसे समझ नहीं पाते या उसकी सत्ता को अस्वीकार करने में कोई सामयिक लाभ देखते हैं। मैं उन्हें बतला देना चाहता हूँ कि उनमें

वह दृष्टि नहीं रह गयी, जो ईश्वर की सत्ता को देख पाती। वे अपनी आत्मा के अन्दर अगर भगवान् की सत्ता का अनुभव नहीं करते, तो उसे समझ भी नहीं सकते और पा भी नहीं सकते। और मेरा तो यह भी कहना है कि—

यदि आपके हृदय में दीन-दुखियों के लिए करुणा नहीं, तो आप उस करुणामय की रचना का रहस्य कैसे समझ सकते हैं!

राकेश का इतना कहना था कि यकायक चारों ओर से 'वाह! क्या बात कही है!····धन्य है, धन्य है।'···की ध्वनियाँ गूँज उठीं।

तब राकेश ने कह दिया—"जिनको इस विषय में शंका हो, वे फ़ुरसत में आकर उसका समाधान कर सकते हैं। मैं आप लोगों का बहुत समय लेने का आदी नहीं, इसलिये अब सबसे पहले मैं इस काम में आपके सहयोग की भिक्षा माँगता हूँ। जो लोग इसमें अपना समय देना चाहें, वे हाथ उठा दें और जो समय न देना चाहें, वे पंक्तिबद्ध होकर अलग खड़े हो जायँ। हम उनकी शकलें देखना चाहते हैं!"

राकेश का इतना कहना था कि हॉल-भर में कोलाहल गूँज उठा और इसके साथ ही उपस्थित सभी व्यक्तियों ने अपना हाथ उठाकर काम करने की स्वीकृति पर मोहर लगा दी।

राकेश ने कहा—"इस सहयोग के लिये मैं सभी बन्धुओं को धन्यवाद देता हूँ। अब इसके बाद हमारे भाई विज्ञानशंकर आपको बतलायेंगे कि यह काम किस तरह प्रारम्भ होगा।"

अपने भाषण के बाद राकेश जब अपनी जगह की ओर बढ़ने लगा, तब तक करतल-ध्वनि बराबर चलती रही। इतने में विज्ञानशंकर ने आकर संक्षेप में कह दिया—"हमारे भाई राकेश ने जिस मर्मवाणी में सेवा-संघ की योजना आपके सामने रखी है, वह उनका ही काम था। अब मैं मोटी-मोटी बातें आपके सामने रखे देता हूँ। सबसे पहली बात यह है कि हम लोग इस काम को दान और चन्दे पर चलाने के पक्ष में नहीं हैं। हम इसको उत्पादन, उद्योग और धन्धे के रूप में करना चाहते हैं। यह कार्य कैसे होगा, कौन आगे बढ़ायेगा, कौन दौड़-धूप करेगा,

इसमें कितने लोग होंगे और उनके कार्य का बँटवारा किस प्रकार होगा, इसके लिए एक समिति आप लोग अभी बना लीजिये और इसका चुनाव अभी कर डालिये। प्रारम्भ में काग़ज़ात छपाने और कार्यालय चलाने के लिए थोड़े-बहुत रुपये की आवश्यकता पड़ेगी, उसे हम लोग अपने प्रयत्न से कर लेंगे। पूरी योजना बन जाने के बाद हम उसको अपनी प्रादेशिक सरकार के सामने पेश करेंगे। आशा है, हमें अपेक्षित सहायता मिल जायगी। अब मैं चाहूँगा कि इस काम के लिए सात आदमियों की एक समिति आप लोग मिलकर बनालें और सलाह करके नामों की चिट हमारे पास भेज दें। पाँच मिनट का अवकाश इसके लिए काफ़ी होगा।"

विज्ञान इतना कहकर बैठा ही था कि उपस्थित प्रसंग को लेकर हॉल पुनः एक कोलाहल से गूँजने लगा। सभी लोगों के पास काग़ज़ की पर्चियाँ पहुँचाने के लिए ऊष्मा, कला, रजनीगन्धा और मन्दाक्रान्ता झट से उठ खड़ी हुईं। जिन लोगों के पास फ़ाउन्टेनपेन नहीं थे, उनसे कह दिया गया कि वे मंच पर आकर अपने प्रतिनिधि का नाम दे जायँ। नामोल्लेख-भर के लिए पेन उन्हें वहीं मिल जायगा।

उपस्थित समुदाय में सभी प्रकार के व्यक्ति थे। जब ये देवियाँ पर्चे बाँट रही थीं, तब विविध प्रकार की वाक्य-वल्लरियों से उनका अभिनव समादर किया जा रहा था!

एक व्यक्ति ने ऊष्मा की ओर देखकर कान के निकट से आयी हुई बिखरी-सी एक लट को लक्ष्यकर समक्ष देखते ही कह दिया—"सेवा का कार्य तो वास्तव में आप ही लोग कर सकती हैं।"

ऊष्मा ने देखा—धृष्ट लोगों को प्रोत्साहन देना अनुशासन के सदा विरुद्ध होता है। अतएव क्षण-भर भी रुके बिना उसने ज्यों-का-त्यों चुकाते हुए उत्तर दिया—"आपका अभिमत बड़ा उच्च कोटि का होता है।" फिर वहीं किसी ने कह दिया—"आपका पूरा भाषण न हो सका, इसका मुझे बड़ा दुःख है।"

इसके उत्तर में ऊष्मा बोली—"आपकी यह सहानुभूति बड़ी सुरुचि-पूर्ण है।"

किन्तु ऊष्मा जब कुछ और आगे बढ़ी, तो एक महाशय बोल उठे—"देखता हूँ, आपको बड़ा कष्ट हो रहा है।"

उसकी इस बात पर ऊष्मा मुस्कराते-मुस्कराते फिर तत्काल गम्भीर होकर बोली—"आपकी यह चिन्ता बड़ी मौलिक है। इससे आपको बड़ी कीर्ति मिलेगी।"

इस प्रकार जब लोगों ने देखा कि ऊष्मा उत्तर देने में हिचकती नहीं, तब वे चुप हो गये।

रजनीगन्धा जब इन लोगों के सामने पहुँची, तो एक साहब बोले—"आपका नाम मुझे बहुत पसन्द आया।"

रजनीगन्धा ने अपनी साड़ी तत्काल सँभालते हुए कह दिया—"धन्यवाद, लेकिन जब उद्देश्य महत्वपूर्ण नहीं होता, तब नाम पूरे वंश को लेकर डूब जाता है। आपने कभी सोचा है?" उत्तर सुनकर वे महाशय लज्जित हो उठे।

मन्दाक्रान्ता ने अनुभव किया कि जनता में सभी प्रकार के लोग होते हैं। इसलिए उनके मनोभावों में वैविध्य होना स्वाभाविक है। फिर बिना सम्पर्क बनाये, सहयोग और सहकारिता असम्भव है। पग-पग पर हम बुरा मानते रहें या छिद्रान्वेषण में लग जायँ, तो उस प्रकार का संगठन हम कैसे कर सकते हैं, जो सार्वजनिक जीवन में आगे बढ़नेवाले जननायक के लिए सबसे अधिक आवश्यक है। अतः जब एक व्यक्ति ने उसके सामने पहुँचने पर कह दिया—ओह, आप! मन्दाक्रान्ताजी! आप तो स्वयं ही वर्णवृत्त हैं! आपको इस प्रकार दौड़ने की क्या आवश्यकता थी?"

मन्दाक्रान्ता ने एक बार होंठ दबाकर उत्तर दिया—"कहते तो आप ठीक ही हैं, पर यह काव्यभूमि नहीं, कर्मभूमि है। यहाँ गति का महत्व है, यति का नहीं।"

कला की दीप्ति बड़ी प्रखर थी। जब उसने देखा कि लोग कुछ कहे बिना नहीं रहते और निरुत्तर रहनेवाला व्यक्ति कभी इस क्षेत्र में सफल नहीं हो सकता, अतः जब एक व्यक्ति बोला—"आपको तो मैंने कहीं देखा है," और फिर कुछ सोचता हुआ कहने लगा—"याद नहीं आ रहा, कहाँ देखा है।"

उत्तर में बिना मुस्कराए गम्भीर वाणी में कला ने कह दिया—"भाईसाहब, आपकी स्मरणशक्ति भले ही धोखा दे जाय, लेकिन मैं यह कैसे भूल सकती हूँ कि जब आपका विवाह हो रहा था, तब आप पर राई-नोन उतारने के लिए चाची ने मकान के ऊपरी कमरे में आकर मुझे ही स्मरण किया था।"

इस प्रकार के उत्तरों से, सम्बन्धित व्यक्तियों पर, बहुत उत्तम प्रभाव पड़ा और फिर किसी ने कोई टीका-टिप्पणी करना उचित नहीं समझा। सम्मतिदान की परचियाँ एकत्र हो गयीं और गणना आरम्भ हो गयी। राकेश, विज्ञान, ऊष्मा, कला, मन्दाक्रान्ता और रजनीगन्धा आदि ने मिलकर झटपट मतदान की गणना कर डाली। सबसे अधिक मत राकेश को मिले। उसके बाद ऊष्मा और कला को। रजनीगन्धा और मन्दाक्रान्ता भी चुनाव में आ गयीं। सब मिलाकर सात व्यक्तियों की एक समिति बना ली गयी। सातवें व्यक्ति थे गिरीशचन्द्र जो राकेश के साथ लगे रहते थे। सदस्यों की घोषणा कर दी गयी और यह भी प्रकट कर दिया गया कि प्रथम बैठक में दो व्यक्तियों के नाम और भी सम्मिलित कर लिये जायेंगे।

अब सभापति और मुख्यमन्त्री के निर्वाचन का विषय उपस्थित हुआ। हाल में कोलाहल मचा हुआ था और लोग अपने-अपने प्रतीक्षार्थियों के नामों पर ज़ोर दे रहे थे। इतने में ऊष्मा ने खड़े होकर सूचित किया—"महानुभाव और बन्धुओ, मुझे आप लोगों को यह सूचना देते हुए बड़ी प्रसन्नता हो रही है कि नगर की प्रसिद्ध कलाकार कलादेवी ने इस सेवा-संघ के प्रारम्भिक कार्य-संचालन के लिए अपनी चित्रकला

की अब तक सञ्चित निधि से दो सहस्र रुपये देना स्वीकार किया है।"

इस सूचना को सुनकर जब करतलध्वनि होने लगी, तब राकेश ने सुना कि सभामञ्च के पश्चिम ओर जिन दो दरवाजों पर चिकें पड़ी हुई थीं, उनके भीतर कैलाश बाबू देर से विराजमान थे।

इसी समय अवसर निकालकर कला जो अपने पिता के पास गयी, तो उन्होंने दो हज़ार रुपये का चैक जेब से निकालकर कला के सामने कर दिया।

मुस्कराती हुई कला बोली—"पर यह चैक तो मेरे नाम का है, पापाजी।"

कैलाश बाबू ने कहा—"मुझे नहीं मालूम था कि तू थोड़ा-थोड़ा करके सञ्चित की हुई धनराशि का इतना बड़ा भाग इस कार्य के लिये दे बैठेगी।"

कला ने उत्तर दिया—"पापाजी, कार्य के महत्त्व को देखते हुए तो यह अनुदान कुछ भी नहीं है। इसलिए मेरे मन में आता है कि इस चैक का रुपया भी मैं सेवा-संघ को समर्पित कर दूँ, तो कैसा हो!"

अब कैलाश बाबू ने कह दिया—"जैसी तेरी इच्छा।"

इस चैक को लेकर कला ज्योंही मञ्च के पास पहुँची, त्योंही ऊष्मा, रजनीगन्धा और मन्दाक्रान्ता के बीच में जाकर बैठ गयी। कला ने ऊष्मा को जो इस चैक की प्राप्ति का विवरण दिया, तो राकेश की दृष्टि उधर जा पड़ी और उसने खड़े होकर कह दिया—"हमको अभी-अभी सूचना मिली है कि हमारे पीछे चिक की ओट में बैठे हुए अनुशिक्षासचिव श्री कैलाशचन्द्रजी सारी कार्यवाही चुपचाप बैठे देख रहे थे। जिन दो सहस्र रुपये दान की घोषणा कलादेवी के नाम से हुई है, उससे प्रभावित होकर व्ययपूर्ति के निमित्त यह दो सहस्र रुपये उन्होंने अपनी पुत्री कलादेवी को दे दिये हैं।

राकेश अभी इतना ही कह पाया था कि ऊष्मादेवी ने उठकर कह

दिया—"आपको यह जानकर और भी प्रसन्नता होगी कि पिता से प्राप्त यह निधि भी कलादेवी ने सेवा-संघ को देने की बात कह दी है।"

"...इस प्रकार कुल चार हज़ार रुपये सेवा-संघ के जन्म की इस पावन घड़ियों में सहज ही प्राप्त हो जाना यह सूचित करता है कि संघ का कार्य निश्चय ही सुचारुरूप से चलेगा और केवल पैसे की कमी के कारण कोई भी कार्य कभी रुकेगा नहीं।"

इतने में विज्ञानशंकर ने कह दिया—"मैं इस समय एक बड़े धर्म-संकट में पड़ गया हूँ। निर्वाचन का कार्य अभी पूरा नहीं हुआ है। कौन इस संघ का सभापति होगा और कौन मुख्य मन्त्री, यह अभी आप लोगों के सन्मुख विचाराधीन है, किन्तु सौभाग्य से हमारे बीच श्रीमान् कैलाशचन्द्रजी गुप्तरूप से निकट ही उपस्थित रहे हैं। वैधानिक रूप से इस समिति की सदस्य-संख्या तो उसकी प्रथम बैठक में ही पूरी होगी, किन्तु हमारी समिति के अधिकांश सदस्यों का अभिमत है कि इस में कैलाश बाबू का नाम क्यों न आज ही जोड़ लिया जाय?"

विज्ञानशंकर अभी इतना ही कह पाया था कि इतने में कैलाश बाबू मंच के पीछेवाले द्वार से आ पहुँचे, राकेश और विज्ञानशंकर आदि ने उन्हें आदरपूर्वक मंच पर उपस्थित कर दिया। परिणाम यह हुआ कि कैलाशबाबू ने खड़े होकर अपना वक्तव्य देते हुए कहा—"उपस्थित सज्जनो, बच्चे चाहे जितने समर्थ हो जायँ, माता-पिता के लिये वे सदा बच्चे ही बने रहते हैं। आप लोगों ने जो महत्वपूर्ण और महान् कार्य अपने हाथ में लिया है उसके साथ सहयोग करना सभी समझदार लोगों का पावन धर्म हो जाता है। मैं भी उन्हीं व्यक्तियों में हूँ, जो ऐसे कार्यों में जीवनोत्सर्ग करना अपने लिये गौरव की वस्तु मानते हैं। किन्तु हमारे आगे कुछ विवशताएँ हैं जिनको ध्यान में रखकर चलना है। बौद्धिक दृष्टि से अधिक उत्तम होगा सामान्य रूप से आप लोगों के उठाये हुए इस कार्य और आयोजन के साथ मेरे मानस लोक का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है, किन्तु मैं चाहूँगा कि आप लोग मुझे इस संघ का सदस्य

बनाने का विचार न करें। यह उचित भी होगा और आवश्यक भी। अभी आपको चुनाव का जो कार्य करना है, उसमें काफ़ी देर लग जाने की सम्भावना है, लेकिन मेरा प्रस्ताव है कि इस संघ का मुख्य मंत्री आप लोग राकेश को ही बनायें और अध्यक्ष का पद ऊष्मा बेटी को दें।"

कैलाश बाबू के इतना कहते ही हाल में कोलाहल मच गया और तत्काल गिरीशचन्द्र ने कह दिया—"इसके पहले कि यह कार्य आगे बढ़े, उपाध्यक्ष के लिये मैं विज्ञानशंकर का नाम उपस्थित करता हूँ।"

गिरीशचन्द्र अभी इतना ही कह पाये थे कि रजनीगन्धा ने कागज़ का एक परचा हाथ में लेकर खड़े होते हुए कह दिया—"आप लोगों को मैं एक बड़े हर्ष का समाचार देने जा रही हूँ। हम लोगों के बीच में विज्ञानशंकरजी अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। सौभाग्य से उनके पितामह श्रीमान् गौरीशंकर अभी जीवित हैं, जिनकी अवस्था निन्यानवे वर्ष की है। कहीं किसी ने कँगलों और भिखारियों की जीविका और उनकी परिवार-नियोजना का कार्य हाथ में लेनेवाली इस संस्था को जन्म देने का समाचार जो दिया, तो वे आनन्द, उत्साह और हर्षोन्माद से इतने पुलकित, विह्वल और भावदृप्त हो उठे कि उन्होंने संचित व्यक्तिगत आय में से पाँच हज़ार रुपये का दान करने की घोषणा की है।"

रजनीगन्धा के इस कथन के बाद हाल एक तुमुल कोलाहल से गुंजित हो उठा और ऊष्मा ने उठकर कह दिया—"हमारे भाई राकेश बाबू का कथन है कि यदि आप लोगों को स्वीकार हो तो यह निर्वाचन पृथक्-पृथक् मतदान की प्रथा के बजाय सामूहिक रूप से और सर्व-सम्मति से कर लिया जाय। अब एक नाम इस निर्वाचन में कोषाध्यक्ष का रह जाता है। उसके लिये मैं गिरीशचन्द्रजी के पूज्य पिता श्रीमान् युधिष्ठिर अग्रवाल का नाम उपस्थित करता हूं और साथ ही इस संघ

के अध्यक्ष पद के लिये अपना नाम वापस लेकर श्रीमती वसुधादेवी का नाम उपस्थित करती हूँ। आप लोगों के लिये कदाचित् यह नाम बिलकुल नया होगा, किन्तु जब आप यह जान जायेंगे कि यह वसुधादेवी कौन हैं, तब आप सब लोग उनको निर्वाचित किये बिना न मानेंगे। तो अब मैं आपको बतला ही दूँ कि वे हम लोगों की माँ, कला बहिन की सगी माँ और परम सौभाग्यवती धर्मपत्नी श्रीमान् कैलाशचन्द्र हैं।"

इतने में राकेश उठ खड़ा हुआ और बोला—"मैं इस प्रस्ताव का सादर समर्थन करता हूँ।

"अब मुझे आपसे केवल दो बातें करनी हैं। पहली तो यह कि इस चुनाव-कार्य के बाद आप लोग जब अपने-अपने घर पहुँच जायेंगे और परिवार में मिलकर नित्यकर्म और विश्राम में निमग्न होकर बहुतेरी उन बातों को भी भूल जायेंगे, जो आज इस समय यहाँ आपके मन में उत्पन्न और विलय होती रही हैं। तो उन संकल्पों और सदिच्छाओं को आप कहीं भूल न जायँ और दूसरी यह कि सभा के इस कार्य-निर्वाह में यदि हमसे और व्यक्तिगत रूप से मुझसे ही ऐसी बात हो गयी हो, जो आपको बुरी लगी हो, या जिसने आपका जी दुखाया हो, तो उसके लिये आप मुझे क्षमा करें। जैसे अभी मेरे विज्ञान भाई ने मुझे सुझाया कि मुझको अपने भाषण में यह बात नहीं कहनी चाहिये थी कि जो लोग सेवा-संघ के कार्य में दिलचस्पी न रखते हों, वे अलग खड़े हो जायें, हम उनकी शक्ल देखना चाहते हैं। मुझे इस विषय में यह निवेदन करना है कि इस कथन की शब्दावली पर न जाकर उसकी भाव-भूमि पर ही विशेष रूप से ध्यान रखने की आवश्यकता है। मैंने यह जो कहा कि इस कार्य से दिलचस्पी न रखनेवालों की मैं शक्ल देखना चाहता हूं, तो मेरे इस कथन के मूल अभिप्राय में आशा की वह ज्वलन्त ज्योति थी, जिसके अन्दर मेरी एक महती आकांक्षा निहित

थी। आप जानते हैं कि मैं साधारण की अपेक्षा असाधारण की कल्पना अधिक करने का का अभ्यासी हूँ। मैं तो सदा यही सोचता रहता हूँ कि अगर मुझसे कभी कोई अपराध हो जाय, तो आप लोग मुझे कभी क्षमा न करें। इसी प्रकार अगर में यह सोचता हूँ कि मैं सदा ऐसा ही निवेदन करूँ, ऐसे कार्य में संलग्न होने के लिये आपका मूल्यवान समय लेना चाहूं, सेवा के लिये आपका श्रम मागना चाहूँ, असहाय बच्चों और नर-नारियों को काल के गाल से तुरन्त निकाल लेने की भावना से, आपसे कुछ पैसे-टके ही विनयपूर्वक छीन या लूट लेना चाहूँ, तो शायद आप लोगों में से कोई भी बन्धु 'न' नहीं करेगा। बस, इसी भावना से प्रेरित होकर मैंने यह सोचा था कि जो भी सभा में आया है, वह इस कार्य से दिलचस्पी तो रखता ही है। अब मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या यह कोई ऐसी आशा है जिसका मैं अधिकारी नहीं हूँ? क्या यह कोई ऐसी माँग है, जिसकी आप पूर्ति नहीं करेंगे ? अभी आपने देखा कि हमारे बीच में ऐसे-ऐसे उदार और सहृदय महापुरुष मौजूद हैं, जो ऐसी संस्था के जन्म की घड़ियों में ही बहुत कुछ उत्सर्ग कर देने के लिए तत्पर हो उठे हैं। तो जब हम इस कार्य को आगे बढ़ायेंगे, तब आपको इस नगर में एक भी भिखारी, सड़कों पर भीख माँगते हुए नहीं दीख पड़ेगा। अरे ,मैं तो यहाँ तक कहना चाहता हूं कि आप लोगों का साथ, सहयोग सेवा और श्रम हमको प्राप्त हो, तो संसार के इसी नरक-कुण्ड को एक दिन हम सब नन्दन-कानन और जीवन-सौख्य का मधुबन बना सकते हैं। बस, शर्त यह है कि आप मानवता के वास्तविक स्वरूप को समझने की चेष्टा में सदा तत्पर बने रहें। आप कृत्रिम भूख और प्यास के नाम पर उत्तेजित और आयोजित तृष्णा के नाम पर, सगे भाइयों और आत्मीय स्वजनों की बहू-बेटियों और उनके बच्चों के मुँह का कौर तो न छीनें ! ईर्ष्या-द्वेष में पड़कर फूट की विनाशकारी ध्वंसलीला का आह्वान न करें, तो एकता, मैत्री, सहयोग और संगठन से हम क्या नहीं कर सकते ?"

राकेश का भावना में डूबा हुआ ऐसा कथन सुनकर सभा में उपस्थित सभी लोग एक बार पुनः प्रभावित और विमोहित होकर करतल-ध्वनि कर उठे। तब अन्त में राकेश ने कह दिया—"बस, इन्हीं शब्दों के साथ मैं उन संशोधन-प्रस्तावों का समर्थन करता हूं, जो आपके सामने रखे गये हैं।"

राकेश इस कथन के बाद बैठा ही था कि विज्ञान ने उठकर कह दिया—"अब मैं आप लोगों का अभिमत चाहता हूँ। जो लोग प्रस्तावित और संशोधित नामों के पक्ष में हों, वे कृपा करके अपना हाथ उठा दें।"

तदनन्तर विज्ञान ने देखा कि जिधर उसकी दृष्टि जा रही है उधर सभी हाथ उठे हुए हैं। यत्र-तत्र लोग सर्वसम्मति से भी कह उठते हैं। फलत उसने कह दिया—"चुनाव का सम्पूर्ण प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हुआ" और राकेश ने अन्त में कह दिया—"अब आज का कार्य समाप्त होता है।"

एक हर्ष, आनन्द, भावना, कल्पना, हास-परिहास, व्यंग्य, विनोद के साथ उपस्थित जन-समूह धीरे-धीरे उठ-उठकर चलने लगा। अन्त में राकेश और विज्ञान भी उठ खड़े हुए और कैलाश बाबू ने उठकर छड़ी हाथ में लेते हुए कह दिया—"अरे कला, आज तो इस सभा में काफ़ी देर हो गयी। जब मुझे ही भूख लग आयी है, तो तुझे और तुम्हारे इन सहयोगी और साथियों को तो और भी ज़्यादा लगी होगी। इसलिये क्यों न हम लोग इन्सपिरेशन रेस्तराँ की तरफ़ चलें।

उनका इतना कहना था कि विज्ञान ने कह दिया—"वाह बाबूजी, क्या बात कही है आपने! सही अर्थों में आप ही हम सब लोगों के प्रतिनिधि हैं। और पिता को तो ऐसा होना ही चाहिये।"

राकेश साथ ही साथ चल रहा था। बोल उठा—'लेकिन बाबूजी

आपके चरणों के प्रताप से मैं अभी बारह बजे तक इसी प्रकार काम में लगा रह सकता हूँ।"

तब अंत में ऊष्मा ने मुस्कराते हुए कह दिया—"केवल एक शर्त के साथ कि दो-दो घण्टे पर चाय मिलती रहे—'स्ट्राँग' !"

ऊष्मा के इस कथन के साथ कला, रजनीगन्धा और मन्दाक्रान्ता एक साथ हँसने लगीं और राजपथ पर आते-आते उस विशाल जन-समूह के बीच एक अट्टहास गुंजित हो उठा।



: १२ :

राकेश का कुछ ऐसा स्वभाव बन गया था कि जब कोई उससे अपना आकर्षण, मोह और अनुराग व्यक्त करता तो वह विचार में पड़ जाता—'पता नहीं, यह मुझसे क्या आशा रखता है! मालूम नहीं, मेरी किस बात ने इसके मन के तारों को स्पन्दित किया है!' उसका मन्तव्य तत्काल स्वीकार करने की उसकी रुचि ही न होती। सबसे पहले वह उसके निहित स्वार्थ की कल्पना करने लगता। यह बात न थी कि छवि, रूप, स्वास्थ्य, शृंगार और सौंदर्य उसको प्रभावित न करता हो किन्तु जब कभी भी किसी का स्नेह, प्रेम और समादर उसे मिलता, तब वह चिन्तन में पड़ जाता था। अनेक प्रकार के ढंगों और प्रसंगों के माध्यम से वह निरन्तर अनुभव कर रहा था कि कला मेरे निकट आ रही है। वह मेरे मानस-लोक में कम्पन उत्पन्न कर रही है। मेरी कल्पनाओं को चुपके-चुपके छू रही है। मेरे आदर्शों को बिना कुछ बोले मूक भाव से टटोल रही है।' तब वह अपने आपसे पूछने लगता कि कहीं इसके रूप का जादू तो मुझ पर नहीं चल रहा है! कहीं ऐसा तो नहीं है कि इसके प्रभाव में आकर मैं अपने उच्च स्तर से खिसक रहा हूँ! इसकी कोमलता मुझे ठग रही है। चारों ओर और दशों दिशाओं से कल्पनाओं के चित्र बन-बनकर उसकी चिन्ता-धारा पर मँडराने लगते।—यहाँ तक कि कभी-कभी तो वह स्वप्न में बड़बड़ाने लगता—सन्देह-कल्पनाएँ देह शब्द और वाणी का रूप, स्वरों का माधुर्य और निर्घोष धारण कर लेतीं।···सड़क पर खड़ा है—आलू-मेंथी का साग खरीद रहा है। सामने से एक आदमी बकरी का एक कान घसीटत हुए चला जा रहा

है। बस, राकेश यही सोचने लगा—'कहीं मैं बकरी तो नहीं बन रहा हूँ !' फिर एकाएक इस आशंका पर उसे स्वयं, अपने आप पर हँसी आ गयी।

एक दिन वह मकान से नीचे उतरकर सड़क पर अपने लिये गमछा ख़रीदने जो निकला, तो क्या देखता है कि पुलिस वैन पर चार सिपाहियों के बीच एक ऐसा व्यक्ति बैठा हुआ है, जो नवयुवक है और वेश-भूषा से पढ़ा-लिखा, सम्भवतः ग्रेज्युएट मालूम पड़ता है।...राकेश वहीं खड़ा हो गया। पहले वह एक सिपाही से बोला—'देखिये, मैं इस नौजवान से दो-एक प्रश्न करूँगा। मैं इसको पहचानता नहीं। न यह मेरा कोई मित्र, बन्धु या रिश्तेदार है, फिर भी इस समय अपराधी के रूप में है। केवल इसी कारण मैं इससे कुछ प्रश्न करना चाहता हूँ। आपको यदि कोई एतराज़ न हो, तो मैं बात कर लूँ।"

सिपाही कुछ सशंकित तो हुआ, पर राकेश का व्यक्तित्व उसे कुछ प्रभावशाली जान पड़ा। इसलिए वह इन्कार न कर सका। उसने अनुमति दे दी। राकेश फुटपाथ पर खड़े हुए, उसके कान के पास मुँह ले जाकर बहुत धीरे से बोला—'बताइये मैं आपके किसी काम आ सकता हूँ। आख़िर आपने कौन-सा अपराध किया है ?'

नवयुवक पहले आश्चर्य में पड़ गया, फिर बोला—"एक विश्वासघात का परिणाम तो यह है कि मैं जेल जा रहा हूँ। अब अगर आपने भी विश्वासघात किया, तो पता नहीं, उसका क्या परिणाम हो !"

इतना कहते-कहते उसकी आँखें तरल हो उठीं।

राकेश को इस अवसर पर थोड़ा-सा संकोच और दुःख तो हुआ, किन्तु उसने साहस के साथ उत्तर दिया—"संसार के सभी आदमी प्रवञ्चक, चोर, उठाईगीर और बदमाश नहीं हैं। जो आदमी अपरिचित होता है वह भी होता उसका भाई ही है; क्योंकि हम सबका परमपिता तो एक ही है। फिर अगर सारा संसार ही अविश्वसनीय हो

जायगा तो जीने का कहीं ठौर रह जायगा इस दुनियाँ में ! विश्वास करो मेरी बात पर। बतलाओ, तुमने क्या किया है ?"

नवयुवक ने कहा—"माया नाम की एक लड़की से मेरा परिचय था केवल कालेज का और सो भी उस मार्ग का, जिस पर हम दोनों चल रहे थे। मेरा अपराध यह है कि मैं उससे अपने लिये कुछ आशा रखने लगा था। अब उसके माता-पिता की दृष्टि में इसीलिए अपराधी बन गया हूँ। माया मुझसे आकृष्ट रही है, यह मैं मानता हूं ; किन्तु उसके माता-पिता का कहना है कि मैंने ही उसे कहीं छिपा रखा है। मुझे दुःख इस बात का है कि मैंने उसे आश्वासन क्यों दिया ! आज सवेरे मुझको पता चला था कि रात उसको बेतों से पीटा गया और अभी थोड़ी देर में सुनता हूँ कि वह घर पर नहीं है और यह भी पता नहीं चल रहा कि वह गयी कहाँ ! अब लड़की भगाने और सोने के कुछ जेवर चुराने के षड्यन्त्र में मुझे अपराधी बना दिया गया है। लड़की के पिता स्वर्णकार हैं और जो गहने उड़ाये गये हैं, वे उसकी निज की सम्पत्ति नहीं हैं। वरन् उन लोगों के हैं, जिन्होंने उसे बनाने के लिए दिये थे।'

राकेश पहले विचार में पड़ गया। फिर बोला—"यह अभियोग तो ऐसा नहीं है कि तुम ज़मानत पर छूट न सको ?"

नवयुवक ने उत्तर दिया—"लेकिन मेरे घर के लोग तो यहाँ हैं नहीं।...और ऐसे दुष्कर्म के अपराध पर ज़मानत करने की प्रार्थना भी मैं किससे करूँ !...मैं चुपचाप सब कुछ भोग लूँगा, लेकिन भगवान् को भी यह उलाहना नहीं दूँगा कि देख लो, तुम्हारी बनायी हुई दुनिया का यह रूप है !"

राकेश उसकी इस बात से प्रभावित हो उठा। बोला-"ज़रा अपना पता-ठिकाना तो लिखा दीजिये। गाँव का नाम, पिता का नाम, ज़मीन ज़ायदाद। मैं अभी आपकी ज़मानत का प्रबन्ध करता हूं।"... राकेश गमछा लेना भूल गया। जब उसकी ज़मानत के लिए तत्पर हुआ, तब पता चला कि माया घर पहुँच गयी है। रात को वह अपनी मौसी के घर

चली गई थी ; लेकिन उसका कहना यह है कि संसार में ऐसी कोई शक्ति नहीं जो दिवाकर से मुझे दूर रख सके। उसने पहले तो माता-पिता से क्षमा माँग ली और दिवाकर भी छोड़ दिया गया, किन्तु अगले ही मास दोनों ने चुपचाप 'सिविल मैरिज' कर ली।

राकेश प्रसन्न था कि मैंने समाज की एक समस्या हल कर दी। पर अभी छै मास भी न बीत पाये थे कि माया एक दिन रोती-रोती पुनः पिता के घर लौट आयी। अब वह अत्यन्त दुर्बल हो गयी थी और उसके पेट में एक नवीन आत्मा ने काया का रूप धारण कर लिया था। इस भावुकता का परिणाम यह हुआ कि माया, माता-पिता के लिए भार बन गयी ; क्योंकि दिवाकर का अब कहीं पता नहीं चल रहा था और माया प्रायः इस कल्पना और आशंका के साथ उसका स्मरण कर-करके रोया करती थी कि दिवाकर को अवश्य ही किसी लड़की ने फँसा लिया है। रम्भा, तिलोत्तमा और विद्या तो प्रायः उसके लिए चक्कर काटती रहती थीं। राकेश एक दिन उस माया से भी मिला। उसकी सारी कथा सुनी। उसने उसको समझाने की बड़ी चेष्टा, की किन्तु उसने रो-रोकर यही कहा—'तुम नहीं जानते दादा, उनका स्वभाव कितना सरल है।''

राकेश को ऐसा जान पड़ा, मानों उसे साँप ने काट खाया हो। बिना कोई उत्तर दिये, वह चुपचाप चला आया और तब से वह प्रायः यही सोचने लगा कि सहानुभूति सबको देने की वस्तु नहीं। उसको इस बात पर दुःख था कि उसने दिवाकर की सहायता क्यों की ? इस घटना का और भी एक परिणाम हुआ। वह यह कि राकेश रूप को पथ का कंटक समझने लगा। वह अब निरन्तर यही सोचा करता कि सौन्दर्य और रूप के साथ केवल अनैतिकता का ही नहीं, मूर्खता का भी बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। उसका यह निष्कर्ष तब और भी पक्का हो गया, जब कालान्तर में एक दिन उसने सुना कि दिवाकर को इसी प्रकार के एक अभियोग में डेढ़ वर्ष का सपरिश्रम कारावास भोगना पड़ रहा है।

इसी क्रम में आज राकेश सोचता है कि माया के जीवन को इस

सीमा तक नष्ट करने का अपराधी वह स्वयं भी है।

आज जब कला उसको भोजन के लिए कार पर अपने घर लिये जा रही थी, तब वह बारम्बार यही सोच रहा था कि हो सकता है, मैं भी रूप के प्रभाव में आ गया हूं। यद्यपि इतना जानता हूँ कि कला की बौद्धिक पृष्ठभूमि उतनी दुर्बल अस्थिर, और आधार-हीन नहीं।

परिणाम यह हुआ कि उसके साथ जाने और वसुधा के साथ बैठकर भोजन करने पर भी वह गम्भीर ही बना रहा। एक तो उसे रिक्शे-वाले का ध्यान था, जिसे वह हास्पिटल में मरणावस्था में छोड़ आया था। दूसरे कला की आत्मीयता में पड़कर इस द्विविधा, आशंका और उन सम्भावनाओं का, जो भविष्य के अतल गर्भ में समाई हुई थीं और जिनके सम्बन्ध में निश्चय का रूप देने में वह समर्थ न था।

वसुधा को एक आशंका ने चारों ओर से घेर रखा था। वह सोचती थी कि कला उसके साथ सुखी न रह सकेगी। न तो वह समय से खाना खाने बैठेंगे, न रात को नियम से सोने और प्रातःकाल उठने का कोई निश्चित समय रहेगा। घर में होने पर भी वह बेघर-बार का-सा जीवन व्यतीत करेगा। इसलिए जब उसने देखा कि राकेश अपनी ओर से कुछ बात नहीं कर रहा है, तो उसने प्रश्न कर दिया—"राकेश बेटे, पहले तो मैं घबरा गयी थी। सोचती थी—कहीं तुम भी तो उन लड़कों में से नहीं हो जो अपने रहन-सहन में किसी नियम को नहीं मानते ; क्योंकि अनुभव के आधार पर—कभी-कभी यह शंका मेरे मन में उठी है।"

प्रश्न के समय कला की दृष्टि ममी पर जा पड़ी। उसके मन में आया कि वह क्यों न उनको मना कर दे—'तुमको इस प्रकार की बातें कम-से-कम मेरे सामने तो नहीं करनी चाहिये ममी।' परन्तु फिर इस विचार से उसने कुछ नहीं कहा कि राकेश का मौन तो भंग हो।

वसुधा बोली—"लेकिन फिर यह जानकर कि एक परोपकार के

कारण ही तुम समय पर नहीं आये, मेरी शिकायत दूर हो गयी। पर बेटा, एक द्विविधा अब भी मेरे मन में बनी हुई है कि सेवा के कामों का सिलसिला तो कभी टूटता नहीं, पर नित्यकर्म तो निबाहने ही पड़ते हैं। समय पर खाना न मिले, तो शरीर टूट जाता है। अपने जीवन से लगे जो लोग हैं, ऐसी दशा में उनको भी तकलीफ़ होती ही है। एक को तकलीफ़ देना और दूसरे की तकलीफ़ दूर करना—यह सब क्या है! क्यों इस पर तुम्हारा कभी ध्यान नहीं जाता? फिर जो अपने हैं, अपने घर के हैं उनकी तकलीफ़ छोटी चीज़ है और जो बाहर के हैं, जिनसे अपना कोई नाता नहीं, उनकी बड़ी। ऐसा क्यों हैं?...मुँह को जाता हुआ कौर बीच में ही रुक गया और राकेश के मुँह से निकल गया—"अपना और पराया तो हमने समझ लिया है, बना लिया है। वास्तव में कोई अपना नहीं है। एक ऐसा समय आयेगा और निश्चित रूप से आयेगा, जब तुम मुझे छोड़कर चली जाओगी। मैं चाहे जितनी विनती करूँगा, पर तुम मानोगी नहीं!"

कला का चेहरा, उसकी मुखश्री विवर्ण हो उठी और वह एकदम से बोल उठी—"यह तुम क्या कह रहे हो? पापा सुनेंगे तो क्या कहेंगे?"

वसुधा की आँखों में आँसू आ गये। राकेश जड़ हो गया था। वसुधा के रुदन की ओर ध्यान न देकर उसने कह दिया—"और दूसरी बात यह है कदाचित् तुम्हें नहीं मालूम है मात्ताजी कि अपने से अधिक दुखी जन की सेवा ही परमार्थ है। दूसरे लोगों की बात मैं नहीं जानता—कम-से-कम मुझे, मेरे मन को, परमार्थ में बहुत आनन्द आता है। मैं समझता हूँ, एक यही वह चीज़ है जो हमको मरने से बचा सकती है। देह छोड़ने के बाद भी हम बने रह सकते हैं।"

वसुधा ने अपने आँसू पोंछ लिये और उसने हर्ष-गद्गद् वाणी में कह दिया—"बस-बस बेटा, मेरा सारा भ्रम दूर हो गया।"

कला का खाना भी बन्द हो चुका था। अब तक वह चुपचाप बैठी

थी, पर अब उसने कह दिया—'मेरे तो सिर में दर्द होने लगा। मालूम नहीं, अपने घर में ममी और भाई साहब से तुम्हारी कैसे पटती होगी !"

राकेश हँसने लगा। बोला—"तुम्हें पता नहीं, मेरी किसी से लड़ाई ही नहीं होती। उस दिन यहाँ से जाने के बाद जब हम घर में पहुँचे तो मैंने अम्मा से सारी कथा कह दी वह बोली—"तुम्हारा यह भीतर और बाहर जो एक रहता है, यही सब गड़बड़ करता है। दूसरी बात यह है कि तू बड़ों की बड़ाई नहीं मानता और न छोटों की छोटाई। माताजी, मैं आपसे सच कहता हूँ कि इस जगह पर आकर अम्मा ने मेरे मर्म को छू लिया और आज तुमने। बात यह है कि यदि मैं घर पर दूध नहीं लेता और आप यहाँ इस समय दूध का सागर भी मेरे सामने उँडेल दें, तो मेरी यह इच्छा कभी न होगी कि मुफ़्त मिल रहा है, दूध है, इसलिए इसे चढ़ा ही लेना चाहिये और जैसे चाय है, मैं लेता हूँ और यदि संयोग से आपने उसके लिए भी मुझे न पूछा, तो हो सकता है कि उसकी गहरी प्रतिक्रिया का मैं कई दिन तक भुगतान करता रहूं। जैसे उस दिन मैं आपके आग्रह की रक्षा में खीर का दूसरा दौर चलने पर इन्कार नहीं कर सका, तो यह बात रात भर बराबर मेरे मन को काटती रही कि मैंने स्वीकार ही क्यों कर लिया !"

वसुधा बोली—'अच्छा जाने दो इस बात को। और सुनो। उस दिन पहले तुम मेरे पुकारने पर भी नहीं लौटे। मान लो, यह कला तुमको न पकड़ लाती, तो मेरे मन का दुःख तुमको कभी याद न आता ? तुम इसको अशिष्टता नहीं मानते ?"

"माताजी, बात यह है दुखियों के दुःख दूर करने की अपेक्षा आप जैसे सुखी जनों की भावनाओं का ध्यान न रखना मैं अनुचित नहीं समझता।"

वसुधा विचार में पड़ गयी। उसके मन में कई बार यह विचार उठने और गिरने लगा कि ऐसा व्यक्ति तो किसी का भी सगा नहीं हो सकता।

और कला ने कह दिया—"मुझे डर इस बात का लग रहा है कि यह बहस अगर इसी तरह चलती रही, तो उस दिन की भाँति आज भी भोजन का सारा मजा किरकिरा हो जायगा। हो तो गया ही एक तरह से।"

अब राकेश मौन हो गया।

अभी भोजन चल ही रहा था कि कैलाश बाबू द्वार पर आ पहुँचे। थोड़े मुस्कराये और बोले—"चलो, यह अच्छा हुआ कि तुम फिर लौट आये राकेश।"

कला पिता की ओर दृष्टि डाल बोल उठी—"चले तो आये, मगर आये कैसे, अभी यह बात तुम्हें नहीं मालूम है, पापा।"

"सभी बातें मालूम करने की इच्छा मैं नहीं रखता। मैं तो परिणाम देखता हूँ—केवल।......राकेश तुम तो अभी ठहरोगे न?"

राकेश ने भोजन समाप्त करते हुए कह दिया—"नहीं बाबूजी, हमको अभी तुरन्त जाना होगा।" कला राकेश के इस कथन में 'मैं' के स्थान पर 'हम' के प्रयोग को लक्ष्यकर मुस्कराने लगी।...और वसुधा स्वामी की ओर देखकर बोल उठी—"कोई बात नहीं, अभी अगर चला भी जायगा, तो शाम को फिर आ सकता है।"

राकेश उठता हुआ बोला—"बाबूजी, मेरा कुछ ऐसा ख़याल है कि अगर चौबीस घण्टे मैं आप लोगों के साथ बना रहूँ, तो फिर कभी ऐसा अवसर नहीं आयेगा कि आप लोगों में किसी को भी मेरे सम्बन्ध में कोई शिकायत हो।"

कैलाश बाबू ने कह दिया—"तो ऐसा करो राकेश कि आज ही तुम यहाँ चौबीस घण्टे के लिये ठहर जाओ। मैं वसन्त के यहाँ सूचना भेजे देता हूँ।"

राकेश ने उत्तर दिया—"बना भी रह सकता हूँ। सिर्फ़ एक बार पन्द्रह मिनट के लिये घर जाना पड़ेगा। क्योंकि अम्मा मेरे साथ बैठकर

भोजन करती हैं और रात में सोने से पहले मैं दूध उन्हीं के हाथ से पीता हूँ ।"

वसुधा मुस्कराती हुई बोल उठी—"आज तुम सोने से पहले दूध मेरे हाथ से पी लेना ।"

माँ के इस कथन पर कला उसकी ओर देखती-देखती कुर्सी छोड़कर चल दी और कैलाश बाबू बिना कुछ बोले अपने कमरे की ओर बढ़ गये ।

दिन बीतते जा रहे हैं और काल के चरण आगे बढ़ रहे हैं ।

जेलर का मकान सामने देखकर राकेश सोचने लगा—'अनुमति दे भी सकता है। क्योंकि अब हिन्दुस्तान बहुत कुछ बदल गया है।···मगर ऐसा भी हो सकता है कि सन्तरी कह दे साहब सो रहा है। मिलना अभी नहीं हो सकता । फिर ध्यान आया कि यह कायर आदमी का लक्षण है । अपने उद्योग और प्रयत्न का परिणाम उसे सदा व्यर्थ दिखाई देता है । फिर यह भी विचार हो उठा कि इस आशंका का भी कोई मूल्य नहीं। क्योंकि यह तो चिन्तन का धर्म ही है कि एक बात हम पक्ष में सोचते हैं, तो दूसरी विपक्ष में । यही न होगा कि हमें अभी लौट जाना पड़ेगा और फिर दुबारा दौड़ना होगा, लेकिन पहले देख तो लिया जाय । आठ बज रहे हैं। नहा-धोकर वह जेल के अपने ऑफ़िस जाने की तैयारी कर रहा होगा । मैं बिलकुल ठीक समय से आया हूँ ।'

इस प्रकार अपने में खोया, विचारों में भीगा राकेश जेलर साहब के बँगले पर जा पहुँचा। वह कुरता, सदरी और गांधी टोपी दिये हुए था। उसके बगल में एक लेदर बैग था । सामने के जेब में फ़ाउंटेनपेन था । उसके कुरते के बायीं ओर, कन्धे पर, एक आधे इंच का अंश फट गया था,

जिसको उसने डोरे डालकर सी लिया था—स्वयं अपने हाथ से। उसके सैण्डिल की एँड़ीवाला पट्टा तलुये के दायीं ओर तले की पट्टी से उखड़ गया था। इस कारण पैर उठाते हुए सैण्डिल का ऐड़ीवाला भाग रास्ते पर घसिटता जा रहा था। उसकी दाढ़ी आज बनी हुई न थी और सदरी का एक बटन ग़ायब था। इन सभी बातों पर एक साथ ध्यान देता हुआ ज्योंही वह आगे बढ़ा, त्योंही सन्तरी ने टोक दिया—"कहाँ बाबू साहब?"

"जेलर साहब से मिलना है।"

"अच्छा-अच्छा, जाइये।"

बरामदे में जहाँ बीच में बापू का मुस्कराता हुआ तैल-चित्र टँगा था, उसके दोनों ओर दायें-बायें हरिनों का शिरोभाग टँगा हुआ था, जिनमें दो-दो सींग एक-एक फ़ीट के लगभग लम्बे और काले-काले ऐंठे हुए थे।

ठीक उन्हीं के नीचे फ़र्श पर दो कुर्सियाँ पड़ी हुई थीं गोष्ठीवाली, जिनके पिछले पाये बैठनेवाले को पीठ की ओर झुकने की सुविधा देते रहते हैं। एक कुर्सी के ऊपर पुकार-घण्टी का बटन लगा था, जो दाल के एक दाने के आकार से कुछ मोटा और सफ़ेद था। राकेश ने उस बटन पर अपनी तर्जनी रखकर दबा दिया। बरामदे के ऊपर तो बिजली का पंखा लगा था, किन्तु द्वार-मंच के बीच में पिंजड़े के भीतर टँगी, बैठी हुई मैना अपने स्वर में बोल उठी—"बैठिये, बैठिये, संकोच मत कीजिये, साहब आते हैं।"

राकेश की दृष्टि यकायक उसकी ओर दौड़ गयी और उसके मन ने कह दिया—"वाह द्वार के प्रहरी! पंछी! तुम्हारा यह सद्व्यवहार मुझे स्मरण रहेगा।"

भीतर घण्टी बोलने के साथ ही दोस्तमुहम्मद साहब पैन्ट के जेब में हाथ डालकर सिगरेट का पैकेट और दियासलाई दायें ओर और रूमाल बायीं ओर टटोलते और बुश-शर्ट के जेब में फ़ाउंटेनपेन है, या

नहीं, इसको देखते हुए तुरन्त द्वार पर आ गये और किवाड़ खुल गये।

राकेश ने हाथ उठाकर कहा—"नमस्कार जेलर साहब।"

"आदाब अर्ज जनाब!" फिर पड़ी हुई कुर्सी की ओर संकेत कर बोले—"बैठिये, तशरीफ़ रखिये। कैसे तकलीफ़ की?"

राकेश एक कुर्सी पर बैठते हुए बोला—"पहले मैं अपना परिचय तो दे दूँ।" जेलर साहब ने अपनी कुर्सी ग्रहण करते हुए उत्तर दिया—हालाँकि यह टाइम जेल के अन्दर एक बार चक्कर लगाने का है और इस वक्त यहाँ मुलाक़ात मैं अक्सर नहीं किया करता, लेकिन आप लोग तो मेरे आका हैं। आपके लिये मैं हमेशा हाज़िर हूँ। कहिये।"

"जेलर साहब, आपके यहाँ इस बँगले में आकर मिलने का एक कारण है। मैं लखनऊ का रहनेवाला हूँ और वहीं से आ रहा हूँ। अभी जिस वर्ग को आपने आका नाम दिया है, उसका मैं कोई पदाधिकारी भी नहीं हूँ। मैं तो एक जन-सेवक मात्र हूँ, और मेरा नाम राकेश है। आपने शायद समाचारपत्रों में पढ़ा होगा कि लखनऊ में एक ऐसी संस्था बन गयी है, जिसने गली-गली के, सड़कों और मोहल्लों-मोहल्लों के, दर-दर मारे फिरनेवाले, टुकड़े-टुकड़े के लिये व्याकुल अधीर भिखमगों के के लिये खाना-कपड़ा, रहने का साधन, मकान और साथ ही उनके बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध करने का बीड़ा उठाया है।"

"हाँ, ऐसा कुछ देखा तो है अख़बारों में और अभी हाथ में एक ऐसी तवारीख़ पड़ गयी थी, जिसमें मैंने देखा कि ठीक ख़याल नहीं आ रहा कि शहंशाह शाहजहाँ था या जहाँगीर मतलब यह कि मुग़लों की सल्तनत के ज़माने में भी ऐसी ही कुछ कोशिश की गयी थी।...हूँ...हूँ मगर जनाब, खुदा की कुदरत को क्या कीजियेगा!" दायीं जाँघ के ऊपर एक थाप मारते हुए जेलर साहब बोले—"ख़ैर, हुकुम कीजिये।" और इस कथन के साथ बायीं कलाई की घड़ी देखने लगे।

इसी समय मैना बोल उठी—"और क्या आपकी ख़ातिर करूँ?"

और जेलर साहब ने कह दिया—"ओहः! आय एम् सारी।" उठ

कर दरवाजे के सामने गये—"अरी, अफ़साना ! जरा साहब के लिये पान-इलायची तो ले आना ।"

राकेश मन-ही-मन प्रसन्न हो उठा और बोला—"आपकी प्रसन्न प्रकृति और संस्कृति का परिचय पाकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है ।"

पैरों में चूड़ीदार पायजामा और चप्पल, बदन पर एक चपकी कलाइयों का कुरता और उसके ऊपर काले रेशम का वेस्टकोटनुमा जैकेट सिर की चोटी कमर के नीचे तक लटकती हुई अफ़साना हाथ में तश्तरी लिये सामने आ खड़ी हुई ।

राकेश ने इलायची ले ली । हाथ जोड़कर कह दिया—"धन्यवाद ।"

राकेश कुछ ऐसी स्थिति में था कि कभी वह जेलर साहब के भरे-भरे गोरे, प्रसन्न मुख की ओर देखता, कभी मैना और अफ़साना की ओर ।

इतने में जेलर साहब बोल उठे—" आपने अपने लिये काम खूब चुना है । जब मैं कालेज में पढ़ता था, तब मैं भी कुछ इसी तरह के सपने देखा करता था कि मैं यह करूँगा, वह करूँगा; मगर तक़दीर में तो बदा था आदमी की शकल में आने वाले जानवरों की देख-रेख··· क्या जिन्दगी है !"

"जेलर साहब, सच पूछिये तो आपका काम बहुत उत्तम है । इतना सुन्दर और महत्वपूर्ण कि आप लोग चाहें तो देश की काया पलट सकते हैं । आप चाहें तो एक ऐसा भी दिन आ सकता है कि जेल के बाहर निकलने वाला हर-एक अपराधी अपने घर पहुँचते-पहुँचते धरती का देवता बन जाय ! कोई दोष ही उसमें नज़र न आये ।"

जेलर साहब हँस पड़े । बोले—"आप लोग हमेशा ख़्वाब देखते रहते हैं, जबकि हक़ीक़त यह है कि हम जिन्दगी भर मरहम लगाया करते हैं, मगर घाव भरता हुआ नज़र नहीं आता । ख़ैर, ये बातें तो कभी ख़तम न होंगी, आप अपनी कहिये ।" इतने में एकाएक द्वार खुल

गये और अफ़साना ने आकर कह दिया—"अम्मी पूछ रही हैं कि आपके जो दोस्त लखनऊ से तशरीफ़ लाये हैं···"

अफ़साना अभी इतना ही कह पायी थी कि मैना बोल उठी—"आप खाना तो हमारे साथ ही खायेंगे न ?"

उसका इतना कहना था कि अफ़साना के साथ-साथ जेलर साहब एक साथ हँस पड़े और अफ़साना बोल उठी—"मैं आपसे यही बात पूछने जा रही थी ।"

राकेश हँसता-हँसता बोला—"क्षमा कीजियेगा, मैं फिर कभी जब आपके यहाँ आऊँगा, तब ज़रूर भोजन करूँगा, मगर आज नहीं । आज मैं यहाँ अपने एक अग्रवाल चाचा के यहाँ आमन्त्रित हूँ, जैसी संस्था मैंने लखनऊ में बनाने का आयोजन किया है, वैसी ही वे यहाँ कानपुर में बनाना चाहते हैं । ख़ैर, अब मैं अपनी बात कह दूँ । क्योंकि मुझे भय है कि कहीं आपको देर न हो जाय ! आपके यहाँ एक क़ैदी दिवाकर नाम का है । मैंने बाक़ायदा मिलने के लिये कोई आवेदन-पत्र भेजा नहीं था, फिर भी मैं थोड़ी देर के लिये उससे मिलना चाहता हूं ।"

"काम तो बेक़ायदा है, मगर आपका हुकुम तो मानना ही पड़ेगा । ख़ैर, आइये मेरे साथ ।"

दो मिनट बाद एक बिलकुल ख़ाली कमरे में, जिसमें केवल तीन अलमारियाँ थीं बन्द तालों सहित—उन्हीं के आगे मैटिंग के ऊपर एक कुर्सी-टेबिल पड़ी हुई थी । कुर्सी पर राकेश बैठ गया और क़ैदी के वेश में जब दिवाकर उसके सामने आया, तो उसकी आँखें भरी हुई थीं, दृष्टि नीचे फ़र्श की ओर थी और आँसू गिर रहे थे, टप···टप !

राकेश ने पूछा—"अब तबियत भर गयी न ? पहले तुमने माया का जीवन नष्ट किया और उसके बाद एक दूसरी लड़की का भी जीवन नष्ट करने में तुमने अपनी ओर से तो कोई बात उठा नहीं रखी ! मैं माया से मिलने गया था । मुझे सबसे बड़ा आश्चर्य इस बात का है कि ऐसे विश्वासघात के बाद भी वह तुम्हारी ही बनी हुई है ! उसे

इस बात का विश्वास ही नहीं होता कि तुम किसी को धोखा दे सकते हो ! मानव-चरित्र की वास्तविकता को समझना बड़ा कठिन है। इसी अभियोग में जब तुम फँसने लगे थे, तब भी अगर तुमने मुझे याद किया होता, तो मैं तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकता था ? लेकिन एक तो मुझे इसका पता तब चला, जब परिणाम सुना दिया गया। दूसरे मैं भी दुनिया के उन्हीं थोड़े से आदमियों में से एक हूँ, धीरे-धीरे जिनका यह विश्वास पक्का हो गया है कि क्षमा और सहानुभूति सबके लिए उचित नहीं। सब उसके पात्र भी नहीं होते।...और जब बेईमानी, नैतिक हीनता, भ्रष्टाचार तथा अन्याय केवल इसलिये दबाया जा रहा हो कि हमारा दल शक्तिशाली बना रहे...तब ऐसे विषयों में हाथ डालना तो और भी अनर्थकारी हो जाता है।"

दिवाकर ने आँसू पोंछते हुए कह दिया—"मैं आपसे अब कह ही क्या सकता हूँ ! कुछ भी कहने लायक मैं रह नहीं गया ! जितने दिन यहाँ रहना है, वे दिन भी कट ही जायेंगे। उसके बाद जैसा आप कहेंगे, करूँगा। जो रास्ता बतायेंगे, उसी पर चलूँगा। न चलूँ, तो भगवान् करें, साँप मुझे डस ले और मैं मर जाऊँ ! काल मुझे खा जाय और मैं उसके पेट में समा जाऊँ।" और इस कथन के बाद एक निःश्वास लेता हुआ वह चुप हो गया।

यकायक राकेश की दृष्टि एक कैलेण्डर पर जा पड़ी। उसने देखा—पन्द्रह अगस्त के आने में अभी चौदह दिन बाकी हैं। फिर उसने कह दिया —"अच्छा, अब मैं चलूँगा। मैं सिर्फ़ एक बात कहना चाहता हूँ और वह यह कि सच्चे बनो, अपने प्रति, परिवार, समाज और देश के प्रति। और न बन सको, तो इस संसार से उठ जाओ सदा के लिए, मर जाओ —किसी को कभी अपनी शकल मत दिखाओ।"

दिवाकर राकेश के पैरों पर गिर पड़ा और आँसुओं से उसके चरण

भिगोते हुए बोला—"मुझे क्षमा कर दो दादा। बस, एक बार और क्षमा कर दो दादा।"

राकेश ने अपना पैर शक्ति के साथ झिड़ककर कह दिया—"क्षमा अपने आपसे माँगो, अपनी आत्मा से। जो अपने को क्षमा नहीं कर सकता, उसे कोई क्षमा नहीं कर सकता।"

राकेश चल पड़ा और दिवाकर उसे टुकुर-टुकुर देखता रह गया।

जेलर साहब बोले—"कहिये, आपका काम हो गया।"

"जी, आपकी कृपा से।"

तब जेलर साहब हँसते हुए बोल उठे—"आप लोगों पर भी एक खब्त सवार रहता है। दुनिया-भर के सुधार का ठेका लिए फिरते हैं और अपना घर नहीं देखते।" और अँगड़ाई लेते हुए उन्होंने आगे कह दिया—"ख़ैर साहब, अपने से क्या?" और थोड़ा ठहरकर बोले—"और कोई हुकुम?"

"हुकुम भला मैं क्या दूँगा! हाँ, कभी जो इधर आया, तो आपसे मिलूँगा ज़रूर। और आपके घर ठहरूँगा भी। अच्छा नमस्कार!"

"आदाब अर्ज़! बहुत-बहुत शुक्रिया!"



: १३ :

राकेश के विवाह को तय होने में कोई कठिनाई नहीं पड़ी। एक प्रकार से वह पहले से ही तय था। बिरजू बाबू ने अब कुछ ऐसा ढंग बना लिया था कि कोई भी निश्चय करने से पूर्व वे वसन्त से सम्मति ले लेते थे। बारम्बार वे यही सोचते रहते—इन लोगों को प्रसन्न रखने में ही कुशल है। अतएव वे बरात में सदा वसन्त की हाँ-में-हाँ मिलाते रहे! कैलाश बाबू का हाथ सदा खुला हुआ रहता था। और विवाह के समय तो उन्होंने मुक्तहस्त होकर व्यय किया। बरात के लोग जब भोज के बाद लौटकर अपने-अपने कमरे में लेटे हुए बातें करते, तो बरबस उनके मुँह से निकल ही पड़ता—"सच पूछो तो ऐसी बरातों में ही आनन्द आता है।" गरम कमरे के अन्दर गरमागरम खाना, एक साथ और पूरी पंगत को, बिना किसी देर के पहुँचाना बड़ा दुष्कर होता है। फिर दहकते हुए हीटरों की व्यवस्था ने तो एक दृश्य ही उपस्थित कर दिया था।

इस बरात में कुछ बातें नयी थीं। उसमें प्रीति-भोज के अवसरों पर ऊष्मा, रजनीगन्धा और मन्दाक्रान्ता तथा मालिनी भी आ जाया करती थीं। ऊष्मा कला की ओर जाकर उसका मन बहलाने की चेष्टा करती। एक दिन वह कहीं गम्भीर दिखाई पड़ी, तो उसने कह दिया—"माना कि नया घर मिलने में भविष्य के प्रति केवल कल्पना का सहारा है और वर्तमान स्थिति में माँ की गोद और उसकी ममता का सहारा छूट रहा है। यह भी माना कि परिचित और आत्मीय वर्ग का जगत् बदल रहा है और कर्तव्य सामाजिक भूमि पर खड़ा होकर अपना

भार ग्रहण करने के लिए कुछ इस भाँति पुकार रहा है जैसे परीक्षा में बैठने की पावन बेला में दही-पेड़े का प्लेट सामने हो और परीक्षा-भवन में प्रवेश की घंटी घननन बज उठी हो ! किन्तु क्या तुमने कभी यह भी सोचा है कि प्रत्येक नवल सम्भावनाओं को सन्देह, शंका और अनभ्यस्त पदक्षेप जैसी शिशुता की दृष्टि से देखना भी तारुण्य का लक्षण नहीं, वास्तव में वृद्धावस्था की उस डगमगाहट का द्योतक है जो कमर झुक जाने पर हुआ करती है !

दीदी की इस बात पर कला के अधर कम्पित होकर तत्काल विकसित हो उठे।

रजनीगन्धा की स्थिति यह थी कि जब उसके परिचित बन्धु भोज के समय साथ देने का आग्रह करते, तो वह ऐसे ढँग से उत्तर देती, जैसे उसे कचहरी में प्रशासनिक वकील का कार्य-भार सम्हालना पड़ रहा हो। एक दिन जब ऐसा ही अवसर आया, तो उसने सिर से फिसलती हुई साड़ी के अंचल को सम्हालते हुए उत्तर दिया—"मेरी चिन्ता छोड़िये। मैं यहाँ व्यक्ति नहीं, वह समाज हूँ जो प्रतिनिधित्व के झरोखे से शान्ति ही नहीं, अपने पक्ष की मर्यादा का भी ध्यान रखता है। मुझे अधिकार ही कहाँ है कि दीदी और बहिन की थालियों की सुवास और उनके मांगलिक वार्ता-विनोद के आनन्द को छोड़ केवल यह दिखाने के लिये आपके शिष्टाचार को पुलक का गौरव दूँ कि मेरा शुभागमन आपकी ओर से हुआ है।"

ऐसे अवसरों पर मन्दाक्रान्ता के हाथों में मेहमानों की एक सूची रहती थी। प्राध्यापक मिश्राजी के सुपुत्र चि० सीतानाथ को साथ बैठाकर, उससे पूछ-पूछकर, वह प्रीति-भोज में आये हुए व्यक्तियों के नामों पर टिक लगाती रहती। वसुधा उसके इस कार्य पर प्रायः हँसा करती थी। पर दूसरे दिन जब पारस का कार्य प्रारम्भ हो गया, तब उसने पेंसिल को मत्थे पर लगाकर कहीं कह दिया—"अरे ! अभी दो व्यक्ति तो

उपस्थित हैं ही नहीं ! यह बात क्या है ? ज़रा पूछो तो सही, वे क्यों नहीं आये ?"

विज्ञान ने जब सुना कि मन्दाक्रान्ता का कहना है कि श्रीरामकिशोर उपाध्याय और सरोजवल्लभ सकसेना अनुपस्थित हैं, तो वह विस्मय से अभिभूत हो उठा ! इधर-उधर देखते-देखते उसके मुँह से निकल गया—"सचमुच कहीं भूल हो गयी है !"

कमरे के बाईं ओर बरामदे में कुछ प्रजा-जन बैठे हुए थे। विज्ञान ने वहाँ पहुँचकर एक से कह दिया—"अरे मिज़ाज़ी, रामकिशोर और सरोज बाबू को देखो, कहाँ रह गये ?"

दस मिनट में ही जब ये दोनों सज्जन आ गये, तो विज्ञान ने मन्दाक्रान्ता के निकट जाकर उसे बहुत-बहुत धन्यवाद देते हुए कहा—"जो काम हम लोगों को देखना चाहिये था, उसे तुमने स्वेच्छा से सम्हालकर आज हमारी लाज रख ली !"

मन्दाक्रान्ता ने अधरों से पैंसिल अलगकर सूसी पर टिक लगाकर मुसकराते हुए उत्तर दिया—"भाई साहब आपको पता होना चाहिये कि हेनरी ने कहा है—"जो व्यक्ति यह सोचता है कि विज्ञान और धर्म में कोई विरोध वास्तव में है, तो या तो उसे विज्ञान का—(यानी अपना !) बहुत कम ज्ञान है, या वह धर्म का अज्ञान प्रतिपादित कर रहा है !"

मन्दाक्रान्ता के इस कथन की भनक कहीं प्रीति-भोज में उपस्थित लोगों के कानों में जा पहुँची, तो सारा का सारा कक्ष हास्य-ध्वनि से गूँज उठा !

विज्ञान का सारा समय व्यवस्था में जाता था। न्यौतनी के दिन जब आचार्य और शास्त्री लोग परस्पर स्तुति करने लगे, तो आध घण्टे बाद विज्ञान ने खड़े होकर सूचित किया—"आप लोगों को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि हमारे बीच कुछ ऐसे प्रभावशाली वक्ता उपस्थित हैं जो 'आदर्श विवाह' और 'दाम्पत्य जीवन-साफल्य' इन दो विषयों पर

अभी यहीं कुछ भाषण करने का उत्साह प्रकट कर रहे हैं। अतः अतिशयोक्तिपूर्ण स्तुति-पाठ का यह कार्यक्रम अब यहीं समाप्त होता है। मेरी प्रार्थना है कि आप लोग धैर्यपूर्वक इन भाषणों को सुनने की कृपा करें।"

इतने में बारात में आये हुए किसी लड़के ने कहीं लाउड-स्पीकर से एक फिल्मी गीत प्रसारित करना प्रारम्भ कर दिया—'रेशमी सलवार कुरता जाली का।' तो कुछ लोग यकायक हँस पड़े। तभी विज्ञानशंकर ने कह दिया— बन्द करो इस अभिभाषण को !'

दोनों भाषण अपने-अपने ढंग के बड़े ही सारगर्भित और ओजस्वी थे। व्यंग्य-विनोद का भी उनमें यथेष्ट मात्रा में समन्वय था। सच्चिदानन्दजी ने अपने भाषण में कहा—"आदर्श विवाह मैं उसको मानता हूँ, जिसके द्वारा ऐसी सन्तान उत्पन्न हो, जो किसी एक वंश को नहीं, सम्पूर्ण समाज और देश का गौरव बढ़ाये।" उन्होंने कहा—"विवाह के अवसरों पर बरातियों को सब प्रकार से प्रसन्न रखने की प्रथा बड़ी पुरानी है। सेवा और आतिथ्य में कन्या के पिता का शील-सौजन्य और उत्साह देखा जाता है। आतिथ्य के नाना प्रकारों में उसकी सभ्यता का स्तर परीक्षा पर तुल जाता है। किन्तु हमारे यहाँ आतिथ्य-स्वीकार ही नहीं, उसकी माँग और उसके सम्बन्ध में कन्या के पिता का सामूहिक शोषण वरपक्ष के लोगों और बरातियों का एक स्वभाव और अधिकार मान लिया गया है। यह एक ऐसी रूढ़ि बन गयी है, जिसकी पूर्ति और परिपालन में, आनन्द और मंगल के इस अवसर पर, प्रायः थोड़ा-बहुत विग्रह उत्पन्न हो ही जाता है। जिस किसी पक्ष से भी यह विग्रह होता है, उसकी सभ्यता का धरातल या तो निम्न कोटि का समझा जाता है, या अवसरवादी बनकर आयोजित कर लिया जाता है। उचित तो यह है कि जैसे कन्या-पक्ष के लोग सेवा और सत्कार में कोई बात उठा नहीं रखते, वैसे ही वर-पक्ष के लोग भी अनुचित रूप से न तो किसी वस्तु की माँग करें, न आदेय के सम्बन्ध में किसी प्रकार का हठ।'''इसके विपरीत हुआ कबूतर फर्र से उड़

हमारे यहाँ प्रथाओं और कुप्रथाओं को भी जन्म-सिद्ध अधिकार मानकर जो लोग इन अवसरों पर विवाद और विग्रह खड़ा कर बैठते हैं, वे यह नहीं समझते कि इससे उनकी पारिवारिक और साथ ही सामाजिक सभ्यता को बट्टा लगता है। उन्होंने आगे कहा कि जहाँ तक सभ्यता और शिष्टता के सौथ-साथ आतिथ्य, भेंट और उपहारों के आदान-प्रदान का प्रश्न है, उनको लेकर उभय पक्षों में से किसी को भी हीन अथवा अयोग्य समझना शील और सौजन्य ही नहीं, उस मानवता की भी उपेक्षा करना है, जो आधुनिक सभ्यता की जननी है।

आगे चलकर उन्होंने यह भी कहा कि कन्या का विवाह करनेवाला उस क्षण अपना सर्वस्व उत्सर्ग कर देता है, जब वह कन्यादान करता है। सच पूछिये तो इससे अधिक दान वह कर भी क्या सकता है! इतने पर भी जो समाज उसकी सम्पन्नता और उदारता से अनुचित लाभ उठाने की चेष्टा करता है, मैं उसे बहुत हीन कोटि का समझता हूँ। मुझे यह जानकर बहुत ही प्रसन्नता हुई कि यह विवाह बिना किसी दहेज के सम्पन्न हो रहा है। ऐसे सम्बन्ध को मैं आदर्श मानता हूँ और दोनों पक्षों को—विशेष रूप से कैलाश बाबू और ब्रजनन्दन बाबू को—उनके इस सुरुचिपूर्ण प्रणाली-परिपालन के लिए बधाई देता हूँ।

इस भाषण के अन्त में जब ब्रजनन्दन बाबू का नाम आया, तो वे हर्ष-गद्‌गद हो उठे। यहाँ तक कि वसन्त को अपने निकट बुलाकर कहने लगे—"यह शास्त्रीजी मुझे बड़े अच्छे और विद्वान् आदमी जान पड़ते हैं। लाओ, निकालो दस-बीस रुपये। मैं इनको इस समय कुछ दक्षिणा देना चाहता हूँ!"

वसन्त को ताऊ के इस कथन पर हँसी आ गयी। उसने मुसकराते हुए कह दिया—"एक तो यह अवसर पुरस्कार भेंट करने का है नहीं, दूसरे आचार्य सच्चिदानन्दजी राकेश के मित्र हैं, वे कुछ लेंगे नहीं। आपको मालूम होना चाहिये कि वे एक कालेज में प्राध्यापक हैं और चार-पाँच सौ रुपए प्रति मास पाते हैं। हम इन्हें क्या दे सकते हैं!"

अब श्री दुर्गाशङ्कर वन्द्योपाध्याय का भाषण प्रारम्भ हो गया। वे कह रहे थे—"बापू ने कहा था, मोक्ष पाने के लिये शरीर का बन्धन टूटना आवश्यक है। और जो वस्तु शरीर का बन्धन तोड़ने में सहायक हो सकती है, मुक्ति-मार्ग के लिए वह पाथेय नहीं पाथ्य भी है। विवाह इस बन्धन को तोड़ने के बजाय उसे और भी जकड़ देता है। इस निबन्धन से बचने के लिए आवश्यकता इस बात की है कि विवाह के बाद भी हम अनासक्त बने रहें, अपने को सस्ता न बनालें; यह न भूल जायँ कि शक्ति के क्षरण के साथ मरण का विशेष सम्बन्ध है। हमारे पूर्वजों और शास्त्रकारों ने सौ वर्ष तक जीने और जीवन-पर्यन्त संसार और समाज की सेवा में ही परमानन्द भोग की जो कल्पना की थी, उसका मूल आधार संयम-नियम, सदाचार और अपरिग्रह ही था। पर आज के वैवाहिक जीवन पर हम जो ध्यान से दृष्टिपात करते हैं तो बापू के शब्दों में हमें ऐसा प्रतीत होता है कि जिसे हम विवाह कहते हैं, वह विवाह नहीं, उसका आडम्बर है। और जिसे हम भोग कहते हैं, वह भ्रष्टाचार है।"

वन्द्योपाध्याय महाशय अभी इतना ही कह पाये थे कि उपस्थित समुदाय में से एक श्री सनत्कुमार बोल उठे—"मेरे विचार में सुखद और सफल जीवन के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता है उभय सम्बन्धों के प्रति एक स्वस्थ और वैज्ञानिक दृष्टिकोण की। समाज में प्रचलित इन वर्जनाओं, निषेधों और प्रतिबन्धों की भी एक सीमा है। जब हम उनका उल्लंघन करने लगते हैं, तो जीवन की अनिवार्य्य आवश्यकताओं की अवहेलना ही नहीं करते, प्रकृति और सृष्टि के लक्षण, गुण और स्वभाव के साथ-साथ अन्त में मानवता का भी उपहास करने पर सन्नद्ध हो बैठते हैं। तो क्षमा कीजियेगा, आपका दृष्टिकोण सर्वथा एकाङ्गी है। बापू की आड़ लेकर आप लोग, मनोविनोद के इस अवसर पर, हम लोगों को क्या एक दम से साधू-संत बना डालना चाहते हैं!"

मसनद के सहारे बैठे हुए राकेश ने विज्ञान की ओर झुककर कह

दिया—"इस अवसर पर ऐसे गम्भीर भाषणों का कार्यक्रम रखने का यह परिणाम देखो !"

विज्ञान मुस्कराते हुए बोला—"घबराओ नहीं। इसकी भी अपनी एक उपयोगिता है।"

इतने में वन्द्योपाध्यायजी ने कह दिया—"मानता हूँ; किन्तु निवेदन यह है कि कोई भी स्वस्थ जीवन संयम और साधना के बिना कदापि सम्भव नहीं। विज्ञान की सबसे बड़ी देन यह है कि हम अधिक से अधिक जिएँ, फिर भी स्वस्थ रहें और जीवन यदि सत्पथ पर, मन सन्मार्ग पर और हृदय संयम पर स्थिर दृढ़ किंवा अटल बना रहे, तो फिर हमें और कुछ न चाहिये। किन्तु यदि हमारा मन, वचन और कर्म कुमार्ग, लिप्सा और भोग पर है, तो वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखकर भी हम वास्तविक जीवन-साफल्य की ओर कदापि अग्रसर नहीं हो सकते। बापू ने कहा था—"सत्य स्वयं एक शक्ति है। वह अपने आप में ही सर्वशक्तिमान है और जब केवल विवाद और तर्क के लिये असत्य का पक्ष लेकर हम उसकी पुष्टि का प्रयत्न करते हैं, तब यह भूल जाते हैं कि सत्य का अपमान सर्वशक्तिमान भगवान् की प्रभुसत्ता का अपमान है।"

इतने में उपस्थित जन-समुदाय के कतिपय विवेकशील व्यक्तियों ने करतल ध्वनि की और तभी विज्ञानशंकर ने कह दिया—"हम यहाँ विवाद करने के लिए उपस्थित नहीं हुए हैं। अपितु कुछ विचार प्रकट करने के लिए एकत्र हुए हैं। अभी जो दो प्रकार के विचार हमारे सामने आये हैं, उनका अपना अलग-अलग महत्व है। एक पक्ष का कथन है कि दीर्घ जीवन के लिये संयम-नियम, अपरिग्रह तथा अनासक्ति की बड़ी आवश्यकता है। दूसरे पक्ष का विचार है कि जीवन की परिपूर्णता के लिए निषेध, प्रतिबन्ध और वर्जनाएँ एक सीमा तक ही मान्य होनी चाहिये। एक की मान्यता है कि अनासक्ति कर्मयोग की आधार-भूमि है, दूसरी ओर हमसे कहा गया है कि तृप्ति के बिना विरक्ति संभव

नहीं है ; और अनासक्ति के साथ विरक्ति का बड़ा ही निकट सम्बन्ध है । अनासक्ति की कसौटी यह है कि हम अभाव में कष्ट का अनुभव न करें क्योंकि हम निस्वार्थ काम करते हुए ही परमात्मा में अपनी आत्मा का समर्पण और विलय कर सकते हैं । और विरक्ति का अर्थ है राग के प्रति उदासीनता । यहाँ राग का अर्थ है लोभ, मोह और लिप्सा ।

पर मेरा एक निवेदन है । माना जीवन में सुख, सन्तोष और तृप्ति का अपना एक महत्व है ; किन्तु सुख-सन्तोष हो, चाहे तृप्ति, उसकी सीमा क्या है ? सारा विवाद इसीलिये है कि भौतिकवादी कोई सीमा नहीं मानता और चाहे जीवन-सौख्य का कोई प्रकार हो, चाहे गार्हस्थ जीवन में साधना और संयम का, सीमा तो एक माननी ही पड़ेगी । और मैं कहता हूँ कि वह सीमा पारस्परिक विश्वास, आस्था, निष्ठा, उत्तरदायित्व, कामनाओं का मांगलीकरण तथा संयम-नियम का स्वनिर्धारित संकल्प मात्र है और कुछ नहीं । मेरे मत से बापू का यही मुख्य अभिप्राय था ।

अभी यह बहस चल रही थी कि कन्यापक्ष के आचार्य मिश्रजी ने कह दिया—"अब श्रीवर कलेवा के लिये जायँगे ।" उनके इस कथन पर पर राकेश मुस्कराने लगा । ज्योंही वह पालकी पर जाकर बैठा, त्योंही बिरजू बाबू बोल उठे—"क्यों रे वसन्त, ये वन्द्योपाध्यायजी अभी जो कुछ कह गये और उसके बाद उस नवयुवक ने जो कुछ कहा, वह सब मेरे खयाल में किसी पुस्तक का ही अंश तो होगा । जो भी हो, इतना तो···।"

तब वसन्त के साथ-साथ सारा समाज हँसने लगा । और वसंत बोला—"दादा ! ये लोग इसी की कमाई खाते हैं ।" फिर आगे कह दिया—"आपको पता नहीं हँसते-हँसते वसन्त ने उत्तर दिया—"मानना ही होगा कि उन्होंने याद खूब रखा है । जैसे पहलवान लोग अखाड़ों में महीनों दाँवपेंच का अभ्यास करते हैं, कुश्ती लड़ते हैं, वैसे ही ये व्याख्यान-दाता और तार्किक लोग महीनों शीशों ओर दिवारों को सुना-सुना-कर अपनी वक्तृत्वकला में निखार पैदा करते हैं !"

इतने में आंगन की दीवार पर लगे बिजली के स्टैण्ड पर बैठा

गया और बिरजू बाबू ने प्रसन्न मुद्रा में कह दिया—"अच्छा ऽ ऽ। तभी ये लोग ऐसी ऊँची उड़ान भरते हैं !"

बिरजू बाबू ने एक शाल के अतिरिक्त एक गिन्नी जो समधौरे में पायी तो वे हर्ष-गद्गद हो उठे। उनके जीवन में ऐसा कोई अवसर ही न आया था कि दक्षिणा में इतनी बड़ी रक़म मिलती। यह तो वे जानते थे कि राकेश के विवाह में अच्छा सम्मान होगा। पर इतनी अधिक आशा उन्हें न थी। उत्साह में आकर उन्होंने अपनी पूरी वेश-भूषा—धोती, कोट और टोपी—उतारकर नाई को भेंट कर दी। मण्डप का कार्यक्रम जब समाप्त हो गया और वे जनवासे में जा पहुँचे, तभी पीछे-पीछे मेवा-मिष्टान्न के साथ-साथ अन्य सामग्री भी क्रमशः आने लगी। उसी समय मिश्रजी ने वहां पहुँच कर एक गरम कोट, धोती, वनियान, क़मीज़ और टोपी उनको भेंट करते हुए कह दिया—"लीजिये, यह कैलाश बाबू ने आपके लिये और भेजा है।"

यह सब भी बिरजू बाबू के लिये अप्रत्याशित था। उसको स्वीकार करते हुए उन्होंने कह दिया—"जैसा सुनता था उससे कहीं अधिक पाया। उनको मेरी ओर से इसके लिये बहुत-बहुत धन्यवाद दे दीजिये और कहियेगा, वे किसी बात की चिन्ता न करें, उनकी बेटी बहुत सुखी रहेगी, उसे किसी प्रकार का कष्ट न होने पायेगा।"

मिश्राजी ने उत्तर दिया—"कैलाश बाबू जैसे उन्नतमना उदार पुरुष हैं, वैसे ही बड़े ही सुप्रबन्धक और दूरदर्शी भी हैं। आपको अभी क्या मालूम होगा कि राकेश की नौकरी के लिए भी वे एक राजकीय महाविद्यालय में शिक्षक पद पर नियुक्ति की व्यवस्था कर रहे हैं। इस समय तो उसे ढाई सौ रुपये मासिक ही मिलेंगे, किन्तु उसकी पदोंन्नति के लिये वे सदा प्रयत्नशील बने रहेंगे।

बिरजू बाबू ने कह दिया—"वाह ! उनकी क्या बात है ! वे पारस हैं, साधारण पुरुष नहीं।"

अन्त में जब मिश्राजी चलने लगे तो बिरजू बाबू उनके कान के पास मुँह ले जाकर बोले—"मुझे तो सब कुछ मिल गया। कहीं से भी कोई कोई-कसर नहीं रही। समधिन का घर इस सारी सामग्री से भर जायगा। मगर उनकी बड़ी समधिन को ?···हँ···हँ, आप मेरा अभिप्राय समझ ही गये होंगे—उसको भी अगर कुछ मिल जाता······! मगर कैलाश बाबू के आगे मेरा नाम ज़ाहिर न होने पाये !"

अत्यन्त संकोच में डूबे छि: छि: करते हुए मिश्राजी चले गये।

धान्य-सामग्री में ढाई मन आटा, एक मन दाल, एक मन चावल छ; पंसेरी के लगभग मुगौड़ियाँ, चार पंसेरी कुम्हड़ौरियाँ, एक मन चीनी, लगभग दस सेर मेवा, लकड़ी के बक्स के आठ खानों में भरे हुए मसाले, दो ट्रंकों में कला के पहनने के नवीन वस्त्र, एक सोफासेट, चार बैठकवाली कुर्सियाँ, एक शृंगार-टेबिल और एक पुष्प-गुच्छ-सहित बैठक का गोल टेबिल, एक रेडियोसेट, दो फाउंटेन पेन, एक वालक्लाक, दो मसहरियाँ, दो पलँग, उनके लिए पृथक-पृथक गद्दे उनकी चादरें तकिये भरे हुए, सिले-सिलाये रेशमी लेहाफ़, एक टेबिलफ़ैन, स्टोव, दो टेबिल लैम्प, एक बक्स में कला की रुचि के अनुरूप पुस्तकें, एक छोटे बक्स में चित्रकला-सम्बन्धी सामग्री। सब मिलाकर इतना सामान था कि उन्होंने ट्रक में रखवाकर जनवासे भेज दिया।

बहुतेरे नये अवसर जीवन के लिए जितने कौतूहल-वर्द्धक होते हैं, उतने ही अकल्पित, आशंकालु और चिन्ताकुल। कला इतना तो जानती थी कि राकेश मेरे स्वामी हैं; उनका व्यक्तित्व पूर्णरूप से देव-तुल्य है। पर उसे अब इस बात का भी ज्ञान हो गया था कि उनका ज्येष्ठ बन्धु वसन्त बड़ा ही ईर्ष्यालु है। उसने राकेश की माँ की प्रशंसा सुनी थी और वह जानती थी कि वह स्वभाव की बहुत ही सरल और

सहृदय है। पर उसे बसन्त की पत्नी मौलश्री के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञान न था। कभी कभी-कभी वह सोचती—'न ज़ाने उनका कैसा स्वभाव हो, न जाने उनके साथ कैसी निभे।'......उसे उस घर के सम्बन्ध में भी कुछ ज्ञान न था। कभी कभी उसके मन में आता—'न जाने कैसा हो। यह भी हो सकता है उनके कमरे के अतिरिक्त मेरे लिए अलग कोई कमरा ही न हो।'

इन सारी बातों के साथ-साथ वह यह भी सोचने लगती कि जैसा कुछ होगा, देखा जायगा। आम के बौर में जो छोटी-छोटी मटर के दाने सी नन्ही हरी अम्बियाँ होती हैं, वे सब-की-सब तो बड़ी हो-होकर पकने नहीं पातीं, झञ्झावात से बहुतेरी बचपन ही में गिर जाती हैं। वैसे ही जीवन की सारी आवश्यकताएँ पूरी नहीं होतीं। हमें जीवन के साथ समझौता करना ही पड़ता है; मैं भी कर लूँगी। फिर ऐसी तो कोई बात नहीं है कि वे मुझे समझ न पाये हों। वे मेरा ध्यान रखेंगे, मैं उनकी होकर रहूँगी। कमी किस बात की रहेगी! वह अपने को समझाने की चेष्टा करती—'ओः रे मन तू चिन्ता क्यों करता है!'

लेकिन चिन्ता की एक बात थी। वह सोचती थी—'अम्मा को कैसे अच्छा लगेगा! सूना-सूना घर, इतना बड़ा बँगला, जब मेरे बिना भाँय-भाँय करेगा, तब वे इधर-से-उधर डोलती-डोलती स्थिर होकर बैठेंगी कहाँ! उसे वह दिन याद हो आया, जब बारह वर्ष की अवस्था में उसको एक बार टाइफ़ाइड हो गया था। अतिशय ज्वराक्रान्त अवस्था में जब वह कुछ प्रलाप-सा करने लगती, तब वे घबराकर एक दम से चीत्कार कर उठतीं।—'देखो-देखो कला के पापा, इसे क्या हुआ जा रहा है!' आँसू थमते न थे, सिसकियाँ उभर-उभर आतीं!—मैं तो अचेत अवस्था में कुछ देख न पाती, लेकिन पापा तब भी विचलित न होकर एक फीकी हँसी हँसकर कह देते थे--सब कर्म का भोग है वसुधा। जिसको तुम कष्ट और पीड़ा समझती हो, वह भी एक प्रकार का भुगतान है,

अनुचित विश्राम का उचित प्रतिदान । फिर तुम यह क्यों नहीं सोचती कि जिसने उसे दिया है वह यदि उसे ले ही लेगा — उठा ही लेगा—तो इसमें मेरा क्या जायगा ! सारा खेल उनका है ! उनको अधिकार है कि उसे चाहे जिस प्रकार से खेलें। हम इस विषय में हस्तक्षेप करनेवाले होते कौन हैं ?

इस प्रकार कला को अपने पिता के विषय में तो वैसी कोई चिन्ता न थी, हाँ, केवल माँ के विषय में वह अवश्य चिन्ताकुल हो उठती थी ।



: १४ :

वर्षों की पोषित कामना-पूर्ति का जब समय आया और जब सचमुच कला का विवाह होने ही लगा, तब भी वसुधा क्षण-क्षण की कुशल मनाती रही। यों तो घर में काम करनेवालों की कमी न थी। रिश्तेदारों का इतना बड़ा समुदाय आ जुटा था कि वसुधा चाहती, तो पलँग के नीचे पैर तक न रखती; फिर भी सारे विवाह-कार्य की रस्मों और तत्सम्बन्धी व्यवहारों को निपटाते-निपटाते उसे थोड़ी-बहुत देर तो हो ही जाती थी। यहाँ तक कि बारह बजे रात से पहले कभी छुट्टी न मिलती थी। लेटते और सोते-सोते, कभी-कभी एक भी बज जाता था। पूरी एक झपकी भी लग पाती और प्रभात हो जाता। पलँग से उठती हुई धरती की रज को मस्तक से लगाती-लगाती वह सोचने लगती—'कल का दिन तो पार हुआ। किसी प्रकार विवाह-कार्य सकुशल सम्पन्न हो, तो छुट्टी मिले।'

कभी-कभी वसुधा को एक प्रकार की आशंका भी होने लगती—'कहीं बरात में किसी की तबीयत न ख़राब हो जाय, कहीं किसी से विवाद न उठ खड़ा हो।' राकेश वैवाहिक कृत्यों के परिपालन में जो कभी संलग्न दिखाई पड़ता, तो वह उसकी भाव-भंगिमा का मन ही मन अध्ययन करने लगती—भला क्या सोच रहा होगा! कला माता-पिता के समक्ष तो सदा गम्भीर बनी रहती, किंतु ऊष्मा, रजनीगन्धा और मन्दाक्रान्ता के बीच उनकी व्यंगविनोद और हास-परिहास-गर्भित बातों पर प्रसन्न भी होती और अपनी हार्दिक उल्लास-लहरी प्रच्छन्न रखने के प्रकार में, कृत्रिम रूप से, सम्यक गम्भीर भी हो उठती। लगातार गरिष्ट भोजन और मिष्टान्न खाते-खाते उसकी तबीयत भर गयी थी।

उनके बाहुल्य में अरुचि और अनिच्छा के जो कार्य-व्यवहार होते, उनमें भी वसुधा सदा यही देखती कि कहीं कोई ऐसी बात तो नहीं घटित अथवा पोषित हो रही है जिसमें उसका मुख तो नहीं खुलता, किन्तु मन दुःख के निकट जा पहुँचता है। जन-जन के, आबाल-वृद्ध नारी-समुदाय के वाक्यों, कथनों और मुखों पर समय-समय पर जो परिवर्तन हास और अनिच्छा अथवा उलझन के प्रश्न बनते ; प्रतीक्षा, विलम्ब, आधिक्य अथवा कमी के, अभाव के जो गोपन, अगोपन मंतव्य प्रकट होते, उनसे भी वह जैसे मन-ही-मन एक निष्कर्ष निकालती रहती। आगत लड़कियों और बहुओं का हास-परिहास देखकर वह सोचने लगती—'कितने भाग्य से ये दिन देखने को मिला है ! तुम्हारी ही सभी लीला है प्रभु !'

कैलाश बाबू की स्थिति उससे कुछ भिन्न थी। वे सोचते थे, चलो, एक बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी से मुक्ति तो मिली। जीवन का एक बड़ा अध्याय पूरा हुआ। वस्त्रों, अलंकारों तथा बर्तनों के साथ-साथ फ़र्नीचर और उससे संलग्न कपड़ों, बैठकवाले कक्ष के शृंगार; शयन-कक्ष के विश्राम-शोभन प्रसाधन और अत्यंत वैभवपूर्ण, कलात्मक वस्तुओं के प्रदान-आयोजन में भी उनका एक ही दृष्टिकोण रहता—"कोई ऐसी वस्तु न छूट जाय, जिससे कला को यह सोचने का अवसर मिले कि यह वस्तु तो अब हमको खरीदनी पड़ जायगी। कभी मिश्राजी सामने पड़ जाते, या वसंत ही दिखलायी पड़ जाता, तो अपने आप वे उनसे कुछ न पूछते। एक ऐसा अटूट आत्मविश्वास उनके भीतर रत्नाकर की भाँति लहराया करता कि सब जगह कार्य यथाविधि चल रहा है, कहीं कोई त्रुटि होगी नहीं। और अगर होगी भी तो उनकी होगी—प्रभु की होगी, इस सम्पूर्ण जगत् की रचना जिनकी है। बिगड़ेगा तो उनका, मेरा क्या जायेगा ! चित्रों, डिज़ाइनों, खिलोनों में व्यवहृत भगवान शंकर, राधाकृष्ण, राम-जानकी की जो कहीं झलक भी दिखलायी पड़ जाती, तो पलँग पर लेटे रहें अथवा

आरामकुर्सी पर बैठे हों, तत्काल उनकी आँखें मुंद जातीं। जैसे सहस्र कण्ठों से मन-ही-मन उच्चारित।"

मंगलमय कुशल करो
ज्योतिर्मय तिमिर हरो
अहो आनन्दकन्द
ललित मधुर वंशीरव
आज तो सुना दो फिर
कल-कल निनाद की
ध्वनियाँ प्रसारित कर।
गृह-गृह के द्वार खुलें
मूक सुप्त देहयष्टि
मनोप्राण अर्चना के, पूजा के
प्रेम मन-लोभन के
कर्षण-समर्पण में
पावन निर्माल्य की
प्राप्ति उपलब्धि की
मिलन अभिसार की।
क्षण-क्षण आनन्द के
युग-युग की तृष्णा के
शान्तिमय वितृष्णा के
स्नेहोपालम्भ के
अश्रु-सिक्त नयनों में
पीड़ा की सुधियों में
शमन और गोपन के

अपनी ही माया के
नाटक के खेल के
लुब्ध स्पन्दन में
सत्-चित् - आनन्द के
निखिल विश्व-मानव के
विकल अन्तःस्वर का
मर्म विस्तार करो
मंगलमय कुशल करो
ज्योतिर्मय तिमिर हरो।
प्रकट गुप्त प्रांगण में
युग युग के गए हुए
स्वर्ग लीन पूर्वज वे
सादर निमंत्रित हैं
कृपया आ-आकर वे
अपने अधिकारों का
भाग स्वीकार करें
प्रीति-दान ग्रहण कर
मुझको कृतार्थ करें।
दिशि-दिशि के धरती के,
गिरि-गिरि के अम्बर के
क्षितिज अन्तरिक्ष के
सरिता सरोवर के
शान्त रत्नाकर के
आम्रवन कानन में
कुंजन के गुंजन के।
यदि कहीं कोई त्रुटि

रह जाये परम पिता
तुम्हीं सब देख लेना
कर देना समाधान
प्रतिक्रिया, कुण्ठा का
राग-द्वेष हिंसा का
दम्भ अहंकार का
कपट माया जाल का
ध्वंस करो, लोप करो
मंगलमय कुशल करो
ज्योतिर्मय तिमिर हरो।

राकेश आनन्दोल्लास और वैभव प्रदर्शन के प्रत्येक प्रकार में बार-बार पृथ्वी भर में फैले अनन्त राजपथों, गली-गली और द्वार-द्वार में विचरण करने, भटकनेवाले उन बच्चों का स्मरण आता था, शिशुओं और अनाथ, असहाय दीन-हीन, ललनाओं और विधवाओं का स्मरण आता था; सम्भव है, जिन्हें अब तक पीने को दूध, खाने भर को रोटी-दाल भी मिल पायी हो, तन ढँकने को वस्त्र न रह गये हों, शीत-निवारण को कम्बल और रजाई न मिल पायी हो। विद्यालयों और विश्वविद्यालयों का शुल्क न दे पाये हों, कपट-जाल में पड़कर जिनकी निधियाँ लुट गयी हों, कुटियों, छोटे-छोटे घरों और एकमात्र कमरों में चूल्हा न जल पाया हो! क्षण-क्षण पर वह यही अनुभव करता था, अगर जीवन में मैं कभी अपने इस आत्मीय समुदाय को भूल जाऊँ, तो मेरा इस विवाह का आयोजन व्यर्थ हो जाय और कभी मुझे शान्ति न मिले।

कलेवा के लिए जब वह पालकी पर चढ़कर अपने स्वसुरालय को प्रस्थान करने लगा, तो पीछे पालकीवाहकों में से एक के नंगे पैर में कहीं काँच का टुकड़ा घुस गया! रक्त की धार बह चली! तभी वह

वाहक पालकी के बाँस को कंधे से पृथक् होकर अलग हो गया। क्षण भर के लिये अन्य वाहक खड़े हो गये। प्रश्न उठे—"क्या हुआ? क्या हुआ?..." उत्तर में जब इस घटना का समाचार उसे मिला, तब उसने कह दिया—"ठहरो, पालकी यहीं सड़क पर रख दो। अब मैं यहाँ से पैदल ही चला जाऊँगा। थोड़ी दूर की तो बात है।"

इतने में रास्ते पर खड़ा हुआ एक व्यक्ति उन वाहकों में मिलकर पालकी के बाँस को कंधे पर रखकर बोल उठा—"चले चलो। रुकने की कोई आवश्यकता नहीं।" पालकी पुनः चल पड़ी और राकेश एक विस्मय से अभिभूत होकर सोचने लगा—'यह कौन आदमी इस पालकी का वाहक बन गया!'

यकायक उसके मुँह से निकल गया—"ठहरो, पालकी को जमीन पर रख दो। जिसके पैर में काँच चुभ गया है, हमें सबसे पहले उसकी प्रारम्भिक चिकित्सा का प्रबन्ध करना पड़ेगा।"

अभी पालकी थोड़ी ही दूर आगे बढ़ पाई थी कि कैलाश बाबू की ओर से एक अतिथि रिश्तेदार ने बतलाया—'उसको हमने अपने भाई के साथ रिक्शे पर बैठाकर एक डॉक्टर के यहाँ भेज दिया है। आप चिन्ता न करें।"

इतने में राकेश की दृष्टि उस नवागत वाहक की ओर जा पड़ी, जिसकी दाढ़ी बढ़ी हुई थी और केश बिखरे हुए थे। जिसकी मैली क़मीज़ का एक बटन टूटा हुआ था और मैले पैजामे का निम्न भाग भी कुछ फटा हुआ था। ध्यान से देखने पर यकायक वह बोल उठा—

"ओः दिवाकर तुम! यहाँ कैसे?"

दिवाकर ने उत्तर दिया—"मैं अः मैं छब्बीस जनवरी को जेल के नियम-पालन में विशिष्ट होने के कारण छोड़ दिया गया था, भाई साहब!"

एक आह्लाद और विस्मय, विस्मय भी एक नये ढंग का—

"मुझे बड़ी खुशी हुई। लेकिन यह तुमने क्या किया!'

"मैंने वही किया जो मुझे अब जीवन-भर करना है।" फिर उसने वाहकों से कह दिया—"उठाओ पालकी, चलो, देर मत करो।" और पुनः वह पालकी के बाँस से कन्धा लगाकर चल दिया।

"ठहरो, ऐसा नहीं होगा।"

लेकिन पालकी चली जा रही थी।

दिवाकर का उत्तर था—"अब ऐसा ही होगा।"

राकेश ने बहुत मना किया, पर दिवाकर माना नहीं—"जो मैं करता हूँ, मुझे करने दीजिये। यह मेरा कर्तव्य ही नहीं, अधिकार भी है।"

जब पालकी कैलाश बाबू के बँगले के द्वार-मंच पर जा पहुँची, तो राकेश सोचने लगा—'तो मेरा जेलर से मिलना इतना काम कर गया!'

एकादशी कभी घर से बाहर आती और मुख्य द्वार पर कपाट की ओट में खड़ी-खड़ी पूर्व से निकलनेवाले लोगों को देखती रहती। इधर-से-उधर जानेवाले व्यक्तियों में लौटती हुई बरात का कोई चिह्न न पाती और बरात के साथ बहू की डोली के संग आगे-आगे बाजेवालों का स्वर भी कानों में न पड़ता, तो वह भीतर लौट जाती और मन-ही-मन यह कहने लगती—जान पड़ता है कि विदा अभी हुई नहीं। घर में उस समय जेठानी आयी हुई थी और चौके में बैठी हुई रसोई बना रही थी। मौलश्री उसकी सहायता कर रही थी। अतिथियों में कुछ और लोग थे, एकादशी के मायके से उसका भतीजा और उसकी बहू आयी हुई थी। मौलश्री के नैहर से उसकी भाभी आयी थी, जिसके साथ दो बच्चे थे। वसन्त की बुआ के यहाँ से एक बच्चा आया था, जो बरात में गया हुआ था। उसकी बहू भी घर में ही थी। एकादशी की छोटी बहन भी थी; वह अपने साथ लड़के और बहू

को ले आयी थी, छोटे बच्चे माँ को छोड़कर बरात में न जा सके थे।

इस कारण घर उन अतिथियों से भरा हुआ था। दालान में खेलते-खेलते वे आँगन में पहुँच जाते। एक बार तो गेंद रसोई में जा पहुँची। एकादशी ने कह दिया—"बाहर खेलो बेटे, बाहर, दरवाज़े में। और देखो, जब बाजों की आवाज़ सुनाई पड़े, तो बतलाना।"

राघव ने अपने सिर को बाईं ओर लचाकर कह दिया—"अच्छा।" और कालीशङ्कर ने गेंद को फर्श पर पटककर और उसे पुनः हाथ से पटकते हुए कह दिया—"मैं तो पालकी के कहारों को भी पहचानता हूँ दादी।" पोपले मुँह से दादी बोली—"बहू आने की बात जो पहले बताता है, उसे बताशे मिलते हैं।" काली बोला—"मैं दो लूँगा।" एकादशी मुस्करा उठी। बोली—"अच्छा, दो ही दूँगी।

वसन्त के साढ़ू के यहाँ से एक लड़की आयी थी। उसका नाम था शोभा! वह बोल उठी—"हमने सुना है कि मौसा को गाड़ी मिली है तो मौसी अब गाड़ी में आवेंगी। पालकी में आवेंगी ही नहीं। और गाड़ी जब दरवाज़े पर खड़ी होगी, तो मैं ही सबसे पहले बतलाऊँगी। और मैं मौसी को देख भी चुकी हूँ। तुमको क्या मालूम?"

राघव बोल उठा—"अरी हट, चली वहाँ से, नानी बनकर कहानी सुनाने। इसको देख चुकी हूँ, उसको देख चुकी हूँ। हमने ऐसी बहुतेरी लड़कियाँ देखी हैं। हमारे सामने ज्यादा शेखी मत मारा कर।"

शोभा क्षुब्ध हो उठी और बोली—"देखो राघव, तुम हमसे मत बोला करो। मैं भी आज से तुमसे कभी न बोलूँगी।"

राघव ने उत्तर दिया—"तुम मुझसे नहीं बोलोगी, तो मेरा क्या बिगड़ जायगा।"

अन्त में वह समय आ ही गया, जब राकेश कला के साथ एकादशी के समक्ष आकर उन्हें प्रणाम करने लगा। प्रचलित प्रथाओं के अनुसार

नाना प्रकार के मांगलिक कृत्यों के साथ बड़ी रात तक खान-पान, भोज, हास-परिहास और गायन-वादन चलता रहा।

राकेश के विवाह में मिली हुई विविध वस्तुओं को देख-देखकर वसन्त अपनी प्रसन्नता व्यक्त करने के स्थान पर प्राय: ऐसी प्रतिक्रिया प्रकट करता, जो उल्लास की अपेक्षा कोई प्रच्छन्न राग-द्वेष का सन्देह उत्पन्न करती थीं। उत्तर न देकर वह मन-ही-मन सोचने लगता—ऐसा विवाह मेरा क्यों नहीं हुआ? इस प्रकार की वस्तुएँ मुझे क्यों नहीं मिलीं? यह बात उसके ध्यान से परे हो गयी थी कि आज की परिस्थिति में मेरे सहयोग की अपेक्षा राकेश की अपनी प्रतिभा, देशभक्ति और तत्सम्बन्धी मान्यताओं का प्रमुख हाथ है। अपने प्रलोभन, मोह और भोगलिप्सा के उचित-अनुचित पक्ष की ओर उसका ध्यान नहीं जाता था। यह बात नहीं थी कि वह अपने को समझाने की चेष्टा न करता हो।—'कुछ भी हो, राकेश अपना भाई ही तो है।' प्राप्य वस्तुओं का मूल्यांकन करते-करते जब लोग कैलाश बाबू की प्रशंसा करने लगते, तब वसन्त बोल उठता—"ठीक है। कैलाश बाबू ने उत्साह के साथ विवाह किया है; लेकिन यह उत्साह कोई परोपकार के रूप में तो है नहीं। कला के सिवा उनके है ही कौन? किसी दूसरे को तो दिया नहीं उन्होंने, जो उन्हें दानी कर्ण मान लिया जाय! उन्होंने जो कुछ किया, सच पूछिए तो अपने लिए किया। इसमें विशेष बात क्या हुई?"

परन्तु इस प्रकार की बातें वह उन्हीं लोगों के सामने करता, जिनके सम्बन्ध में सोचता कि वे मेरी इस भावना के मूल मर्म को क्या समझ पायँगे?

एक बात और थी। ऐसी बातें प्रकट करने में वह अपनी

गम्भीरता, गौरव और बड़प्पन का भी अनुभव करता था। वह सोचता था कि मेरी इन बातों का लोगों पर यही प्रभाव पड़ेगा कि यह मेरे लिये ऐसा कुछ नहीं है जो अप्रत्याशित हो, और इतना अधिक भी नहीं है कि मैं इसका अधिकारी भी न होऊँ! अभिप्राय यह कि यह सब आश्चर्य की वस्तु नहीं। वस्तु-स्थिति के साधारण धर्म की ही बात है।

परन्तु जब यह सब सामग्री उस छोटे मकान के भीतर रखी गयी और उसकी एक सूची बनाई गयी, तो पता चला कि कई मूल्यवान वस्तुएँ तो आयी ही नहीं। फिर उनके सम्बन्ध में पूछ-ताछ और जो खोज की गयी तो पता चला कि वहाँ से भेजी गयी हैं और विज्ञान और ऊष्मा ने देखी भी हैं। पर यहाँ कैसे नहीं आयीं, कैसे नहीं पहुँचीं, इसका भेद नहीं मिल रहा था।

एकादशी को सारी सामग्री देखकर पहले तो बड़ी प्रसन्नता हुई, परन्तु फिर जब विदित हुआ कि सैकड़ों रुपयों की बहुतेरी चीजें तो उठा-धरी ही में इधर-की-उधर हो गयीं, तब वह गम्भीर हो उठी।

मौलश्री की स्थिति यह थी कि वह स्वामी के विपक्ष में कोई बात सुनकर विश्वास तो कर लेती थी, पर उस पर अपनी कोई प्रतिक्रिया व्यक्त न करती थी। यह एक ऐसी पीड़ा थी, जो उसके हृदय को भीतर-ही-भीतर बेधती और काटती थी, किन्तु उसके निवारण की कोई विधि न तो जानती थी, न पूछ सकती थी, न अपने मन से कह सकती थी। यह एक ऐसी विवशता थी जो उसके पातिव्रत धर्म के लिये एक निषेध और व्यक्तिगत मान्यताओं, रुचियों और वृत्तियों के लिये एक बन्धन और संरक्षण। यहाँ व्यक्तित्व का प्रश्न सामाजिकता के लिये एक लांच्छन बन गया था। यहाँ सत्य उसके पावन सतीत्व, पातिव्रत धर्म और स्वामी के प्रति एक निष्ठा के लिये अपराधी का रूप ग्रहण कर रहा था। बार-बार उसके मन में आता था—मनुष्य का धर्म ही सबसे श्रेष्ठ

है । परिवार और समाज के बन्धन उसके सामने कुछ नहीं हैं, कुछ नहीं हैं । वह अपने आपसे पूछती थी—क्या मुझे चुपचाप रहना चाहिये ? क्या मुझे अम्मा से स्पष्ट न कहना चाहिये कि ऐसा हो सकता है—वे सब कुछ कर सकते हैं ।—उनसे कुछ भी बचा नहीं है । वे चोरी कर सकते है, धोखा दे सकते हैं । अपनी शान्ति के लिये, तृप्ति के लिये, संतोष और प्रसन्नता के लिये, कोई भी पाप उनके लिये सम्भव है ! किन्तु वह मौन थी । वह तेल देखती थी और तेल की धार देखती थी । वह रक्त देखती थी, उसका रंग देखती थी । वह हिंसा देखती थी और उसकी लपलपाती, लार टपकाती लाल-लाल जिह्वा देखती थी ! उसके मन में आता था—धरती फट जाय और मैं उसमें समा जाऊँ । वह आँसू पोंछ-पोंछकर अपने को छिपाना चाहती थी । वह मूक रहकर अपने को मिटा देना चाहती थी ।

विज्ञान के कहा—"सोफ़ासेट ट्रंक पर रखा हुआ था और मेरी इन्हीं आँखों ने देखा था ।"

ऊष्मा ने बतलाया—"सीलिंगफ़ैन था और उसे मैंने रखवाया था ।"

जब सब सामग्री रख दी गयी, तब उसका ध्यान आया था । इसलिये उसे ऊपर ही रख दिया गया था ।"

जब इन सब बातों की छानबीन कानाफूसी से ऊपर उठ गयी और कला के कान में भी उसके स्वर जा पहुँचे, उसने अपनी सास से कह दिया—"अच्छा, जो कुछ हुआ सो हुआ, तुम इस पर कोई दुख न करना । भगवान् हमें बहुत देगा । दो-चार सौ तो क्या, दस-बीस हजार भी इधर-से-उधर कर दिये जायें, तो अब इस स्थिति में हमको उफ़ नहीं करनी चाहिये ।"

कला के इस साहस, औदार्य और धैर्य के मूल में वह विधि-विधान था, जिसकी संयोजना वसन्त के द्वारा हुई थी ।—'दद्दा आज अगर ऐसा कुछ करते हैं तो करलें, हम लोगों को इस विषय में कोई आपत्ति न करनी चाहिये ।'

बिरजू बाबू ने जब यह सब सुना तो उनको बहुत बुरा लगा। वसन्त की कूटनीति और उसके परिहास-व्यङ्ग से वे परिचित ही नहीं, असन्तुष्ट भी थे। अतएव प्रतिहिंसा-शान्ति का अवसर सामने आता हुआ देखकर उसकी दबी अग्नि भड़क उठी। संयोग से अपना एक गमछा निकालने के लिये उन्होंने अपना ट्रंक जो खोला, तो उसके ऊपरी भाग में रखा हुआ वह पत्र दृष्टिगत हो गया, जिसे वसन्त ने इस विवाह के सम्बन्ध में उसके पास भेज दिया था। चुपचाप उसे कमीज के जेब में डालकर वे राकेश के पास जा पहुँचे।

उन्मन राकेश उस क्षण अपने आपसे लड़ रहा था।

'जब परस्पर दो विरोधी तत्व संघर्ष की व्यावहारिक स्थिति में आ जायँ, तब हमको अपनी पारिवारिक और सामाजिक शान्ति को बनाये रखने के लिये तटस्थ होकर देखना चाहिये, या सक्रिय होकर?

'तटस्थ रहने की स्थिति में तुम हो कहाँ? तुम्हारी स्थिति तो उन दोनों तत्वों में से एक की है। तुम स्वयं एक वर्ग हो। युद्ध और संघर्ष से बच ही कैसे सकते हो!

'यदि मैं यह घर छोड़ दूँ, भाभी की छाया और भैया के राग-द्वेष से अपने को अलग कर लूँ, तो?

तुम ऐसा नहीं कर सकोगे—समाज का एक भय जो तुम्हारे भीतर घुसा है कि लोग क्या कहेंगे!—कहेंगे कि जिस भाई ने अपना पेट काट कर इतना पढ़ाया-लिखाया, अच्छे-से-अच्छा उच्च कोटि का विवाह कर दिया, उसी को—विवाह के दो दिन बाद—तुमने छोड़ दिया! अरे अधिक नहीं तो दस-पाँच वर्ष तो निभाना था।

'पर ये दस-पाँच वर्ष कटेंगे कैसे? कला ने जब से इस घर में पैर रखा, तब से तबियत भरकर खाना तो उससे खाया नहीं गया! कहती थी—"मैं दद्दा को ऐसा नहीं समझती थी!" कण्ठ में आर्द्रता, अरुणारे अधरों पर कम्पन और नयनों में अश्रुओं के मोती! अम्मा कहती हैं—

"मैं जानती थी छोटे, यह वसन्त तुम्हें प्यार नहीं करता। मैंने तुझ से कभी कहा नहीं। इसलिये कि तू सुनेगा, तो तुझसे सहा नहीं जायगा!"

इतनें में चिक का परदा उठाते हुए बिरजू बाबू ने खाँसते हुए कह दिया—"मैं आ रहा हूँ राकेश। मुझे तुम्हें एक पत्र दिखलाना है।"

राकेश उठकर खड़ा हो गया। उठती हलचलों को भीतर ही थाम कर, ताऊ को कुरसी पर बैठने का संकेत करता—और साथ ही फ़ाउंटेनपेन के मुख को उसके घर में रख कर घुमाता हुआ बोला—"कैसा पत्र?"

बिरजू बाबू ने कुरसी पर बैठते हुए कमीज़ के जेब में हाथ डाला और वसन्त का वह पत्र उसके हाथ में देते हुए कह दिया—"तुम्हारा यह विवाह वसन्त ने नहीं, मैंने करवाया है। उसकी मैंने एक नहीं चलने दी। सच पूछो तो वह इसका विरोधी था। मैंने तुमसे कहा इसलिये नहीं कि कहीं तुम मुझे ही ग़लत न समझ बैठो। क्योंकि तुम जानते हो—लेन-देन से तो मेरा कोई सम्बन्ध है नहीं। कर्तव्य समझकर मैं इस विवाह में आदि से लेकर अन्त तक शामिल रहा। अब आज चलना चाहता हूँ। इसीलिये मैंने सोचा—एक बार तुमको सावधान कर दूँ। फिर जो होना होगा, वह तो होगा ही। होनहार को कौन मेट सकता है!"

राकेश ने पत्र एक बार पढ़ा तो उसको अपनी आँखों पर संदेह हो उठा।—कहीं लेखन-लिपि मेरे मन के ज्वार के अनुरूप तो नहीं बन गयी! दूसरी बार पढ़ा, तो उसके मन में आया—हो सकता है कि वे अपनी प्रतिक्रिया को न रोक पाये हों। यह भी हो सकता है कि इसमें उन्होंने अपना कोई व्यक्तिगत स्वार्थ सधते न देखा हो; परन्तु फिर सब कुछ एक साथ पीते हुए वह मुस्कराता हुआ बोला—"मनुष्य के नाना रूप होते हैं दादा। उन्हीं में से एक यह है।" और उसने उसको बैग में रखते हुए कह दिया—"आपके तो किसी काम का है नहीं। इसलिये अब इसे मैं ही रखे लेता हूँ।—और हाँ, क्या आज ही लौट जाने का विचार है? और भी दो-एक दिन ठहर जाते। सम्भव है, यहाँ

कोई और नयी बात पैदा हो जाय, तो आपका सहारा तो रहेगा !"

"यों तो ठीक है बेटा" बिरजू बाबू ने कह दिया—"पर मुझे अब तुम्हारी बहिन के व्याह का भी तो प्रबन्ध करना है। सोचता था—जल्दी लौट जाऊँगा, पर तुम्हारे व्याह की धूमधाम में चित्त कुछ ऐसा रम गया कि सच पूछो तो जाने की इच्छा ही न हुई ! पर अब तो जाना ही पड़ेगा। तुम ज़रा दो दिन पहले आ जाना। मैंने वैसे विज्ञान से आने के लिये कह तो दिया है, पर अगर नाही-नूहीं करे तो उसे समझा लेना। और ऊष्मा बिटिया तो साक्षात् सरस्वती है। आज तक लड़की के रूप में ऐसी देवी मेरे देखने में नहीं आयी। मगर किस-किस की बात करूँ ! तुम्हारे सभी इष्ट-मित्र मुझे बड़े प्यारे लगे। क्या बात है तुम्हारी ! भगवान् करे सदा सुखी रहो—कभी किसी बात की कमी न हो। इस व्याह में मुझे भैया की बहुत याद आती रही। यह सब सुख-सौभाग्य उसको अपनी आँखों से देखना नहीं बदा था !—तो अब मैं चलता हूँ। ज़रा तुम्हारी माँ से भी मिल लूँ।"

भावाभिभूत राकेश कुछ कह न सका। ताऊजी के चिक के उस पार होते ही परदे की ओट में बैठी कला बोली—"कैसा पत्र है ? ज़रा देखूँ।"

इतने में आँगन के उस पार से कुछ ऐसा स्वर सुनायी पड़ा, जो वमन का था। उसमें कराहने की ध्वनि भी मिश्रित थी।—झट से कमरे के बाहर आकर जो आँगन में पहुँचा, तो देखा, भाभी हैं। तबियत के सम्बन्ध में पूछताँछ करने पर विदित हुआ कि पहले टट्टी गयी थीं, अब यह वमन हुआ है !

वसन्त घर में उपस्थित न था। तब वह स्वयं डाक्टर को लेने दौड़ गया।



: १५ :

अब घर की स्थिति इतनी गम्भीर हो गयी थी कि वसन्त तभी बोलता था, जब उससे कुछ पूछा जाता था। भीतर अग्नि सुलगा करती और बाहर मस्तक पर जैसे केसर-चन्दन और कर्पूर का लेप कर दिया जाता हो।

दही की कटोरी चौके में रखते हुए एकादशी ने वसन्त से कहा—"बेटा, राकेश आज कई दिन से भटका-भटका-सा फिर रहा है। यहाँ तक कि समय पर भोजन करने भी नहीं आता; न जाने क्या बात है!"

वसन्त थोड़ा चुप रहकर गिलास का पानी समाप्त करते-करते बोला—"अब राकेश सयाना हो गया है। वह सब कुछ करने के योग्य बन गया है, जो चाहे सो कर सकता है; उसे किसी का परामर्श नहीं चाहिये, किसी की सहायता नहीं चाहिये।" वसन्त ने कौर उठाते हुए कहा।

"लेकिन पहले तो ऐसा नहीं था। अब भीतर-ही-भीतर दुखी दिखायी पड़ता है। किसी से अपने मन की बात तक नहीं कहता।"

"जब तुम माँ होकर उसका मन न पहचान सकीं, तो मैं या और कोई कैसे जान सकता है? बहू से पूछा था?" वसन्त ने जान-बूझकर बनते हुए पूछा।

"बहू तो कह रही थी कि वह अलग मकान लेकर रहने की फ़िक्र में हैं। शायद अमीनाबाद में एक मकान तय भी कर आये हैं।—"एकादशी बोली।

"अच्छा, मामला यहाँ तक पहुँच गया है! हँडिया के भीतर गुड़

फूटता रहा और हमें खबर तक नहीं ! आखिर बात क्या है ?" अपना स्वर नियंत्रित करते हुए वसंत ने कहा ।

"मैं तो स्वयं कह रही हूं कि वह कभी किसी को अपने मन की बात नहीं बतलाता ।"

"बात क्या है ? कोई नहीं जानता, मैं जानता हूँ । न कमाई, न धमाई । रहने चले अलग । ससुराल से चार पैसे मिल गये हैं । उसी के पीछे इतनी उछल-कूद है । और कोई बात नहीं ।" वसन्त का स्वर इतना प्रखर था कि एकादशी भीतर-ही-भीतर कम्पित हो उठी । तब मन्द स्वर में उसने मस्तक पर हाथ रखते हुए कह दिया—

"यह मैं नहीं जानती । पर इतना अवश्य जानती हूं कि चार पैसे क्या, यदि चार लाख रुपये भी उसे ससुराल से मिलते, तो भी वह अलग होने की बात न सोचता । मैं तो चाहती थी कि जीते-जी एक घर में दो चूल्हे जलते हुए न देखूँ; परन्तु होता तो वही है जो विधाता ने पहले से लिख रखा है ।" कथन के साथ एकादशी का कण्ठ भर आया ।

"तो मुझसे क्या करने को कहती हो ?" वसन्त ने कुछ तिनककर पूछा ।

"तुमने तो कभी पूछने की ज़रूरत नहीं रखी । अपने आप ही उसके भले के लिये जो उचित समझा सो किया ; उसे पढ़ा-लिखाकर इस योग्य तुम्हीं ने तो बनाया है । तुम्हारे सिवा उसका अपना बैठा ही कौन है, जो उसके भले-बुरे की चिन्ता करेगा ।" एकादशी बोली ।

वसन्त को अम्मा की इस भाषा से सदा डर बना रहता । जब वह ऐसी बात करने लगतीं, तो यही वसन्त सोचता कि अब मुझे झुकना पड़ेगा । यद्यपि प्रत्येक बात के सम्बन्ध में अन्त में मन-ही-मन वह यह भी कह लेता—इस बात में भी कुछ दम नहीं है । मेरी मानवी समवेदना को उत्तेजित करके अपना स्वार्थ-साधन कर लेना ही इनका मूल अभिप्राय है । अतः उसने अपनी स्थिति सम्हालते हुए कह दिया—

"कोई बदल जाय तो बदल जाय, मैं तो अभी भी वही बना हुआ हूँ ; जिस योग्य हूँ, हर समय तैयार हूँ ।"

"बेटा, तुम तो पराये जैसी बातें करते हो । मैं तो कह चुकी हूँ कि उसके ऊपर हाथ रखनेवाला तुम्हारे सिवा और दूसरा है ही कौन ?"

"यह तो ठीक है, लेकिन उसे मनाये कौन ? और क्यों मनायें ? और जब घर में मेरे सिवा और सब लोग उसी की हाँ-में-हाँ मिलानेवाले हों, तो अकेले मेरी क्या चल पायेगी ! कुछ भी हो, मैं तो उसे मनाऊँगा नहीं ; अगर उसे अलग रहना ही है तो रहे, उसकी इच्छा ।"

"लेकिन बेटा, इतना तो तुम जानते ही हो वह हँसी-खुशी से इस घर से नहीं जा रहा है । ऐसे अवसर पर उसका जो कुछ है, कम-से-कम वह तो उसे मिल जाना चाहिये ।" एकदशी बोली ।

"घर में क्या उसका है, क्या मेरा है, इसका निर्णय तुमसे अच्छा कौन कर सकता है ? जो कुछ उसका समझो, घर में से उठाकर दे दो । कौन तुम्हारा हाथ पकड़नेवाला है ?" वसन्त ने कहा !

"बेटा, तुम दोनों भाइयों के बीच में बँटवारा करानेवाली मैं कौन होती हूं ; लेकिन मैं इतना अवश्य चाहती हूँ कि घर का गहना दोनों बहुओं को बराबर-बराबर मिल जाय ।"

अब एकादशी की इतनी लम्बी भूमिका का आशय वसन्त की समझ में आ गया । अतः कुछ आविष्ट होकर वह बोला—"गहने ! गहने कब तुमने घर में देखे थे ?"

वसन्त की भृकुटियों का तनाव देखकर एकादशी फिर कुछ सहम गयी, वाणी कम्पित हो उठी । फिर भी उसने धीरे से कह दिया—"बेटा, उनके मरने के बाद तो ताला-चाबी तुम्हीं ने अपने हाथ में कर ली थी । तब से सात हज़ार के लगभग का गहना तुम्हारे ही हाथ में है ।"

"अम्मा, इतनी भोली न बनो कि सत्य और धर्म रो पड़े ! एकादशी के व्रत और तुलसी-पूजन के सिवा तुमने दुनिया की और कोई बात जानी नहीं । गृहस्थी की गाड़ी किस तरह खिंचती रही है ; इन नौ-दस वर्षों

में तुमने जानने की चेष्टा कभी नहीं की और आज तब हिसाब मिलाने बैठी हो जब उसके काग़ज़ात को भी दीमक चाट गयी ! नौकरी से जो मिलता है, वह भी जानती हो, फिर राकेश की पढ़ाई कैसे चली, कभी तुमने सोचा ? तुमको पता होना चाहिये, एक-एक गहना बिक चुका है। घर का कच्चा चिट्ठा अब मैं तुम्हें क्या सुनाऊँ ! दो-एक छोटी-मोटी चीज़ें शायद बाक्स में पड़ी हों।"

एकादशी हतबुद्धि हो उठी। वह निराश तथा उन्मत्त होकर बोली—"बेटा, मैं तो जानती थी कि चीज़ें सब सुरक्षित होंगी और समय पर दोनों के काम आयेंगी।"

"ऐसा हो सकता था, लेकिन तब राकेश ऐसी उच्च स्थिति में थोड़े ही पहुँच पाता। अगर हम उसकी उचित पढ़ाई की व्यवस्था न करते तो आज उसका ऐसा उत्तम विवाह न होता कि मेरे ही अनेक लखपती मित्र मुझ से ईर्ष्या करते ! फिर, तब समाज में चार आदमी उँगली न उठाने लगते कि बड़ा भाई ज़रूर था, मगर बिना बाप का होने से बिचारा किसी लायक न बन सका !"

एकादशी की वाणी रुद्ध हो गयी। वसन्त खा-पीकर विद्यालय चला गया। अब छतों पर कहीं मोर बोल रहे थे और कहीं बाँबी के बाहर बैठा सर्प कुंडलिका लगाये किसी को ताक रहा था।

अंत में राकेश यही सोचने लगा कि अत्याचार और अन्याय को सहते जाने में कोई गौरव नहीं आत्मा को सन्तोष नहीं, शान्ति नहीं है। इस प्रकार की सहन-शक्ति और वृत्ति को मैं न त्याग मानता हूँ, न संयम। यह तो ठीक उसी भाँति का आचरण है जैसा कोई जान-बूझकर विष-पान कर रहा हो। इस प्रकार तो मेरा सारा व्यक्तित्व ही मर जायगा ! मैं जीवित कैसे रहूँगा ?

जब राकेश चारपाई पर लेटा हुआ चुपचाप ऐसी परिस्थिति पर विचार कर रहा था, उस समय नीचेवाले कमरे में गीत-वाद्य का कार्य-क्रम चल रहा था और वह स्वयं तिखण्डे के अपने कमरे में बैठा हुआ कभी ऊपर खड़ा हो जाता और कमरे के पीछे दोनों हाथ एक दूसरे में लेकर छज्जे पर टहलने लगता। फिर भी बारम्बार एक ही स्वर उसके कानों में गूंजने लगता—'यह भी हो सकता है कि सड़क पर निकल कर थोड़ी दूर पैदल चलना भी दुष्कर हो जाय। जो कोई परिचित मार्ग में मिल जाय, समक्ष आते ही प्रश्न कर बैठे—"मैंने सुना है कि विवाह के बाद तुमने तुरन्त ही मकान बदल दिया। दूसरा मकान ले लिया।"

"हाँ, छोड़ तो दिया है।"

फिर प्रश्न होगा—"क्या कुछ किसी बात पर परस्पर कहा-सुनी हो गयी थी ?"

मैं कह दूँगा—"हो भी सकती थी, लेकिन होने नहीं दी गयी।"

"जो कुछ भी हो, तुम्हारा मामला है, तुम जानो। मैंने पूछा इसलिए और चर्चा भी इसीलिए कर दी कि तुम मेरे मित्र हो और भाई, सच्ची बात यह है कि मुझे सुनकर अच्छा नहीं लगा।"

यकायक गाना बन्द हो गया।

किसी बात पर किसी की हँसी के साथ अनेक प्रकार की हास्य-ध्वनियाँ सुनाई पड़ गयीं। किसी ने कहा—'अरे इस पान में डली तो है ही नहीं !' कोई बोला उठा—'ज़रा मैनपुरी मुझे भी।' और किसी ने कह दिया—'दीदी मुझको न भूलना !' फिर तुरन्त गीत-वाद्य प्रारम्भ हो गया। राकेश छज्जे पर से कमरे के अन्दर आकर सोचने लगा—'सबसे अधिक चिन्ता मुझे भाभी की हैं। इस घर में उनसे अकेले कैसे रहा जायगा ! उनका पावन स्नेह, उनका बात-बात में 'लला सम्बोधन···!'

इस समय उसकी दृष्टि कमरे के एक कोने में पड़ी काग़ज़ की एक गुल्ली पर जा पड़ी। उसी ओर बढ़कर झुककर जब दायें हाथ से

उसे उठाया, खोला और सिकुड़नों पर टेबिल के सहारे हाथ फिराकर उसे पढ़ने योग्य बनाने और सिकुड़नों को दूर करने की चेष्टा की, तो क्या देखता है—'कला तुम जीवन की हो कि मानस-लोक की। मेरे अन्तर की रन्ध्र-रन्ध्र, मेरी कल्पना की ग्रन्थि-ग्रन्थि, मेरे गगन की तारिका, मेरे तिमिर-लोक की चन्द्रिका। देखता हूँ तुम तब तक मुझसे दूर रहोगी······!'

'अच्छा तो यह विवाह-नियोजन एक आधार पर हुआ है !'

इन पंक्तियों की लिपि वसन्त की थी और उस पर लाल पेंसिल भी आड़ी-तिरछी लकीर खींचकर उन्हें काट दिया गया था। एक कोने में लिखा था—कला रानी। एक कोना थोड़ा-सा बीच से चिरा हुआ भी था, जिससे विदित हुआ कि पहले इसे फाड़ने की चेष्टा की गयी है फिर यकायक हाथ रुक गया है ! कदाचित् कविता पूरी नहीं कर पाये। इसीलिये इसे गुड़-मुड़ाकर कोने में फेंक दिया है। यह तो पता नहीं चलता कि कब लिखी थी, लेकिन यह टुकड़ा मेरे कमरे में पहुँच कैसे गया ? उसको कला के पास तो क्या फेंका होगा ! और फेंका होता तो इसको काटा ही क्यों होता ? अच्छा, अब समझ में आ गया। आज दिन में यहाँ जो दरी बिछी रही थी उसके नीचे कहीं रह गया होगा। तब तो यह पंक्तियाँ बहुत दिनों की लिखी हुई जान पड़ती हैं। मगर चाहे जितने दिनों की हों, एक तो यह अकारण नहीं लिखी गयीं, दूसरे जब मानस-लोक से उभारकर कविता की भाषा और लिपि में आ गयी हैं, तो इस भावना के न जाने कितने चित्र उनकी कल्पना में उतरकर साकार हुए होंगे। जाने कितनी बार वे कैलाश बाबू के यहाँ कोई-न-कोई बहाना निकालकर गये होंगे। साथ बैठे होंगे—उनके साथ। वार्तालाप के नाना प्रसंगों और दैनिक जीवन के विविध कार्यों के सम्बन्ध से कला उनके निकट आयी होगी। न जाने कितनी दृष्टियों से उन्होंने उसको नयनों की रेशमी डोरियों पर बिठाने की चेष्टा की होगी ! क्या-क्या नहीं सोचा होगा !'

टेबिल पर इस काग़ज़ को जमाये हुए झुक, कर जब राकेश उसे ध्यान से देख रहा था तभी यकायक कला आ पहुँची और हँसती हुई बोली—"अरे तुम तो यहाँ कुछ लिखने-पढ़ने में लग गये ! मगर कमीज़ के ऊपर केवल स्वेटर पहने हो, तुमको सर्दी नहीं लग रही ? मगर बहुत गम्भीर दिखलायी पड़ते हो, क्या बात है ?"

"सुनो, यहाँ आओ। इधर देखो, यह क्या है ! सर्टिफ़िकेट है भैया का, नाग-पाश है उनकी वासना का ?"

"मगर यह है क्या ?" कला ने निकट आकर टेबिल पर झुकते हुए पूछा। रेशम और ऊन की मिश्रित साड़ी पर वह लेडीज़ कोट पहने हुए थी। दाहिने हाथ की अनामिका में पड़ी हुई मुद्रिका का पन्ना विद्युत-आलोक में एक झलमली उत्पन्न कर रहा था।

इतने में राकेश ने कह दिया—"जरा पढ़ो इसको। है सर्प की गुँडलियाँ कि नहीं ?"

कला ने जो आद्योपान्त उसे पढ़ा तो उसकी भृकुटियाँ तन गयीं और उसके मुँह से निकल गया—"कहते तो तुम बिलकुल ठीक हो। ऐसी अवस्था में अब इस घर में रहना मुझे उचित नहीं जान पड़ता। आज संध्या को जब अम्मा मुझे साथ बैठ कर खाना खिलाने लगीं तो यकायक उनकी आँखें भर आयी थीं। मैंने बहुत पूछा कि क्या बात है तो आँसू पोंछते हुए बड़ी कठिनाई से उनके मुँह से निकला—" न जाने मेरे भाग्य में क्या बदा है······! अब इस घर में उसके साथ रहना··· कभी-कभी मुझे एक डर-सा लगता है दुलहिन !'

इतना कहते-कहते कला यकायक रुक गयी। अपनी बुद्धि पर एक अटूट विश्वास, अपने विवेक पर एक अडिग आस्था लिये हुए उसने कह दिया—"मगर इन छोटी-छोटी बातों को तुम कहाँ तक देखोगे ! तुम सब कुछ जानते हो, इसीलिए मेरा तुमसे कुछ कहना अच्छा नहीं लगता।"

मनुष्य के नाना रूप हैं, उन्ही में से एक यह भी है !

चेस्टर खूँटी पर टँगा हुआ था। उसको उतारकर बाँह में डालते हुए वह बोल उठा—और साथ में थोड़ा मुस्कराने भी लगा। चेस्टर के भीतरी जेब में ताऊ की दी हुई चिट्ठी पड़ी थी। उसको निकालकर सामने रखते हुए उसने कह दिया—"लो, अब इस चिट्ठी को भी पढ़ लो। भैया ने इसे तब ताऊजी के पास भेजा था, जब यह विवाह तय होने जा रहा था। यह शायद उसी दिन भी बात है जब बाबूजी ने हम लोगों के लिए ऊनी सूटों का पकड़ा ख़रीदा था। कला ने ध्यान से उस चिट्ठी को पढ़ते-पढ़ते कहा—"बुरा न मानना, उनके द्वेष की आशंका तो पापा और ममी—दोनों को—बहुत पहले से थी। ख़ैर, छोड़ो इन छोटी-छोटी बातों को।"

मुस्कुराहट दूर हो गयी और गम्भीर होकर राकेश ने कह दिया—"तुम इसको छोटी बात समझती हो !"

"नहीं समझे ! तुम अभी यह कह रहे थे कि मनुष्य के नाना रूप हैं, उन्हींमें से एक यह भी है। दूसरों को निरन्तर दोष देने की अपेक्षा हम स्वयं सँभलकर क्यों न चलें ?"

"चल सकते हैं, मगर उस बाग में नहीं—जिसमें पेड़ों की जड़ों के ऊपर सर्पों की बाँबियाँ होती हैं—उसके बीच से भी नहीं।"

कला मुस्कुराती हुई बोली—"मैं जानती तो नहीं, किन्तु सुना अवश्य है मैंने कि सर्प की कोई बाँबी होती ही नहीं। वह सदा दूसरों की ही बाँबियों और खोहों में रहा करता है !"

राकेश हँसने लगा और आश्चर्य के साथ उसने कह दिया—"अच्छा, यह तुम्हें किसने बतलाया ?"

कला बोली—"आपको पता नहीं कि मेरे मामा अब भी अधिकांश रूप से ऐसे मकान में रहते हैं जिसके एक ओर जंगल है—ऐसा जंगल जो पहाड़ियों का है। उसी से लगा हुआ, थोड़े अन्तर से, उनका चालीस एकड़ भूमि पर एक खेती का 'फ़ार्म' है। रास्ता जंगल का है और फ़ार्म की ऊँची-नीची भूमि समतल कर ली गयी है। ममी और पापा के साथ मैं उनके यहाँ अनेक बार गयी हूँ। एकाध बार ऐसा भी संयोग आया है

कि गाड़ी को आधे-आधे घंटे रुकना पड़ा है। पापा तो चिन्तित हो उठते थे कि गाड़ी 'स्टार्ट' करने में अब 'ड्राइवर' न जाने कितनी देर लगायेगा ! मगर इस समय का उपयोग जो हम ममी के साथ करते—इधर-उधर घूमते रहते—तो उसमें कान्तार की सभ्यता का कभी-कभी बड़ा ही विचित्र परिचय मिलता था। एक बार एक कंजर जाति का जोड़ा सामने से जाता हुआ दिखायी पड़ा। मैंने कुछ कड़कीली आवाज़ में कह दिया—"ठहरो !" तो वह कुछ सहम गया। ठिठकते हुए पुरुष ने उत्तर दिया—'क्या बात है सरकार !' मैंने कहीं यों ही पूछ दिया—'तुम्हारे यहाँ कोई शिकारी कुत्ता है ?' उसने अपने पीछे की ओर मुड़कर उँगली उठा दी और कह दिया—'वह आ रहा है।' यकायक दौड़ता हुआ कुत्ता आया और उसके पैर सूँघता-सूँघता आगे के दोनों पंजों से उसके कमर के कपड़े के सहारे खड़ा हो गया। मैंने पूछा—'यह क्या है ? यह क्या कर रहा है ?'

"कंजर के कंधे पर एक खन्ता रखा हुआ था जिसमें झोला टँगा था। मैंने पूछा—'क्या बात है ? यह कुत्ता तुमसे क्या चाहता है ?' उस कंजर ने बतलाया—'इसमें उसके खाने की चीज़ है।' मैंने पूछा—'कौन सी चीज़ ?' तो वह बोला—'हिरन का मांस।'

"'हिरन का मांस ! यह तुमको कहाँ से मिला ?' उसने जवाब दिया—'ठाकुर साहब के यहाँ बना था। उन्हीं के यहाँ से माँग लाया हूँ। मैं उनको शहद देने गया था और यह कुत्ता हिरन के माँस की गंध पहचानता है। क्योंकि जब कभी मुझे कहीं मिल जाता है तो यह निकट आते-जाते भाँप लेता है।'

"हिरन का माँस तुम इसको खिलाते क्यों हो ? खुद क्यों नहीं खा लेते ?"

"वैसे तो सरकार यह बहुत तेज़ दौड़ता है, लेकिन जब इसको हिरन का मांस खाने को मिलता है, तब तो यह डाक-गाड़ी के बराबर दौड़ लेता है।'

"उस बार मैंने दूर से साँप और नेवले की लड़ाई भी देखी थी। देर तो बहुत लगी—मोटर ठीक होने में—लेकिन आनन्द बहुत आया। शाम हो गयी थी और मामाजी के यहाँ पहुँचते-पहुँचते तो दीपक जल गये थे। मामाजी को जो मैंने उस कंजर का हाल बताया तो वे बोले—'यह लोग साँप को भी मारकर खा जाते हैं!' उस समय वे साँपों के जीवन पर बड़ी देर तक बोलते रहे।"

"उन्होंने ठीक ही बतलाया।" राकेश ने कह दिया—"हमारा जीवन कितने आश्चर्य और वैचित्र्य से भरा हुआ है! ज्यों-ज्यों इसका अनुभव होता जाता है, त्यों-त्यों मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँच रहा हूँ कि निश्चित कुछ नहीं है। कब क्या हो जायगा—कोई नहीं जानता। घड़ी क्या देख रही हो? अभी बारह ही तो बजे हैं। जिस सर्प की हम चर्चा कर रहे थे वह अभी तक घूमकर नहीं लौटा है। पता नहीं किस बाँबी में बैठा होगा!"

"मुझे तो अब नींद लग रही है।"

"तो तुम अब सो जाओ। मेरे लिये तो यह जागरण की रात है।"

कला हँसने लगी, लेकिन राकेश बहुत गम्भीर हो गया। कला बोली—"मेरी समझ में नहीं आता कि तुम इन छोटी-छोटी बातों को इतना अधिक क्यों सोचते हो। मेरे विचार में तो अब तुमको भी सो जाना चाहिये।"

"न तो यह छोटी-छोटी बातें हैं और न आज मुझे नींद ही आयेगी।"

बारम्बार राकेश के मन में आ रहा था कि वह अपने मन की बात इसी समय कला से प्रकट कर दें, किन्तु फिर वह यही सोच लेता था कि कुछ बातें ऐसी होती हैं जिनका अवसर से पूर्व कोई मूल्य नहीं होता; और वह अवसर अभी नहीं आया।

गायन और वाद्य का कार्यक्रम समाप्त हुए देर हुई। अब एक सन्नाटा छा गया है। रजनी शान्त है। वातावरण में ठिठुरन बढ़ गयी

है। इतने में बड़े-बड़े दो गिलासों में गरम दूध लिये मौलश्री ने दरवाज़े पर आवाज दी—"कुट्-कुट् !"

भीतर से राकेश ने उठकर द्वार खोल दिया।

मौलश्री ने कह दिया—"लो, यह दूध अन्दर रख लो। अभी गरम है। अम्मा बहुत थक गयी थीं, मैंने उन्हें सुला दिया है।"

राकेश ने गिलास लेते हुए पूछ लिया—"भैया अभी नहीं आये ?"

"अभी कहाँ !" कहकर मौलश्री जल्दी ही लौट गयी।

राकेश ने दूध रख लिया फिर मेज़ के ड्राज से पिस्तौल निकाला, देखा और यथावत् रख दिया।



: १६ :

दिनभर जीवन के नाना व्यवहारों तथा विविध अवसरों पर वसन्त मौलश्री से केवल काम की बात करता था। यदि कोई बात उसके मनमें उलझन उत्पन्न करती तो वह अपनी प्रतिक्रिया तत्काल कभी व्यक्त न करता। उसका मत था कि मनुष्य का वास्तविक जीवन तो प्राय: अव्यक्त रहता है। अभिव्यक्ति तो केवल प्रतिक्रियाओं की होती है।

जिस क्षण से कला के नव-अनुज-वधू के रूप में आने का निश्चय हो गया था, उसी समय से उसका मन विविध प्रकार की मोहोन्मादिनी कल्पनाओं से आच्छन्न हो उठा था। मौलश्री भी यह अनुभव करने लगी थी कि अब स्वामी मेरा कुछ ध्यान रखते हैं।

एक दिन कहीं मौलश्री ने कह दिया—"आज मेरे पेट में कुछ दर्द-सा जान पड़ता है।"

वसन्त का मुख नवल सम्भावनाओं के आह्लाद से खिल उठा। वह मुस्कराते हुए बोला—"कुछ पीड़ाएँ बहुत प्यारी होती हैं मौलश्री।"

"प्यारी कि मीठी?" मौलश्री ने स्वामी के ही भावसे कह दिया।

वह पलँग के ऊपर लपेटे हुए बिस्तर के सहारे सिर रखे लेटी थी। उसका बायाँ हाथ सिर पर तिरछा रखा हुआ था। उसके हाथों की हरी रेशमी चूड़ियाँ अब ढीली हो गयी थीं।

वसन्त बोला—"प्रत्येक पीड़ा मधुर ही हो, यह आवश्यक नहीं।"

मौलश्री ने करवट बदल ली और कह दिया—"मैं तुमसे बहस नहीं करती। लला कहते थे 'बहस वही आदमी करता है, जिसका मन प्रसन्न और संतुष्ट नहीं होता, या जिसको अपने जीवन से ही नहीं,

मनुष्यमात्र से शिकायत होती है। जो आशा अधिक रखता है और काम कम करता है।"

"प्रसन्न और संतुष्ट मन उसी व्यक्ति का होता है, जो बोदा, स्थूलकाय और साधारण होता है। और सामान्य मन रखनेवाला व्यक्ति कभी राज्य नहीं कर पाता। उन लालसाओं की पूर्ति कर पाने में तो वह सदा अक्षम बना रहता है जिनको वह अपने लिए समझता तो दुर्लभ है ; पर स्वप्न उन्हीं का देखता है। राकेश को मैंने असामान्य के रूप में देखा था। किन्तु विवाह होते ही उसका रंग-ढंग कुछ बदला-सा दिखाई पड़ता है। यह भी हो सकता है कि उसको समझने में मुझसे कहीं भूल हो रही हो। पहिले दिन-भर बाहर रहता था; अब बाहर दिखाई नहीं पड़ता और घर में रहता भी है, तो कमरे के अन्दर रहते हुए भी पता नहीं चल पाता कि है ! बोल तो कभी उसका सुनायी ही नहीं देता। केवल चप्पलों से बोध होता है कि अन्दर होगा अवश्य। यद्यपि आजकल फुलस्लीपर पहनने लगा है। मुझसे तो जैसे उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं रह गया। अम्मा और बहू के बीच रात-दिन खुद-बुद खुद-बुद न जाने क्या खिचड़ी पका करती है। ख़ैर, तुम्हारी पीड़ा की बात तो मैं भूल ही गया। कहो तो मैं (मिड्वाइफ़) मिसेज़ जैक्सन को बुला लाऊं।"

"नहीं"—"मौलश्री ने अँगड़ाई लेते हुए कहा—"चिन्ता की कोई बात नहीं, अपने आप ठीक हो जायगा। तुम तो बहुत जल्दी घबरा जाते हो।"

"घबरा नहीं जाता, अपनी परिस्थिति पर ध्यान रखना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ, संसार-भर को मुझसे चाहे जितनी शिकायत बनी रहे, लेकिन तुमको न हो।"

मौलश्री स्वामी के इस कथन पर उल्लास की भावना से किंचित् मुस्कराती हुई बोली—'चलो, कर्म तुम्हारे भले ही उत्तम कोटि के न हों, लेकिन शब्दों में एक सुन्दर विचार तो तुम्हारे मुख से निकला !"

"हूँ, कर्म भले ही उत्तम कोटि के न हों !—तुमको मुझसे सदा यही

उलहना बना रहा—और आश्चर्य है कि अब तक बना है ! जबकि मैं अपने को उत्तरोत्तर बदलता हुआ देख रहा हूँ ।"

इतने में एकादशी चिक के बाहर दिखायी जो पड़ गयी, तो वसन्त कुर्सी से उठकर खड़ा हो गया और मौलश्री ने अवगुंठन से सिर ढँक लिया।

वसन्त बोला—"क्या है माँ ?"

एकादशी राकेश के विवाह के दिन से ही अनुभव कर रही थी कि इस मकान में दो कमरे अगर और होते तो कितना अच्छा होता !—दो न होते एक ही होता । कम-से-कम छोटी बहू के लिए अलग एक कमरा होना ही चाहिए । स्थिति यह है कि अगर मुझे राकेश से कुछ कहना होता है तो वहाँ छोटी बहू उपस्थित रहती है और छोटी बहू से कहीं कुछ कहना हुआ और संयोग से वहाँ राकेश उपस्थित हुआ, तो उसे बाहर चले जाने के लिए कुछ कहते अच्छा नहीं लगता । घर-गृहस्थी में बहुतेरी बातें ऐसी निजी होती हैं जो उसी से कही जाती हैं जिसके साथ उनका सीधा नाता होता है । क्योंकि कुछ बातें तो एक-दूसरे के सम्बन्ध की भी होती हैं, जिनको तय करने में अलग से सलाह करने की जरूरत होती है । वह चाहती थी कि राकेश की बात उसी से की जाय । उसको अगर बाहर बुलाये तो बरामदे में वसन्त उसे सुन सकता है । ऐसे अवसर पर जब वसंत ने स्वयं उससे अनुकूल प्रश्न कर दिया, तो एकादशी ने उत्तर दिया— "यहाँ आओ, तुमसे कुछ बातें करनी हैं ।"

वसंत बाहर आ गया । बोला—"कहो ।"

एकादशी ने सोचा, पहले काम की बात करूँ, तो ठीक रहेगा । बोली—"मैंने तुमसे कहा था—देशी घी अधिक न सही, पाँच ही सेर ले आओ । कल किसी तरह काम चला लिया, पर आज···!"

"आज भी तुमने देर कर दी अम्मा । अब मैं कालेज जाऊँ कि तुम्हारी इस नून-तेल-लकड़ी में पड़ूँ ! मेरी समझ में नहीं आता, तुम राकेश से ये काम क्यों नहीं लेतीं !"

एकादशी को यह बात कुछ अप्रिय लगी । उसके मन में आया, घर

गृहस्थी के साधारण कामों में वसंत बड़ा प्रवीण और चतुर है। लेकिन राकेश का ब्याह होते देर नहीं हुई कि वसंत ने टालमटूल शुरू कर दी !

तब उसने कह दिया—"वह तो सवेरे ही चला गया था। इसके सिवा तुम जानते हो, ऐसे कामों में वह अभी कितना कच्चा है। उससे अगर कोई चीज़ मँगाई भी जाय, तो धोखा खा जाना उसके लिए बहुत मामूली बात है।"

"कहती तो तुम ठीक ही हो अम्मा, लेकिन एक तो राकेश अब बच्चा नहीं है, दूसरे धोखा खाये बिना कोई आदमी अनुभवी नहीं होता। पुस्तकीय ज्ञान यदि मनुष्य को सतर्क बना सकता, तो आज इस दुनिया का रूप कुछ दूसरा होता !"

बात करते-करते अब वसंत फिर भीतर कपड़े पहनने लगा था। एकादशी बोली—"तो फिर आज शाम को भोजन कैसे बनेगा ? राकेश यों भी समय पर खाना खाने की परवा नहीं करता ; ज़रूरी काम के आगे उसको भूख लगती भी नहीं।"

"सब लगने लगेगी अम्मा। ये नख़रे तभी तक चलते हैं जब तक ज़िम्मेदारियाँ अपना मुँह नहीं खोलतीं।"

कथन के साथ वसंत पेंट का वकलस लगा रहा था और मौलश्री पलंग से उतरकर शीतलपाटी पर आ गयी थी।

एकादशी को ऐसा प्रतीत हुआ जैसे वसंत आज राकेश को छोटा भाई नहीं, अपना विरोधी समझने लगा है। तब वह वसंत की इस बात के जवाब में कुछ न कह लौट आयी और एक बड़ी पतीली हाथ में लेकर नीचे उतर गयी। इतने में कहीं दिवाकर आ पहुँचा और एकादशी के चरण-स्पर्श कर बोला—"दादा तो होंगे नहीं घर में ?"

"कहाँ बेटा, इस समय घर में वह कभी रहता भी है। फिर कहाँ जा रहा है और कब लौटेगा, कुछ भी मुझको कभी बतलाकर नहीं जाता।"

सिर खुजलाता हुआ दिवाकर मुस्कराने लगा। तभी एकादशी ने कह दिया—"अच्छा, तुम इस वक्त एक काम करो बेटा। देशी घी कहीं से अच्छा मिले तो ले आओ, जितना इसमें आ सके। मेरे ख़याल से दो सेर तो इसमें आ जायगा।—यह दस रुपये ले लो। बल्कि ऐसा करो कि एक रुपया और ले लो। शायद कुछ पैसे ऊपर से देने पड़ जायँ।··· लो, पानी भी बरसने लगा। अच्छा ठहरो, छतरी लेते जाओ।"

दिवाकर ने रुपये और पतीली लेते हुए कह दिया—"ख़ैर, आज तो मैं लाये देता हूँ यहीं से। वैसे आगे से चार दिन पहिले अगर बता दिया करोगी तो मैं अपने गाँव से बल्कि एक तरह से अपने घर से ही विशुद्ध देशी घी मँगा लिया करूँगा। शहरवाले व्यापारी अलग रहने पर अपने उस बाप के भी सगे नहीं होते जो उसे पैदा करता है!

एकादशी ने कह दिया—"कहते तो तुम ठीक ही हो बेटा। लेकिन फिर किया भी क्या जाय? देहात से भी एक-दो बार भले ही ठीक-ठीक आ जाय; लेकिन हमेशा न तो मिल ही सकता है और न वह शुद्ध ही हो सकता है। बेईमानी कुछ शहरवालों के ही बाँट में नहीं आयी।"

इतने में राकेश विज्ञान के साथ आ पहुँचा और दिवाकर को पतीली लेकर जाते हुए देखकर बोल उठा—"क्या है? क्या आज दूधवाला नहीं आया?"

कान में अँगुली डालकर उसे खुजलाती हुई एकादशी बोली—"दूधवाला तो आया था और दे भी गया है, लेकिन घी बिलकुल चुक गया है। मैंने जो अभी वसन्त से लाने के लिये कहा, तो उसने टका-सा जवाब दे दिया!"

राकेश को थोड़ा भी क्रोध नहीं आया। वरन् कुछ मुस्कराते हुए ही उसने पूछा—"कुछ कह रहे थे क्या?"

"यहाँ क्या बताऊँ, ऊपर चलो।"

इधर से तीनों ऊपर चढ़ रहे थे, उधर से वसंत सूट पहने और धूपचश्मा लगाये खट-खट करता नीचे उतर रहा था। राकेश ने एक बार

उसकी ओर देखा भी, लेकिन वसन्त ने उसकी ओर दृष्टि तक न घुमायी।

इस समय मौलश्री चौके में जाकर दाल में हल्दी छोड़ रही थी और कला अपनी डायरी का पन्ना खोलकर उसमें लिख रही थी—

"पाप और पुण्य के इस स्वर्ग-निकुञ्ज में यदि पुण्य की पाप पर विजय होती है, तो उसका यह कारण नहीं कि पुण्य एक सत्कर्म है। माना कि सत्य का पथ प्रशस्त है। पर हमें यह कभी न भूलना चाहिये कि आँधी आने पर एक-दो काँटेदार झाँखर मार्ग में आ ही जाते हैं। हो सकता है, काँटे पैर में न चुभें, पर धोती तो वे फाड़ ही सकते हैं!—तो मुख्य वस्तु है शक्ति। अगर शक्ति के अभाव में हम कहीं अक्षम और दुर्बल हैं, तो सनमार्ग पर चलते हुए ध्येय को प्राप्त करने में, पिछड़ ही जायँगे!"

—कार रहते हुए भी उन्हें पैदल या रिक्शे पर दौड़ना पड़ रहा है। 'बस' की प्रतीक्षा में समय नष्ट करना उन्हें स्वीकार नहीं। पैसा चुकता जा रहा है।···पेट्रोल कल ही समाप्त हो गया था। शनिवार के दिन बारह बजे के बाद बैंक तो बन्द हो ही जाता है। आज रविवार है। किसी से रुपये उधार माँगना उन्हें स्वीकार नहीं। पेट्रोल की दूकान में खाता खोल सकते थे। पर प्रश्न है कि दूकान के मालिक से इसके लिए कहे कौन? कहा भी जा सकता है। पर फिर प्रश्न उठता है—अगर उसने खाता खोलने से इनकार कर दिया, तो···! मेरे पास दस-पाँच रुपये फुटकर जो पड़े रहते हैं, उनको मैं दे रही थी। पर उन्होंने मुस्कराते हुए कह दिया—"रखो-रखो, मेरा काम कभी रुकता नहीं।"

राकेश जब वसन्त से अलग हो गया, तो वसन्त का जीवन के प्रति समन्वय और सायुज्य का भाव ही जैसे नष्ट हो गया। धीरे-धीरे वह स्थूल सत्य का उपासक बनता जा रहा था। स्वाद पर उसकी दृष्टि विशेष

रूप से रहती, गुणों पर नहीं। वह सोचता था'''मन में मेरे प्रति कोई चाहे जितना प्यार, स्नेह और श्रद्धा रखे, लेकिन व्यवहार यदि उसके विपरीत है, तो उसकी श्रद्धा गूँगी और लुञ्ज-पुञ्ज है, प्यार और स्नेह बधिर और जड़। उसका कहना था कि राकेश और चाहे जो कुछ करता; केवल मुझे न छोड़ता—मेरा घर न छोड़ता। उसने जब सुना कि आज वह अपना सब सामान ले जायगा, तो सायंकाल जिस समय वह कालेज से लौटता था, उस समय घर नहीं लौटा। रात को भी तब तक नहीं लौटा जब तक पथ सुनसान नहीं हो गया; राजपथ प्रकाश-स्तम्भों की बत्तियों के समुज्वल आलोक के सिवा मूक, नीरव और निर्जन न हो गये। सायंकाल वह विज्ञान के यहाँ बैठा रमी खेलता रहा। चाय का एक कप उसने जरूर पी लिया था, लेकिन कलेवा के लिए आयी हुई दाल-मोठ और खस्ता नुकती को उसने छुआ भी न था। उसे ऐसा जान पड़ता, जैसे कोई भीतर बैठा हुआ, रह-रहकर कलेजा नोच लेता हो। जब रात के दस बज गये, तब विज्ञान ने कह दिया—"आज तुम बहुत दिनों में आये और मुझे प्रसन्नता है कि इतनी देर बैठे भी; पर अब दस बज गया।"

"बजने दो, बारह भी बजते हैं और एक भी बजता है।"

"और भी एक आश्चर्य की बात है कि रमी में तुम आज हार अधिक रहे हो! पहले कभी ऐसा नहीं होता था कि हारने पर भी डटे रहो।"

"यह गुण तो नहरों का होता है कि जब बहती हैं, तब एक रस बहती रहती है, और जब टूट जाती है तब एकदम से सूखकर खीस निपोर देती हैं। सरिता का यह गुण नहीं है। प्रवाह तो उसमें बना ही रहता है, थोड़ा हो कि बहुत, यह बात दूसरी है। यह तो तय है कि हम रत्नाकर नहीं बन सकते; तो फिर सरिता बनकर रहने में क्या बुराई है? मुझे उस सरोवर पर दया आती है, जो पानी सूख जाने पर अपनी गोद में ही सहस्रों मछलियों को एक साथ तड़प-तड़पकर मरता हुआ देखता रहता है—टुकुर-टुकुर! मैं जब तक जीवित रहूँगा, तब तक न तो क्षेत्र से भागूँगा और न कभी दैन्य दिखलाऊँगा।"

"आज बहुत गम्भीर जान पड़ते हो वसंत ! क्या बात है ?"

यकायक बसंत को ऐसा जान पड़ा कि विज्ञान ने छाती पर वज्र मार दिया हो ! कम्पित हो उठा, इस भय से कि कहीं आँखों में आँसू न आ जायँ । तब उसके मुँह से निकल गया—"सँभल जाओ । यह पत्ता हाथ में आ गया । यह लो, अब हार रहे हो—हार रहे हो ।"

यद्यपि विज्ञान को ऐसा प्रतीत हुआ कि विषयान्तर कर रहा है लेकिन हार खाते समय ऐसा कुछ कहने का अवसर हाथ में न रह गया था । फिर साढ़े दस बजे वसंत उठ खड़ा हुआ और बोला—"चलते हैं बन्धु !"

"अब कब आओगे ?"

"यह मत पूछो । सब अनिश्चित है ।"

"ऐसी भी क्या बात है ?"

"बात यह है कि बात कुछ नहीं है ; बात की बात है । तुम्हारी भाभी के आज ही कल में बच्चा होने वाला है ऐसे समय राकेश मुझ से अलग होने जा रहा है और अम्मा उसके साथ रहेंगी ।"

विज्ञान विचार में पड़ गया । फिर कुछ सोचकर सिर खुजलाते हुए बोला—"बात सुनने में अच्छी नहीं लगी । लेकिन यह हुआ अच्छा । क्योंकि दोनों को अब अपने-अपने ढंग से उन्नति करने का अवसर मिलेगा ।"

वसंत यह कहने-कहते रुक गया कि हां, उन्नति भी कर सकते हैं और मिट भी सकते हैं । इसके बदले उसने कह दिया—"अपना-अपना दृष्टिकोण है भाई । दुनिया में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं है जो विधि के विधान के आगे सदा सिर झुका दिया करते हैं । मेरा कहना यह है कि कर्म पहले है—विधि का विधान बाद को । मेरी मान्यता यह है कि रचना पहले होगी, उसकी गहराइयों और उपलब्धियों के अनुसार किसी वाद या विचार-धारा का अनुसन्धान उसके पश्चात् ।"

विज्ञान हँसने लगा। बोला—"आज मैं तुम्हारे साथ बात करने योग्य नहीं रह गया। अब इस विषय में बात फिर कभी होगी। चार बजे के आये हुए हो। अब ग्यारह बज रहा है। मेरे सिर में दर्द हो रहा है। इस पर तुर्रा यह है कुछ खाया भी नहीं। अब मुझको कुछ खाने दोगे या नहीं, यह बताओ।"

वसंत पहले हँसा, फिर चल दिया।

आध घण्टे बाद जब वह लाल बाग से मॉडल हाउसेज़ के अपने घर पहुँचा तो मौलश्री छज्जे पर खड़ी-खड़ी उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। दरवाज़े के भीतर आकर पहले उसने कुण्डी बन्द की, फिर आँगन में उस स्थान को देखा, जहाँ अभी कुछ दिन पहले विवाह-स्तम्भ स्थापित था। दाएँ ओर के बरामदे की बत्ती जलाते हुए उसने देखा—जो कमरे सामान से भरे पड़े थे और खड़े होने को मुश्किल से जगह मिलती थी, वे सब ख़ाली हो गये हैं। एक स्थान पर कुछ ख़ाली शीशियाँ पड़ी हैं और दो-चार ग्लूकोज़ के डब्बे। एक पुरानी बहुत छोटी गोल मच्छरदानी। उसे ध्यान आ गया, अपने उस बच्चे का, जिसने केवल छै मास की आयु पायी थी। यकायक उसकी आँखों से आँसू आते-आते अटक गये। पैर कुछ भारी हो गये। सीढ़ी चढ़ने में उसे ऐसा कुछ अनुभव हुआ कि मनुष्य कुछ नहीं है। विधि का विधान ही सब कुछ है। वह सीढ़ी चढ़ता जाता था और सोचता जाता था—विधान का अस्तित्व तभी तक है, जब तक हम उसे स्वीकार करते रहते हैं। राकेश का यह विवाह मैंने जान-बूझकर किया था। और आज अभी अगर मैं राकेश के यहाँ पहुँच जाऊँ और कहूँ कि मैं अकेला नहीं रहूंगा। तुम मुझे विष दे सकते हो! पर घर से निकाल नहीं सकते और अम्मा से स्पष्ट कह दूँ कि सोफ़ासेट मैंने बेचा है, सीलिंगफ़ैन भी मैंने बेचा है और यह रुपया मेरे खाते में जमा है—मकान बनवाने के लिये; अपने लिये नहीं, राकेश के लिए। लेकिन इन सब बातों के लिये न मैं माँ के आगे गिड़गिड़ाऊँगा, न राकेश के सामने।

ऊपर जब वह मौलश्री के सामने पहुँचा, तो उसकी आँखों में आँसू देखकर बोल उठा—"क्यों ? क्या बात है ?"

मौलश्री ने उत्तर में सिसक-सिसककर रोना प्रारम्भ कर दिया।

वसंत कुछ नहीं बोला और चारपाई पर आकर लेट गया। थोड़ी देर में मौलश्री आँसू पोंछ-पाँछकर स्वामी के निकट जाकर बोली—"क्यों, खाना नहीं खाओगे ?"

वसंत ने उत्तर दिया—"अभी रोना और कुछ बाक़ी हो, तो रो लो !"

मौलश्री कुर्सी निकट खिसकाकर पास बैठ गयी और बोली—"अच्छा, मैं अब कभी नहीं रोऊँगी, तुम पहले खाना तो खा लो। आज अम्मा ने बड़े प्यार से बनाया था। पराठे बेलती जाती थीं और बीच-बीच में आँसू पोंछती जाती थीं। और दुलहिन ने चलते समय कहा था—'जीजी तुमको सब मालूम है, इनके अलग होने में मेरा कोई हाथ नहीं है। झगड़ा भाई-भाई में हो, तो हो ; लेकिन हम दोनों में तो कभी हो नहीं सकता।' मैं ऐसा कुछ जानती भी न थी। मैंने अम्मा को समझाया भी बहुत ; लेकिन उन्होंने यही कहा कि भैया ने जो चीजें, रास्ते से ही अलग करवा दीं, क्या उनको वह मुझसे माँग नहीं सकता था ?"

वसन्त ने हँसते हुए उत्तर दिया—"माँगने पर अगर वह दे सकती थी, तो अलग कर लेने या बेच ही देने में क्या अन्तर रहता है ? फिर अम्मा को पुराने हिसाब के और गहनों के देने के सम्बन्ध में मुझसे कहने की क्या ज़रूरत थी ! अगर वह इस प्रसंग को न उठातीं, तो क्या मैं उनको पचा जाता ! सारा झगड़ा तो इस बात का है कि राकेश इस विवाह के सम्बन्ध में सारा श्रेय अपनी प्रतिभा और योग्यता का मानता है। उसके निर्माण में मेरा जो हाथ रहा है, उसका महत्व उसके आगे कुछ भी नहीं है ! मैं तुम्हीं से पूछता हूँ—यह सब क्या है ! मुझमें कमज़ोरियाँ हैं; और कहीं-न-कहीं हर आदमी में होती

हैं। राकेश ने भिक्षुकों के भरण-पोषण के लिए जो संघ बनाया, क्या उसमें मैं सहयोग न करता ; लेकिन उसने कभी मुझसे इसकी चर्चा तक न की ! तात्पर्य यह कि छोटा होने पर भी, वह अपने को मुझसे बड़ा समझता है। यह मेरे मान की, गौरव और बड़प्पन की हत्या नहीं है ? जाने दो, इस बात को। अम्मा को मेरी अनुपस्थिति में इस घर से चले जाने की ऐसी क्या जल्दी थी, जबकि आज ही कल में उनको नाती देखने का अवसर मिलने जा रहा है ! तुम समझती हो कि मैं मूर्ख हूँ और दुष्ट हूँ और शायद कहीं पापी भी हूँ ; लेकिन मैं ऐसा नहीं समझता। और अभी क्या हुआ है ! राकेश अकेला रहे, अकेलेपन का अनुभव कर ले। ज़रा उसको दुनिया का अनुभव भी हो तो जाय !"

"अच्छा चलो, अब खाना खा लो चलकर।"

"तुम खा लो, मुझे भूख नहीं है ; बिलकुल नहीं है। लेकिन मेरे पीछे अगर तुम भूखी रहोगी, तो मुझे कष्ट होगा। क्योंकि इस समय तुम अकेली नहीं हो। तुम्हारे ऊपर गर्भस्थ शिशु की रक्षा का भी उत्तरदायित्व है। जाओ, खाना परोसकर ले आओ और यहीं मेरे सामने बैठकर खाओ। मैं देखता रहूंगा।"

बहुत दिनों के बाद आज वसन्त ने मौलश्री से इतने प्यार से बातें की थीं। यकायक उसके मन में आया—"मैं ऐसा नहीं जानती थी। ये अपने भीतर इन सब बातों को इस सीमा तक कैसे भरे रहते हैं !' वह कमरे से बाहर जा रही थी और उसे लग रहा था कि इन सब बातों को मैं इस ढंग से नहीं सोचती थी। बुरे-से-बुरे आदमी का भी एक भला पक्ष होता है।—मैं कभी इसकी कल्पना भी नहीं कर सकती थी ! वह खाना परोस रही थी और सोचती जाती थी‥‥ आज का दिन कुछ ऐसा मनहूस बीता है कि समझ में नहीं आता, क्या करूँ, क्या न करूँ !'

अब रात के बारह बज रहे थे। दूर—बड़ी दूर से रेल की सीटी,

कुत्तों के भूकने का स्वर, मोटर का हार्न और सिनेमाघर से निकले हुए दर्शकों का कोलाहल सुनाई पड़ रहा था। थाली परोसकर जब वह स्वामी के पास जा पहुँची, तो क्या देखती है कि एक रूमाल उनके हाथ में है; गुरु गम्भीर मुख, एक ओर एकटक दृष्टि, आँखें फैली हुई, अपलक और मौन।



: १७ :

गोमती-स्नान से लौटने पर दोनों समधिनों का आमना-सामना हो गया। राकेश की 'अम्मा' एकादशी और कला की 'ममी' वसुधा का।

एक के शरीर पर श्वेत मोटे कपड़े की बिना किनारीदार धोती, जिस पर ऊपर से एक साधारण-सी शाल ओढ़ ली थी, दूसरी के शरीर पर चौड़े किनारे की रेशमी बादामी रंग की साड़ी, जिस पर बेलदार गरमकोट पहन रखा था। एक के पैरों में खड़ाऊँ; दूसरी के ऊँची एड़ी का सैंडिल। एक का शरीर मानसिक तथा शारीरिक पीड़ाओं के आघात सहते-सहते क्लान्त हो रहा था; दूसरी के शरीर को अधेड़ अवस्था में भी, मधुर कल्पनाओं का साहचर्य उपलब्ध था। दोनों अपने-अपने धर्म-कार्य पूरे करके अपने-अपने घर की ओर लौट रही थीं। एक के हाथ में घंटी और दूसरी के एक हाथ में गुलाब के पुष्पों से ऊपर तक भरी हुई पीतल की डोलची लटक रही थी; दूसरे हाथ में एक देशी 'पशमी' कुत्ते के गले में बँधी हुई जंजीर सुशोभित थी।

समधिन के हाथ जोड़ने और उनसे आशीर्वाद प्राप्त करने के उपरांत वसुधा ने कहा—"बहुत दिनों से आपसे मिलने की इच्छा हो रही थी। और जबसे आप लोग दूसरे मकान में जाकर रहने लगे हैं; तब से तो और भी आपमें ध्यान रखा था। भगवान् ने आज अनायास ही मिला दिया।"

"सब कुशल से हैं?" एकादशी ने थोड़ा-सा मुस्कराकर समधिन द्वारा किये हुए सम्मान को स्वीकार किया, फिर पूछा—"घर पर तो सब कुशल से हैं?"

"आपके चरणों के प्रताप से सब कुशल हैं। नये मकान में कैसी निभ रही है ?" वसुधा ने पूछा।

चलते-चलते एक चबूतरे पर पीपल-वृक्ष के नीचे रखे हुए कुछ प्रस्तर-खंडों के ऊपर जल चढ़ाने के लिये एकादशी को रुकना पड़ा। वसुधा का कुत्ता घर पहुँचने को दूध-रोटी खाने के लिये मचल रहा था। उसकी ज़ंजीर झटककर वसुधा भी ठिठक गयी।

अपनी प्रतीक्षा में बैठे हुच प्रस्तर-देवों को जल-चन्दन और पुष्प-अक्षत से सन्तुष्ट करके आगे बढ़ते हुए एकादशी ने कहा—"निभने की क्या, यदि हम निभाने पर उतारू ही हो जायँ, तो फिर निभती ही चली जाती है। कल मकान बदल लिया है। अभी केवल मकान मालकिन और दो एक पड़ोसियों से ही परिचय हो पाया है। कुछ भी हो, जब अपना घर छूट गया, तो फिर दूसरा मुहल्ला भी परदेस समझ पड़ता है।"

"ख़ैर, यह बात तो ठीक ही है; लेकिन कौन अपने को एक ही मकान में ज़िन्दगी काटनी है ! जहाँ जीविका का साधन होता है, वहीं अपना घर बन जाता है। सुनती हूँ—आजकल कला बड़ी उदास-सी रहा करती है।" वसुधा ने वास्तविक प्रयोजन की भूमिका में कहा।

मां के सामने बेटी की चिन्ता के अतिरिक्त समधिन से बात करने के लिये और दूसरा उपयुक्त विषय हो ही क्या सकता है !

एकादशी इस आक्रमण के लिये तैयार न थी। आघात पाकर कुछ क्लान्त हुई। फिर कुछ सम्हलकर बोली—"उदासी के अतिरिक्त बेचारी को मिला ही क्या इस घर में ? न सास का प्यार, न ससुर का दुलार। न पुरखों के आशीर्वाद के रूप में दो चाँदी की चीजें। जो कुछ मायके से लाई है, वह भी एक-एक दो-दो करके छिना जा रहा है !"

"ख़ैर, गहने तो शोभा प्रतिष्ठा के अवसर के लिये होते हैं। चिन्ता तो रोज़ की रोटियों की है। और अपना घर होकर भी तुम्हारी

गृहस्थी क्या बनजारों की तरह इधर-उधर मारी-मारी फिरती रहेगी !" वसुधा ने वसन्त को अपना लक्ष्य बनाते हुए कहा ।

"मकान क्या ? है तो अपना बहुत कुछ ; लेकिन वह सब हिरन के सींगों में बँध चुका है । अब कौन हिरन को पकड़े और अपनी चीज पाये ।" एकादशी ने अपनी शंका स्पष्ट की ।

"तुम्हारे लिये तो दोनों बेटे बराबर हैं बहन ! कुत्ता और बिल्ली एक साथ लेकर चलनेवाले व्यक्ति को भी यह ध्यान रखना पड़ता है कि बिल्ली की चाल धीमी और कुत्ते की चाल तीव्र न हो जाय । जब आवश्यक समझता है. बिल्ली को आगे बढ़ाता है और कुत्ते की रस्सी को तानता है । तभी दोनों अपना जीवन बिता पाते हैं । आपकी उमर भी पचपन के आस-पास हो रही होगी । अपने जीवन में ही, जो जिसका है, उसको दे-दिलाकर छुट्टी पा लेती । अपने बाद फिर कौन जाने क्या हो ! वसुधा ने कहा ।

"बहन, सब मूड़ मार चुकी हूँ ; लेकिन वह तो कुछ सुनता ही नहीं । इतना आज्ञाकारी लड़का भीतर-ही-भीतर न जाने कैसा हो गया है !" एकादशी बोली ।

"अगर आप चाहें तो अभी कुछ बिगड़ा नहीं है । साल-भर के भीतर ही सब कुछ हो सकता है ।"

"यह कैसे ?" एकादशी ने पूछा ।

"उनको एक बार अदालत की हवा खिला दी जाय । सब ठीक हो जायगा ।" वसुधा ने समझाया ।

दोनों सड़क के बीचो-बीच बने हुए मन्दिर की सीढ़ियों के पास खड़े-खड़े बातें कर रही थी । एकादशी ने दो बूँद जल मुख में डालते हुए कहा—"बहन, अपने दोनों लड़कों को अदालत ले जाना तो मुझे पाप समझ पड़ता है । फिर राकेश तो ऐसी बात सुनना भी नहीं पसंद करेगा ।"

"तो फिर ठीक है, आप और आपके राकेश भले बने रहें । दूसरों

को क्या पड़ी है, जो और के मामलों में अपनी ओर से कूदता फिरे ! एक के चावल छीनकर इसी तरह दूसरा खीर उड़ाता रहे, हर्ज ही क्या है !"

"तो अदालत छोड़कर और क्या कोई दूसरा उपाय नहीं है। तुम तो उसके सामने कदाचित् कुछ न कहोगी। मेरा विचार है कि अगर हमारे समधीजी एक बार घुड़ककर समझायें तो वह राजी हो जायगा। उन्हीं के आश्रय में पल रहा है, हर बात में उन्हीं का सहारा पकड़ता है; उनकी बात टाल नहीं सकेगा।" एकादशी ने अपना विचार व्यक्त किया।

"अरे, आप समझती क्या हैं? क्या हम लोग चुप बैठे हैं? चाय के बहाने चार बार बाबूजी उसको बुलाकर समझा चुके हैं। खूब चाय उड़ती है, दोनों में खूब घुल-घुलकर बातें होती हैं, लेकिन जब गहना और मकान आधा-आधा बाँट देने की बात चलती है तो चुप हो जाता है। कहते थे कि बड़ा मक्कार आदमी है, बिना मुकदमा चलाये काम नहीं चलेगा"—वसुधा ने बताया।

"अब तक तो मैं उन्हीं का भरोसा किये बैठी थी कि वे बीच में पड़कर सब ठीक करा देंगे ; लेकिन जब वह उन्हीं की उपेक्षा करने का साहस करने लगा, तो जो वे उचित समझें सो करें।"

"और तुम कुछ न करोगी ?" वसुधा ने छेड़ा।

"मैं समधीजी और समधिनजी से अधिक बुद्धिमान थोड़े ही हूँ। फिर तुम भी तो राकेश की माँ ही हो। बेटी देकर बेटा खरीदा है। आप ही लोग उसके माँ-बाप हैं। जो उचित समझें सो करें। मुझे छुट्टी दी जाय !" एकादशी जैसे गिड़गिड़ा रही हो।

"आपकी छुट्टी, पूरी-पूरी छुट्टी। निश्चित होकर घर बैठिये। हम लोग सब ठीक कर लेंगे। लेकिन कुछ कष्ट तो आपको करना ही पड़ेगा।" वसुधा ने स्मरण दिलाया।

"वह क्या ?" एकादशी सकपकायी।

"दो कागज़ों पर दायें हाथ का अँगूठा।" वसुधा ने समधिन की मुद्रा को चतुर चिकित्सक की भाँति देखा।

एकादशी ने जैसे विष का कड़वा घूँट निगल लिया।

धूप काफ़ी फैल चुकी थी। दोनों समधिनें विपरीत दिशाओं में चल दीं।

वसुधा की बहुतेरी मान्यताएँ पुरातन थीं, यद्यपि थी वह उच्च वर्ग की वृद्ध नारी। कला को वह प्यार तो बहुत करती थी; परन्तु वह यह भी जानती थी कि कला का जेठ और जेठानी के साथ निभना दुष्कर है। यह भावना उसके मन में धीरे-धीरे इतना घर कर गयी थी कि उसको प्रकट करने के लिए वह अवसर की प्रतीक्षा करने लगी थी। राकेश घूमता-फिरता हुआ कभी कैलाश बाबू के यहाँ भी चला आता था। उसका विचार था कि इस प्रकार कला अपनी माँ से मिलने-जुलने का अवसर पाती रहेगी तो उसको कई-कई मास तक लगातार मेरे यहाँ रहना खलेगा नहीं।

लोग स्त्रियों को तो बड़ी शीघ्रता से कंकाला और घरफोड़न कह बैठते हैं, लेकिन अपनी करतूतों की ओर उनका ध्यान नहीं जाता। चौके में भोजन करती हुई वसुधा ने कहा।

"मम्मी, आपसे शपथ लेकर कहती हूँ कि मैंने अलग मकान लेकर रहने के लिये उन पर कभी ज़ोर नहीं डाला। मुझे न उस घर में कोई दुख समझ पड़ा और न इस घर में कोई सुख। जिस बात से सभी सुखी रहें उसी में मैं भी अपना सुख मानती हूँ। माँ तो बेचारी गऊ हैं, वे भी दो भाइयों की अलग-अलग गृहस्थी बनना पसन्द नहीं करतीं। लेकिन वे भी अपने छोटे बेटे से ही स्नेह रखती हैं और इसी स्नेह के परिणामस्वरूप वे उनके साथ रहने के लिये तैयार हुईं। पुराने घर से

जब उनका तुलसी का ममला ठेले पर लदने लगा, तब उनकी आँखों में आँसू भरे हुए थे।" कला ने पानी पीकर गिलास नीचे रखते हुए कहा।

"वही तो पूछती हूँ कि अलग रहना न तू चाहती थी और न तेरी सास। फिर यह वारा-न्यारा हो कैसे गया? क्या जेठानी का स्वभाव कुछ खरा है?"

"नहीं ममी, मैंने तो कभी तुमसे न जेठ के स्वभाव की शिकायत की और न जिठानी के। वे तो बेचारी रात-दिन जैसे किसी चिन्ता में घुलती रहती हैं। न उन्हें खाने से प्रेम है, न पहनने से। रात-दिन तुलसी का पूजन और व्रत-उपवास करने में ही अपना समय बिताती हैं।" कला ने उत्तर दिया।

"खैर, राकेश बाबू ने जो कुछ किया, सोच-समझकर ही किया होगा। किसी लालचवश उन्होंने पिता की देहरी छोड़कर अलग घर बसाया हो, ऐसा तो हो नहीं सकता। अच्छा, आजकल तू अपना हार नहीं पहनती?" वसुधा ने पूछा।

"ममी, कराया-धराया तो यह सब उसी हार ने है। हार गिरवी रखकर ही तो मकान की पगड़ी दी गयी है। नक़द रुपये दद्दा ने अम्मा को केवल ढाई सौ दिये थे, हिसाब कुछ नहीं दिया और कहा कि इतना ही बचा है। कहते थे कि जल्दी ही कोई नौकरी ढूंढ लेंगे और फिर सुगमता से नाव चल निकलेगी। साहस खोने की कौन-सी बात है। ममी, तुम्हारे हाथ की चीज़ देने में तो मेरा कलेजा कटने लगा था: लेकिन दूसरा चारा ही क्या था!"

"अच्छा तो नौबत यहाँ तक पहुँच गयी! हम क्या जानें? तुम्हारे पापा को कुछ मालूम तक नहीं हुआ। मैंने महीनों जोर डाला था; तब उन्होंने वह हार खरीदा था। मेरा विचार था कि एक-आध चीज़ तो अपने पास ऐसी ज़रूर होनी चाहिये कि जिसे चार आदमियों के सामने पहने रह सके। अब क्या? दो चार चीजें हैं, जो सब मिलकर भी हार

के बराबर न होंगी। सास से क्या कुछ मिला है? कुछ दबा हुआ अवश्य होगा। या मरते दम तक अपनी ही छाती से चपकाये रहेंगी?"

"ममी, क्या बताऊँ! वे तो बिलकुल दूसरे ही ढाँचे की बनी हैं। जैसे अपने दिन काट रही हों। गृहस्थी की ओर से तो बिलकुल आँखें मूँद ली हैं, भगवान् की कृपा से दो-दो लड़के हैं, बहुएँ हैं, लेकिन उन्हें मानो इन सबसे कुछ मतलब नहीं। अपना पूजा-पाठ ही उनके जीवन में मुख्य है। ममी, एक अंग्रेज विद्वान् का यह कथन तो मैंने तुम्हें सुनाया था कि भारतीय महिला को पुरुष-वर्ग की ओर से उतना कष्ट नहीं मिलता, जितना अपनी सजातीय सासों से। एक वे सासें होती हैं जो तिनके से काम के लिए भी बहू को अपने आदेश पर नचाती रहती हैं और एक हमारी सासजी हैं जो घर के काम से तिनका-भर भी प्रयोजन नहीं रखतीं। सब-कुछ बड़े लड़के के हाथ में सौंप रखा था। भरोसा इतना करती थीं कि वह जो कुछ भी स्याह-सफ़ेद करें, सब स्वीकार है।"

"लेकिन मैंने तो देखा है कि माताएँ प्रायः इस आशंका में रहती हैं कि बड़े लड़के की ओर से छोटे के साथ कोई अनर्थ न हो जाय। चौबीस घंटे बड़े ही लड़के को प्रताड़ित किया करती हैं कि तुमने छोटे के साथ यह कर दिया, वह कर डाला।" वसुधा ने कहा।

"ममी, ऐसा तो मैंने बाहर से कुछ भी नहीं देखा। मन के भीतर की भगवान् जाने। गृहस्थी का चाबी-ताला सब बड़े के ही हाथ में रहता था। वे तो कहती हैं कि जब ससुरजी ही चले गये तो हमें क्या करना है! दो रोटियाँ मिलती रहें; तुम सब सुखी रहो। ससुरजी सात हज़ार का गहना छोड़ गये थे; वह सब उस दिन से दद्दा के ही पास है। अब कहने लगे हैं कि वह सब बिककर छोटे की पढ़ाई में लग गया।"

"कोई समझदार आदमी बाप-दादों की कमाई की चीज़ें बेच-बेच कर अपने छोटे भाई की पढ़ाई का खर्चा चलायेगा! यह बात समझ

में नहीं आती और फिर घरवालों को पता भी न लगने पाये। हमें तो वसन्त बाबू की नीयत बुरी दिखाई पड़ती है।"

"ममी, खर्चा हो भी सकता है और नहीं भी। तुम इस विषय में उसी तरह चुप्पी साध जाओ, जिस तरह सासजी चुप होकर बैठ गयी हैं।" कला ने समझाया।

"लेकिन जीवन-निर्वाह के लिये तेरे गहने बिकें, यह भी तो मैं नहीं देख सकती। तुम्हारे पापा सुनेंगे तो मुझे भय है कि कहीं मस्तिष्क का संतुलन न खो बैठें।" वसुधा की आंखों के डोरे रक्ताभ हो उठे।

"ममी, फिर उपाय ही क्या है! मकान इन्होंने इतना अच्छा लिया है कि कभी अगर तुम आओ तो देखकर प्रसन्न हुए बिना न रहोगी।"

"बेटी, जब हम उपाय ढूंढने निकलेंगे तो बहुतेरे मिल जायेंगे। हमारी रोटियों पर पलनेवाला हमारे ही साथ अन्याय करने पर उतारू हो जाय यह मुझसे कभी सहन न होगा!" वसुधा ने कहा।

"ममी, यह सब किसके लिये कह रही हो?"

"अरे, उसी वसन्त के लिये, और किसके लिये? पदोन्नति के लिये साल में तीन सौ साठ दिन तुम्हारे पापा की देहरी की धूल लिये रहता है और पीछे-पीछे उन्हीं की बेटी की जड़ें काटा करता है। अगर वे चाहें तो पदोन्नति क्या, नौकरी भी छूट जाय! उनकी सब प्रोफ़ेसरी एक दिन में मिट्टी में मिल जाय!" वसुधा ने तमककर कहा।

"ममी, थोड़ी-सी बात के लिये अपनों से ही मनमुटाव कर लेना क्या ठीक होगा? अपने ही चार आदमियों के बीच अपनी हँसी होगी।" कला ने समझाया।

"सो मैं भी नहीं चाहूँगी। तुम्हारे पापा से कहूंगी कि एक बार वसन्त को ठीक से आगा-पीछा समझाकर रास्ते पर ले आवें। यदि उसने उनकी बात टाल दी, तो जो कुछ बुरे-से-बुरा बन पड़ेगा, उसके साथ किया जायगा। यह तुम्हारी जिठानी जो बड़ी भगतिन

बनती है, उसे दूसरे का हक़ मारने में कोई संकोच नहीं होता ! भगवान् ने अभी ही किसी लायक नहीं रखा है, आगे क्या होगा !"

"ममी, वे तो सचमुच देवी हैं। उन्हें अपने पति की यह बात हृदय से पसंद नहीं है। उनका बस चले तो प्रत्येक वस्तु के दो भाग करके फेंक दें।" कला बोली।

"तो क्या सचमुच वे इस मामले में तुम्हारे जेठ का साथ नहीं देना चाहते।" वसुधा ने पूछा।

"ममी, उनके मन की बात तो मैं भीतर-बाहर से भली-भाँति जानती हूँ। वे तो कहती हैं कि हमारा ही हमको मिल जाय, दूसरों का हमें कैसे पच सकेगा ?" कला ने बतलाया।

सुदूर भविष्य के सम्बन्ध में कोई निश्चय करती हुई वसुधा चौके से बाहर निकल आयी।

इसी समय कुछ ऐसा जान पड़ा, जैसे कोई आदमी बैठक के पास खड़ा हुआ स्वामी के सम्बन्ध में पूछ रहा है—'वे कब मिलेंगे ?'

तब उसने कला से कह दिया—"कला जरा बाहर देख तो सही, कौन आया है ?"

कला जो बाहर गयी तो एकदम से लौट पड़ी और निकट आकर बोली—"ममी, जान पड़ता है, ताऊजी आये हैं।"

तब वसुधा ने बाहर की घण्टी बजा दी। माली जब भीतर आ गया, तो वसुधा ने उससे कहा—"तुम बड़े उल्लू हो ! तुमने भीतर आकर क्यों नहीं बतलाया कि हमारे समधी आये हैं ?"

उसने सिटपिटाते हुए कह दिया—"माँजी, मुझको तो कुछ मालूम था नहीं और मैंने जब पूछा तो उन्होंने अपना नाम भी नहीं बताया। इसमें मेरा तो कोई कसूर है नहीं।"

"जाओ, बैठक खोलकर उनको आदर से बैठाओ और वह पीतल-वाला तसला ले जाकर उनके पैर धोओ। अरी कला, देखती क्या है, खाना तो खत्म हो गया है। झट से स्टोव जलाकर खाना तैयार कर

दे। मैं तब तक चाय बना रही हूँ। लेकिन केवल चाय से क्या होगा ?—कथन के साथ वह फोन पर जा पहुँची और ऊष्मा को रिंगकर बोली—"ऊष्मा बिटिया, इस समय अभी मेरे समधी इलाहाबाद से आ गये हैं और वे आफ़िस से लौटे नहीं। खैर ! सम्भव है, उनको लौटते-लौटते देर भी हो जाय। इसलिये तू झट से चली आ। और देख, चौधरी की दुकान से थोड़ा नमकीन और डब्बे में सेर-भर मिठाई भी लेती आ बेटी। वैसे मैं मिश्राजी को फ़ोन कर रही हूं। पर अच्छा हो, उनके आने से पहले ही समधीजी के स्वागत-सत्कार की सारी व्यवस्था हो जाय। कोई उनके पास बैठनेवाला भी तो होना चाहिये।"

माली जब बिरजू बाबू के पैर धोने लगा, तो सोफ़े पर बैठे हुए वे सोचने लगे—"हमने जीवन में कुछ नहीं किया ! एक ये लोग हैं, जो इसी धरती को स्वर्ग बनाये हुए है !"

अभी सरदी समाप्त नहीं हुई थी। दोपहर में भी स्नान करने में गरम पानी ही अच्छा लगता था। इसलिये पैर धोने में गरम पानी का ही प्रयोग किया गया, तो बिरजू बाबू कहने लगे—"इस मौक़े पर तुमको देने के लिये मेरे पास एक अठन्नी ही बची है। वैसे देना तो एक रुपया चाहिये था। क्या बतलाऊँ, मैं अपना कोट वसन्त के यहाँ ही छोड़ आया ; यह तो इत्तिफ़ाक़ था कि अठन्नी निकल आयी।"

माली हँसने लगा। बोला—"सरकार जो आपके हाथ से मिल जाय वही सोना है।"

"तुम्हारा नाम क्या है माली ?"

माली हँस पड़ा। बोला—"मेरा नाम तो सिर्फ मालीराम है। लेकिन लोग मुझे माली ही कहते हैं। वैसे बप्पा ने वनमालीराम रखा था। फिर बड़े लोगों ने शुरू का 'वन' शब्द काट कर मालीराम रख छोड़ा। अब राम भी कट गया। माली ही रह गया हूं !"

बिरजू बाबू सोचने लगे—"बड़े बुरे मुहूर्त से चला हूं। कैलाश बाबू घर में नहीं हैं। यहाँ बात भी करूँ तो किससे !"

माली चला गया। थोड़ी देर में कला मस्तक के ऊपर, बल्कि और भी नीचे नासिका के ऊपर तक अवगुंठन डाले चाय की प्लेट लेकर आ पहुँची। ब्रजनन्दन बाबू ने देखते ही समझ लिया—बहू है। कला छोटी टेबिल पर चाय की प्लेट रखकर भीतर लौट ही रही थी कि ऊष्मा आ पहुँची। वह दो प्लेटों में मिठाइयाँ और नमकीन लिये हुए थी। आते ही हँसती-हँसती बोली—"अहोभाग्य ताऊजी कि अनायास आपका दर्शन प्राप्त हो गया। कहिये, सब लोग मजे में हैं न ? हमारी बड़ी अम्मा कैसी हैं ? आजकल तो आपके यहाँ बहन के विवाह की तैयारियाँ चल रही होंगी।"

ऊष्मा की इतनी-सी बात से बिरजू बाबू की बाछें खिल गयीं। बोले—"हाँ बिटिया। बात तो कुछ ऐसी ही है। तुम्हारी बड़ी अम्मा को काम से फ़ुरसत नहीं मिलती। कल जब मैं चला था, तब उनकी साँस बढ़ी हुई थी। दवा का प्रबन्ध कर आया हूँ। कैलाश बाबू तो क्या देर में आयेंगे ? वैसे तो मैं न आता, आने का कोई संयोग ही न था ; लेकिन राकेश की माँ को और बड़ी बहू को इस अवसर पर लेने आया हूँ। चाहता तो मैं यह भी था कि छोटी बहू को भी लेता चलूँ, लेकिन फिर राकेश को कष्ट होगा और सबसे बड़ी मुश्किल यह है कि बड़ी बहू भी न जा सकेगी। उसके भी बच्चा हुआ है। अब तो दोनों भाई अलग-अलग हो गये हैं।"

"हाँ, हो गये हैं। ताऊजी यह तो घर-घर की बात है। पुराने ज़माने की बात दूसरी थी, आज की बात और है। अलग होने में ही आज व्यक्ति को स्वतंत्ररूप से उन्नति करने का अवसर मिलता है। पहले का समाज वैयक्तिक उन्नति को विशेष महत्व नहीं देता था। घर में अगर एक भी योग्य व्यक्ति पैदा हो जाता, और किसी अच्छे धन्धे में लग जाता, तो बाक़ी सब निश्चिन्त होकर खाया करते थे।"

"कहती तो ठीक ही हो, लेकिन अभी साल-दो-साल राकेश अलग न होता, तो अच्छा था। मैं दोनों से मिल चुका हूँ। दोनों की बातें भी सुन चुका हूँ। राकेश का कहना तो ठीक है कि मुझे धोखा दिया गया है। लेकिन वैसे वसन्त भी कोई बुरा आदमी नहीं है। एक दिन आयेगा, जब राकेश उसको समझ जायगा, अभी वह उसे समझा नहीं है।"

जिस समय बिरजू बाबू यह बातें कर रहे थे, उस समय किवाड़ की ओट में खड़ी कला सब सुन रही थी। उसके मन में आया कि साफ़-साफ़ कह दे—इनका स्वार्थ इसी बात में है कि मेरे घर में आयें, तो दद्दा की बुराई करें, और उनके घर में जायँ तो इनकी बुराई करें। अगर आज मैं न इनके यहाँ जा सकती, तो इस समय इनकी बातों का रुख दूसरा होता।"

इसी समय ऊष्मा बोल उठी—"ताऊजी, आप मुझसे बहुत बड़े हैं, मैं बच्ची हूँ आपकी। लेकिन राकेश भैया को समझना बड़ा कठिन है।" इतने में मिश्राजी आ गये। बिरजू बाबू ने देखते ही उन्हें पहचान लिया और साथ ही कह दिया—"बिटिया के विवाह की तैयारियों में लगा हूँ। राकेश की माँ को लेने आया हूं। सोचा—यहाँ का भी हाल-चाल लेता जाऊँ और कैलाश बाबू के दर्शन भी कर लूँ।"

मिश्राजी बोले—"वह आ रहे हैं, दस ही पाँच मिनट के अन्दर। अभी फ़ोन से उन्होंने बताया कि राकेश को सचिवालय में एक अस्थायी जगह मिलने का प्रबन्ध हो गया है। यूनिवर्सिटीवाली नियुक्ति तो जल्दी नहीं हो सकी, पर तब तक के लिए सचिवालय में काम मिल गया है। ढाई सौ रुपए मिलेंगे, क्या बुरा है ? खर्चा तो चलेगा।"

बिरजू बाबू ने चाय समाप्त कर दी थी। बोले—"चलो, यह आपने अच्छा समाचार सुनाया। क्या बात है, कैलाश बाबू की ! वे पुरुष नहीं, पारस हैं; जिसको छू दें वही सोना हो जाय !"

अब कैलाश बाबू की कार बँगले के भीतर आ रही थी और हार्न का स्वर सुनाई पड़ रहा था।

: १८ :

एक दिन प्रातःकाल कैलाश बाबू ने अपने पड़ोसी वकील श्री अमरनाथ गर्ग को स्मरण किया। चाय-पान के उपरांत पानों को वकील साहब की ओर बढ़ाते हुए कैलाश बाबू बोले—"आपको एक विशेष प्रयोजन के लिये आज कष्ट दिया है।"

वकील साहब उत्सुकता से उनके मुख की ओर निहारते हुए सोचने लगे—"सरकारी आदमी हैं; इन्हें मामले-मुकदमों से क्या प्रयोजन? पहले भी कभी किसी झंझट की चर्चा नहीं की। तब मुझसे क्या विशेष प्रयोजन हो सकता है?" फिर बोले—"कैसा प्रयोजन? मेरे बड़े भाग्य होंगे; यदि मुझसे आपका कोई काम बन जाय। इतने दिन हो गये; आपने तो कभी कोई आज्ञा ही नहीं की, जो मुझे सेवा का अवसर मिलता।"

कुछ सोचते हुए कैलाश बाबू ने कहा—"कभी कोई ऐसा काम पड़ा ही नहीं; जो आपको कष्ट देता। अब सामने आया है तो आप ही याद आये। यह जो आपकी लड़की कला है.........।"

"तो क्या उसी की ससुराल में कुछ गड़बड़ है।" वकील साहब ने अपनी उत्सुकता दिखलाते हुए कहा।

"हाँ, उन्हीं लोगों में कुछ आपसी मतभेद है। वसन्त को तो आप जानते ही होंगे?" कैलाश बाबू बोले।

"क्यों नहीं? कला के विवाह के पहले से ही आपने उनकी अनेक

बार चर्चा की थी ; फिर विवाह के अवसर पर भी कई बार उनसे आमना-सामना हुआ था। तब से प्राय: उन्हें आपके यहाँ आते-जाते देखता हूँ।" वकील साहब बोले।

"हाँ, वे ही वसंत बाबू। रिश्तेदारी की बात है ; न इधर की कहते बनती है, न उधर की। लेकिन कला पर बन आयी है ; इसी-लिये इस मामले में हाथ डालने को विवश होना पड़ रहा है।" कैलाश बाबू ने बतलाया।

"अच्छा तो स्थिति क्या है ? क्या दावा दायर करना पड़ेगा ?" वकील साहब ने पूछा।

"अब जो उचित समझ पड़े सो कीजिये। मुझसे तो कुछ कहते नहीं बनता। बात कुछ बड़ी नहीं है ; लेकिन यदि एक के लिये बड़ी है, तो दूसरे के लिये भी उसका महत्व कम नहीं है।" कैलाश बाबू ने कहा।

"क्या कोई पुश्तैनी जायदाद है ?"

"हाँ, कुछ नक़द गहनों का झमेला है। अब राकेश अलग रहने लगा है। कला की मम्मी कहती है कि कला को घर रखने के लिये ठिकाना तो हो जाय और उसके हिस्से के गहने भी उसको मिल जायँ !" कैलाश बाबू ने बताया।

"तो दावा किसकी ओर से किया जाना चाहिये ?" वकील साहब ने पूछा।

"यह तो भली प्रकार आप ही समझ सकते हैं।" समधिनजी मामले-मुकदमे के लिये इच्छुक ही नहीं होती थीं। किसी प्रकार कला की माँ ने तैयार कर लिया है।" कैलाश बाबू ने स्थिति बतलायी।

एकादशी की ओर से न्यायालय में दावा दायर किया गया। एक सप्ताह के उपरांत प्रातःकाल चाय के अवसर पर पड़ोसी वकील साहब बिना बुलाये ही आ धमके। बोले—"दावा तो कल दायर कर दिया। समधिनजी को भी थोड़ी-सी अदालत की सैर करा दी।"

"अच्छा, क्या लिख दिया है?" कैलाश बाबू ने उत्सुकता प्रकट की।

"पहले चाय उड़ जाय, तब बातचीत आगे बढ़े।" वकील साहब ने माँग की।

"अच्छा, यही सही।"

चाय पीते-पीते वकील साहब ने एक मुड़ा कागज़ कैलाश बाबू की ओर बढ़ा दिया, यह अर्जी-दावे की प्रतिलिपि थी। कैलाश बाबू ने आद्योपान्त पढ़ा। फिर बोले—"आख़िर अपनी वकालत दिखा ही डाली!"

"वह क्या?"

"वह यह कि गहनों का मूल्य ग्यारह हज़ार रुपये लिखा है, मैंने तो सात हज़ार बताये थे।" कैलाश बाबू बोले।

"सो तो समधिनजी ने भी बताये थे; लेकिन सही बात लिख देने से समुचित रुपये की डिग्री थोड़े ही मिल जाती है। ग्यारह हज़ार के दावे में शायद ही सात-आठ हज़ार रुपये आपको मिल सकें! अचल सम्पत्ति का पक्का प्रमाण ही क्या है?

"तो समधिन जी राज़ी कैसे हुईं।"

"उनको राज़ी करना कौन-सी बड़ी बात थी। उन्हें मालूम तक नहीं होने पाया।"

"धन्य हो वकील साहब!" स्तुति के साथ कैलाश बाबू ने उनसे अपना पिंड छुड़ाया।

इतनी सारी खिचड़ी पक गयी और राकेश हवा ही खाता रहा।

सब कुछ शान्तिपूर्वक यथाक्रम चल रहा था। अर्जी-दावे और वकालत-नामे के दो काग़ज़ों पर दायें हाथ के अँगूठे की छाप देकर एकादशी

ने इस ओर छुट्टी पा ली थी। मुकदमे की पैरवी अकेले वकील साहब कर रहे थे। एक दिन सायंकाल राकेश जो घर लौटा तो कोट उतारकर चारपाई पर फेंका और पेंट की बटनें खोलते-खोलते एकादशी पर बरस पड़ा। बोला—यह सब क्या हो रहा है, अम्मा ?"

"क्या हो रहा है रे ?" एकादशी सकपकायी।

"तुमने भैया पर कोई दावा दायर किया है ?"

"कैसा दावा ? तुझसे किसने कहा ?"

"अभी-अभी भैया रास्ते में मिले थे। मैं ट्यूशन करके लौट रहा था। शायद मुझसे मिलने के लिये ही उधर चक्कर काट रहे होंगे। बोले—'माँ को खूब पट्टी पढ़ा रखी है।"

"मैंने कह दिया—"कैसी पट्टी !"

"तब वे कहने लगे—"बड़े भोले बनते हो ! माँ को भड़काकर दावा करा दिया है। देखूंगा, कैसी हुंडी भुनाते हो !"

"मैंने पूछा—"कैसा दावा ? किसका दावा ? किस पर दावा ? मैंने भी अकड़कर कह दिया—मुझे कुछ नहीं मालूम।"

"तब वे बोले—"घर चलो तो तुम्हें अर्जीदावे की नक़ल दिखा दूँ।"

"मैंने कहा—"अच्छा, माँ से जाकर पूछूँगा कि यह क्या षड्यन्त्र है !"

कहने लगे—"दो तारीखें पड़ चुकीं और तुम्हें वसन्त की खबर ही नहीं !"

एकादशी मन-ही-मन दृढ़ बनकर कुछ साहस संचित करती हुई राकेश के मुँह की ओर देखने लगी।

राकेश ने पूछा—"तुमने यह सब-कुछ कर कैसे डाला ? मुझसे चर्चा तक नहीं की। कौन अगुआ बना है, इस मामले में ?"

एकादशी झिझकी। बोली—"हमारे मामले में कौन अगुआ बनने आयेगा। कोई अगुआ ही बनने को तैयार हो जाता, तो यह दुर्दिन ही क्यों आते ! अगुआ और पिछुआ जो कुछ हैं ; हमी ही हैं।"

"अच्छा तो यह कहो, गोमती नहाते और तुलसी पूजते यही कतरनी चला करती है चौबीसो घण्टे तुम्हारे मन में ! तुमसे इन सब बातों से क्या मतलब था ? जो भूखा मरता, वह स्वयं अपनी फ़िक्र कर लेता ।" राकेश का क्षोभ सीमा के निकट जा रहा था ।

"लेकिन आँख तो भगवान् ने औरों को भी दी है। सब अपने-अपने ढंग से देखते हैं ।" एकादशी बोली ।

"देखते रहें । लेकिन अम्मा, तुमने यह अच्छा नहीं किया !"

"भगवान् अपने आप अच्छे का बुरा और बुरे का अच्छा परिणाम निकाल देते हैं ।" एकादशी बोली ।

राकेश का संदेह दूर नहीं हुआ । स्पष्ट था कि चाबी कहीं अन्यत्र से घुमायी गयी है । प्याले की चाय समाप्त करते हुए अपने कमरे की ओर झपटा । कला पैर के ऊपर पैर रखकर चारपाई पर बैठी थी । माँ-बेटे की आवेशपूर्ण बातचीत से क्रोशिये पर चलते हुए दोनों हाथ सहसा रुक गये थे । राकेश ने कमरे में घुसते ही पूछा—"तो यह सब पापड़ आपके ही ही बेले हुए हैं ?"

कला मानो आक्रमण का सामना करने के लिये तैयार बैठी थी । तुरन्त बोली—"जी हाँ, आपने बिलकुल ठीक समझा ।"

"क्या मतलब ?"

"मतलब यही कि त्याग और विरक्ति दुनिया में केवल आप ही ने सीखी है ।"

"बेकार की बातें न करो ; साफ़-साफ़ बतलाओ, क्या बात है ?"

"तो तुम्हारा सारा सन्देह मुझ पर है ?

"अवश्य है । तुमने ही अपने माता-पिता के कान भर-भरकर ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी है कि आज मुझे रात-भर नींद न आयेगी !"

"आज का कोई समझदार आदमी केवल कान भर देने से ही क्रिया-

शील नहीं हो जाता। सब अपनी बुद्धि से सोचते और अपनी आँख से देखते हैं। कोई किसी से पूछ-पूछकर मुँह में कौर नहीं देता।"

"मगर उनका इससे क्या अहित हो रहा था ?"

"जिनके हित के लिये वे जी रहे हैं ; उनसे उनका कुछ सम्बन्ध भी होगा।"

"हमारे परिवार की नाक कटवाकर उन लोगों ने हमारा क्या हित किया है ?"

"उन्होंने तुम्हारे परिवार की नाक काटी है या जोड़ी है, यह तो वे ही जान सकते हैं, या दुनिया स्वयं कह देगी।"

"बिना मुझसे पूछे हमारे नाम से इतना सब बवंडर उठा देने की उन्हें क्या आवश्यकता थी ? राकेश की मुट्ठी कस गयीं।

"अब कभी जाऊँगी तो पूछूँगी।" कला के उत्तर में भी गरमी कम न थी।

राकेश आगे बात करने का साहस न कर सका।

इसी समय एकादशी वहाँ आ पहुँची। दृढ़ता से संदूक पर बैठ गयी और बोली—"दुलहिन पर मत बिगड़ो। जो कुछ कहना है, मुझसे कहो। न्याय के मामले में बड़े-छोटे का प्रश्न ही नहीं उठता। जो दोषी है, मैं दस बार कहूँगी और दस हजार बार कहूँगी कि दोषी है। इसमें नाक लड़नेवाले की नहीं, उसीकी कटती है, जो अपराधी होते हुए भी उसकी बात उठने पर झुकना और लज्जित होना दूर रहा, ऊपर से गुर्राता और आँखें दिखाता है। ऐसे आदमी को क्षमा कर देना कायर का काम है। जो आदमी परिवार की ज़िम्मेदारी रखते हुए अपने अधिकार के लिए लड़ने से हिचकता है, वह उससे भी बड़ा कायर है ! जीवन में आज पहली बार मुझे तेरी कायरता देखने का अवसर मिल रहा है। मैं तुझसे कभी ऐसी आशा नहीं करती थी। फिर जो कुछ कहना हो, मुझ से कह। निरपराध दुलहिन को अगर फिर कभी तूने इस तरह डाँटा, तो मेरा क्या होगा, यह भगवान् ही जानता है !

बात पूरी करती-करती जब एकादशी रो पड़ी, तो राकेश ने पराभूत होकर उसके चरणों पर सिर रख दिया। टप-टप आँसू गिरने लगे और एकादशी के चरण भीगने लगे।

तब एकादशी ने अपने आँसू पोंछते हुए राकेश को कण्ठ से लगाते हुए कह दिया—"बस-बस, बहुत हो चुका। अब शपथ ले कि अच्छी तरह बिना सोचे-समझे किसी को कभी कटुवचन नहीं कहेगा।"



: १९ :

कैलाश बाबू जब कभी बाहर से आते, तो सीधे भीतर आकर वसुधा से यही पूछते थे—"कहो, कोई विशेष बात ?"

उस दिन भी ऐसा ही हुआ। तब वसुधा ने हँसते-हँसते कह दिया—"समधीजी आये हैं।"

"अच्छा !" कुछ आश्चर्य से कैलाश बाबू बोले। ऊष्मा बिरजू बाबू से मिलकर भीतर लौट रही थी और कला मटर की फलियाँ छील रही थी। थाली में आलू-गोभी छिला-कटा रखा हुआ था। और साथ में अदरक और टमाटर भी था। ऊष्मा बोली—"जब साग आधा पक जाय, तब उसमें दस दाने किशमिश और काजू के भी छोड़ देना। बिरजू बाबू लौटकर घर जायँ, तो आतिथ्य-सत्कार की चर्चा आने पर अपनी कुछ प्रतिक्रिया तो व्यक्त करें। प्रसाद रूप में दो-चार बातें चाचीजी को भी सुना देंगे, तो मजा पैदा हो जायगा।"

कुछ संकोच के साथ कला बोली—"घर में अक्सर ताऊजी की चर्चा होती रहती है। अम्मा कहा करती हैं—वे इतने सीधे हैं कि कुछ छिपाना तो जानते ही नहीं। पर यह विवेक उनमें सदा बना रहता है कि तुलनात्मक दृष्टि से अधिक लाभ और आनन्द की वस्तु कौन-सी होगी और उसकी उपलब्धि में कौन-सी बात अधिक सहायक होगी। न तो इस विषय के प्रकट करने में उन्हें अपनी आत्म-प्रतिष्ठा का ध्यान रहता है न गौरव का। कदाचित् वे जानते ही नहीं कि प्रत्येक

इच्छा प्रकट करने की नहीं होती और उपलब्धि की प्रतीक्षा भी की जाती है।"

कैलाश बाबू अपने विश्राम-कक्ष में पहुँचकर वस्त्र बदल चुके थे और बैठक की ओर जा रहे थे। बिरजू बाबू ने जो उन्हें जाते हुए देखा तो वे उनके सम्मान में बिना कुछ सोचे उठकर खड़े हो गये। अवस्था में वे कैलाश बाबू से छोटे भी थे। इसके अतिरिक्त कैलाश बाबू की मान्यता थी कि सांस्कृतिक कृत्यों को छोड़कर प्रत्येक अवसर पर पैर छूना कोई विशेष महत्व की बात नहीं। अतएव उन्होंने हाथ जोड़कर नमस्कार करते हुए कह दिया—"बड़ी कृपा की आपने! इलाहाबाद से सीधे आ रहे हैं या घर हो आये ?"

बिरजू बाबू हँसते-हँसते बोले—"पहले तो घर ही जाना होता है भाई साहब! फिर इधर तो राकेश ने अपना घर भी बदल लिया है। इसलिए वसन्त के यहाँ ही पूर्ववत् गया था; फिर राकेश के यहाँ भी हो आया था। बल्कि दरवाज़े तक वसन्त भी साथ गया था।"

कैलाश बाबू पहले तो चुप रहे, फिर कहने लगे—"हाँ, मुझे इस बात का बड़ा खेद हो रहा है कि राकेश ने बड़ी जल्दबाज़ी की। कुछ भी हो, लोकमत भी एक वस्तु होती है। जब हम एक समाज में रहते हैं, तो उसकी ओर देखकर चलना पड़ता है। आपस के झगड़ों में मेरा हस्तक्षेप करना भी उचित नहीं। लेकिन समधिनजी की राय कुछ ऐसी पड़ी और इधर हमारे घर में भी आपकी समधिन को वसन्त का व्यवहार सहन नहीं हुआ। परिणाम यह हुआ कि झगड़ा न्यायालय में जा पहुँचा है।"

"न्यायालय में जा पहुँचा है! अच्छा! वसन्त ने यह बात मुझको नहीं बतायी।"

"न बतायी होगी। बतलाने में कोई गौरव भी नहीं है। कुछ भी हो, यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि यह सम्बन्ध वसन्त की इच्छा से हुआ है।"

"देखो भाई साहब, बात दो टूक कहनी पड़ेगी। वसन्त की इच्छा से यह सम्बन्ध नहीं हुआ। मेरी इच्छा से हुआ है। आपको पता नहीं कि वह इस सम्बन्ध का विरोधी था। मैंने तो वह चिट्ठी राकेश को दे भी दी, जिसमें उसने इस सम्बन्ध के प्रति अपनी उदासीनता दिखायी थी। बल्कि यह साफ़-साफ़ लिख दिया था कि सोच-समझकर क़दम रखने की जरूरत है।"

बिरजू बाबू की इस बात ने कैलाशबाबू को आश्चर्य में डाल दिया। यकायक उनके मुँह से निकल पड़ा—"अच्छा! यह बात मुझ को किसी ने नहीं बतलायी।"

बिरजू बाबू बोले—"बात असल में यह हुई कि जिस दिन उसने ऐसा पत्र मुझको लिखा था, उस दिन, मैं यहाँ आ चुका था। फिर मैं जब यहाँ से लौटा तो आपसे सम्बन्ध करने की सब बातें तय हो चुकी थीं। तब वह पत्र मुझे घर पर देखने को मिला था।"

कैलाश बाबू ने पूछा—"अच्छा, क्या आप बता सकते हैं कि यह किस दिन की बात है? अच्छा ठहरिए!" कथन के साथ अन्दर जाकर उन्होंने पहले वसुधा से पूछा और फिर हिसाब की कापी में गरम कपड़ों को खरीदने में गोपी लाला को जो रुपया दिया था, उसकी तारीख देखकर लौटते हुए कहा—"ठीक है, ठीक है। अब सब बात मेरी समझ में आ गयी।"

उन्होंने बिरजू बाबू को तो नहीं बतलाया किन्तु इतना अवश्य समझ लिया कि यह पत्र वसन्त ने इस तारीख़ के पूर्व लिखा होगा। क्योंकि उसने स्वयं मुझसे राकेश की बुराई की थी। पत्र लिख देने के बाद जब मैंने उसे गरम सूट बनवा दिया, तो उसका विचार बदल गया होगा। बड़ी विचित्र बात है। वे हँसते-हँसते बोल उठे—"दोनों के दृष्टिकोणों में धरती और आकाश का अन्तर है। जहाँ राकेश गम्भीर, उदार और त्यागी है, ठीक वहीं वह भोगवादी, स्वार्थी और साथ ही कपटी भी है। बड़ी कठिनाई यह है कि मैं किसका पक्ष लूँ! राकेश मेरा दामाद

अवश्य है, किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि मैं उसके स्वाभिमान को कभी छू नहीं सकता। आघात पहुँचाने की तो बात ही अलग है। वसन्त जितना भेदाभेद मानता है, उतना यदि मैं मानता, तो वसन्त यह सम्बन्ध होने ही न देता। आपके इस कथन से भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। मैं जानता हूँ, जो सामान हमने दिया है; उसको देख-देखकर वसन्त के मन में यह बात अवश्य आयी होगी कि इसके उपभोग का वास्तविक अधिकारी तो राकेश है। अपने घर में वह 'टेबिल-फ़ैन' से काम चला लेता है। इसलिये उसने 'सीलिंगफैन' बिकवा लिया—घर भी न जाने पाया। और 'सोफ़ा-सेट' के लायक तो उसका घर ही नहीं है। अलग भी रहेगा तो 'सोफ़ा-सेट' ख़रीदने लायक परिस्थिति बनाने में राकेश को अभी कई वर्ष लग जायेंगे। इसीलिए उसने 'सोफ़ा-सेट' बिकवा लिया! और, अब मेरा अनुमान है कि उसने एक अच्छी रक़म मार दी होगी।"

जब यह सब बातें कैलाश बाबू कह चुके तो यकायक बहुत गम्भीर हो उठे। सोचने लगे कि यह सब मैं क्या बक गया! अगर बिरजू बाबू इस चिट्ठी की बात मुझे न बतलाते, तो वसन्त पर मुझे इतना आवेश भी न आता। क्या इसका यह अर्थ नहीं कि कहीं-कहीं मैं स्वयं वसन्त हूँ! जहाँ तक प्रतिक्रिया का सम्बन्ध है, मानव-प्रकृति सर्वत्र एक-सी होती है।

इतने में बिरजू बाबू बोले—"एक बात और है भाई साहब! वसन्त व्यावहारिक बिलकुल नहीं है। आपने सुना ही होगा—उसके लड़का हुआ है। अगर उसके हृदय में अपनी मां के लिये श्रद्धा होती तो ऐसे अवसर पर सारे वैर-विरोध को ताक में रखकर उन्हें ज़रूर घर लिवा ले जाता और उनका सम्मान करता। लेकिन जान-बूझकर उसने ऐसा नहीं किया। और, मैं तो यहाँ तक कहने को तैयार हूँ कि नाती होने की बात सुनकर भी राकेश की मां जो वहाँ नहीं गयी, यह बहुत अच्छा हुआ। उसने बहुत धीरज और हिम्मत से काम लिया। कभी-

कभी तो मैं यह भी सोचता हूं कि ये गाँठें जो पड़ती जा रही हैं, जल्दी खुलनेवाली नहीं हैं। मुझे डर है कि यह दोनों भाई यदि मेरे यहां बिटिया के ब्याह में आये तो कहीं वहां भी झगड़ा-झंझट न होने लगे !"

कैलाश बाबू हँसने लगे। बोले—"डरने की कोई बात नहीं है, बिरजू बाबू। क्योंकि राकेश प्रकृत्या इतना मनस्वी है कि आपके यहां दोनों की अनबन का किसी को पता भी न चलेगा।"

अब बिरजू बाबू ने जेब से एक हल्दी की गाँठ निकालकर कैलाश बाबू को देते हुए कह दिया—"लीजिये भाई साहब मेरा निमन्त्रण। एकादशी के शुभ मुहूर्त में तो हैं भाँवरें, और द्वादशी के दिन होगा भात। तेरस को पक्की और उसी दिन मंडप व विदा-विदाई।"

हल्दी की गाँठ हाथ में लिये हुए कैलाश बाबू विचार में पड़ गये और चुपचाप भीतर जाकर वसुधा से कहने लगे—"लो, यह समधी साहब का निमन्त्रण। इस सम्बन्ध में जो कुछ करना हो, उसकी तैयारी करो। इसी एकादशी को पाणिग्रहण संस्कार होगा।"

वसुधा हँसने लगी। बोली—"समधी साहब आखिर हैं तो वसन्त के ही ताऊ ! बिटिया के विवाह के लिए जो कुछ करना पड़ेगा, वह तो घर में आयेगा ही।—और उसे तुम करोगी ही—सोचते होंगे। लेकिन इनको बिदाई भी तो कुछ देनी पड़ेगी। समधी ठहरे ! पहली बार आये हैं और सो भी अपने आप !" कथन के साथ वसुधा कैलाश बाबू के मुंह की ओर देखने लगी।

मन की बात छिपाकर हँसते-हँसते कैलाश बाबू बोले—"मैं तो अब इस विचार का बन जाना चाहता हूँ कि जो कुछ करूँ, कला के लिए ही करूँ। और इन लोगों को उतना ही पास बुलाऊँ, जितने के ये पात्र हैं। ग्यारह रुपये दूँगा और हाथ जोड़ दूँगा। हो गयी बिदाई !"

ऊष्मा अब तक चुपचाप बैठी सुन रही थी। अब उससे न रहा गया। बोली—"आप से ऐसा हो ही नहीं सकता। इतने निम्न स्तर पर आप कभी उतर ही नहीं सकते चाचाजी !"

"क्यों ? तुम समझती हो कि मैं स्वार्थों से परे हूं !"

"हाँ ! बिलकुल परे। क्योंकि अपना गौरव आपको अधिक प्यारा है।"

वसुधा बोली—"अब इतना रुपया रह ही कहाँ गया है ऊष्मा बेटी !—जो अधिक कुछ किया जा सके। वैसे इस अवसर पर देना तो एक-सौ-एक चाहिये ; यह बात दूसरी है कि इक्यावन से ही काम निकाल लिया जाय ।"

कैलाश बाबू के मुँह से निकल गया—"मेरे पास तो अब रुपया बचा नहीं। तुम्हारे पास हो, तो दे दो।"

वसुधा ने कह दिया—"हाँ, मैं दे दूँगी। लेकिन तुम्हें यह कहना पड़ेगा कि यह समधिन की भेंट है—मेरी नहीं !"

"सो सब कह दिया जायगा।" अब वसुधा लोहे के बने चूल्हे पर पूड़ियाँ तल रही थी और ऊष्मा स्टोव पर साग छौंक रही थी।

इतने में राकेश आ पहुँचा और सीधे वसुधा से पूछने लगा—"अम्मा, मैं तो बड़े पशोपेश में पड़ गया हूं ! ताऊजी के यहाँ भाभी तो जा नहीं सकतीं, अम्मा अकेली जा रही हैं। मुझ से तो कहा नहीं, लेकिन मकान में नीचे जो किरायेदार रहते हैं, उनकी गृहणी कह रही थीं कि जेठानी ज़बान की बड़ी तेज़ हैं ; मुँह पर ही कह देंगी कि बहू को यदि ले आतीं तो क्या मैं उसका मान न रखती ! मेरी समझ में नहीं आता कि क्या करूँ !"

वसुधा विचार में पड़ गयी। मन में तो आया कि मुँह पर ही कह डाले कि हार बेचते देर नहीं लगी—पूछो न कला से ! जाने को तैयार होगी ? किन्तु फिर कुछ सोचकर कर कह दिया—"मैं क्या बताऊँ बेटा, उसीसे पूछो !"

"ना अम्मा, तुम्हीं को यह समस्या सुलझानी पड़ेगी। बेटे की लाज तो मां को ही रखनी पड़ती है। फिर एक तरफ़ अम्मा की अपनी इच्छा का भी प्रश्न है। इसे तुम ज़्यादा समझ सकती हो।"

वसुधा ने उत्तर दिया—"अभी तो एक हफ़्ता पड़ा है। देखा जायगा—कोई-न-कोई रास्ता निकाला जायगा। तुम्हारे ही साथ कठिनाई नहीं है। कला की इच्छा और रुचि का भी प्रश्न है। सभी बातें कहने की नहीं होतीं और मैं तुमसे कह भी नहीं सकती। तुम तो खुद समझदार हो, बेटे ! विवाह हमने इतने उत्साह के साथ किया कि अब अधिक कुछ कर पाने की शक्ति रह नहीं गयी बेटा राकेश। जो कुछ हुआ सो हुआ। मैं उसके सम्बन्ध में किसी को दोष न दूंगी, लेकिन इतना तो तुम समझते ही होगे कि मैं कला का कंठ एक दिन भी सूना देख नहीं सकती।"

कथन के साथ राकेश ने देखा—अम्मा का कंठ भर आया है। तब उसने कह दिया—"मैं तुम्हारी बात समझ गया अम्मा। उसका प्रबन्ध भी मैंने कर लिया है। तुमको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि वे दूर बैठे और कभी सामने दिखायी न पड़नेवाले जो परमपिता हैं, उनके बड़े-बड़े हाथ हैं। उनके हाथों की घनी, हरी छाया भी है। मकान-मालिक को जब इस बात का अनुभव हुआ कि मेरे घर में कोई देवदूत आकर बसा है, तो उसने पगड़ी वापस कर दी। उसने कहा कि तुम्हारे ही नहीं, मेरे भी मान का प्रश्न है। और जेब में हाथ डालकर एक 'चेक' दिखलाते हुए उसने कहा—"आज ही मिला है, यह देखो। अभी वहीं से चला आ रहा हूं—सीधा। यह सब तुम्हारे ही चरणों के पुण्य-प्रताप का फल है। मेरा कुछ नहीं है, मैंने कुछ नहीं किया है।"

तब बात-की-बात में वसुधा की आंखों में आये हुए आंसू पीड़ा के बदले आनन्द में परिणत हो गये और उसके मुंह से निकल गया—"वाह बेटा राकेश ! अब तक मैं भी तुमको समझ नहीं सकी थी। तुमने तो वह कर दिखाया जो मैं कभी सोच भी न सकती थी। अच्छा, तो अब ऐसा करो कि हार को आज ही उठा लाओ। जो कुछ व्याज लगेगा, उसे मैं दे दूंगी। बल्कि अभी लेते जाओ।"

कथन के साथ वह उठकर अन्दर चली गयीं। पर जाते-जाते लक्ष्मा से कहती गयी—"बिटिया, जरा देखना। मैं अभी आयी—दो मिनट में।"

उधर कैलाश बाबू कह रहे थे—"यह लीजिये, अपनी विदाई की भेंट। आज और कल—दो दिन—मुझे काम बहुत है। शिक्षा-मंत्री मेरी प्रतीक्षा में बैठे होंगे। शायद आज शाम को भी मैं देर से लौटूँ। आप तो अभी रहेंगे न?"

"कहाँ! भाई साहब, मुझे इतनी छुट्टी ही कहाँ है! आज ही रात की गाड़ी से मुझे लौट जाना है।" कहते-कहते सौ रुपये का हरा-हरा नोट और साथ ही एक-एक रुपये वाला भी मुर्री में ध्यान से लपेटते हुए बिरजू बाबू उठकर खड़े हो गये। अब वे सोच रहे थे—थे 'हमको तो राकेश का ही पक्ष लेना पड़ेगा!'

क्रियाएँ जब प्रत्यक्ष हो जाती हैं, तब वातावरण में उनके कारणों की चर्चा होती है, उन पर प्रश्न उठते हैं; क्योंकि उनकी जननी प्रतिक्रिया हुआ करती है।

वसंत ने सब कुछ सह लिया। यहाँ तक कि राकेश को दूसरे मकान में गये कई दिन हो गये। मित्रों और परिचितों में आप-से-आप टीका-टिप्पणी होने लगी।

—भाई यह राकेश का वसंत से अलग हो जाना मेरी कुछ समझ में नहीं आया।

—पर मेरी समझ में आ गया। अरे भाई, छोटा-सा घर है। अभी तक परिवार एक था, अब दो हो गये। नहीं गुज़र हुई, अलग हो गये।...

—लेकिन दो-चार साल तो निर्वाह करते। थोड़ा-बहुत रुपया बनाकर अपना अलग मकान बनवा लेते।

—मुझे तो इस पार्थक्य के भीतर कुछ रहस्य मालूम पड़ता है।...

—कुछ दिमाग ही ऐसे होते हैं, जिनमें बात-बात पर रहस्य के कीड़े रेंगने लगते हैं। साधारण-सी बातें है—पिता-पुत्र, माँ-बेटे, सास-बहू, देवरानी-जेठानी में कभी-न-कभी किसी बात पर कहा-सुनी हो ही जाती है। दबकर वही चलते हैं जो शक्ति-हीन और बोदे होते है। स्वाभिमानी आदमी समझौता नहीं किया करते।

—भाई तुम बुरा कहो, चाहे भला। मेरी तो पिताजी से भी बोल-चाल बन्द है। दो साल हो गये। गाँव में जमीन लेने के लिये छः सौ रुपये दिये थे। शहर में सवा सेर का गेहूँ खरीदना पड़ा; मगर पिताजी ने उस खेत का एक दाना भी मेरे यहाँ नहीं भेजा। जब कि सात सौ रुपये की केवल राई बेची है उन्होंने। आप लोग सम्मिलित कुटुम्ब की बात करने लगते हैं, तब मेरे हृदय के भीतर भट्ठी धधक उठती है। राकेश ने सच पूछो तो यह बहुत अच्छा काम किया!

राकेश का कुछ ऐसा स्वभाव बन गया था कि वह साधारण बातों पर ध्यान न देता था। प्रतिक्रियाएँ मन में बनी रहती थीं। उनके विषय में कभी-कभी सोचता भी रहता था; लेकिन तुरन्त ध्यान उन पर नहीं देता था। जहाँ तक बनता, उन्हें टालता रहता। बल्कि जब परिस्थिति विस्फोट की-सी उत्पन्न हो जाती, तब उसे निपटा डालता था; पर उसकी चर्चा इष्ट-मित्रों से भी न करता था। किन्तु उसका यह दृष्टिकोण केवल व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में था। सार्वजनिक जीवन के सम्बन्ध में उसकी मान्यता इसके बिलकुल विपरीत थी। विज्ञान इन परिस्थि-तियों से परिचित था। वह अपनी ओर से कुछ छेड़ता न था। उसका कहना था कि समुद्र उफनाकर नहीं चलता, लेकिन बोलता वह भी है।

अब भिक्षुक-संघ के प्रारम्भिक कार्य-कलाप का निरीक्षण सरकार की ओर से आये हुए आयोग द्वारा विधिवत् सम्पन्न हो चुका था और पहली किश्त के रूप में बीस हजार का चेक आ गया था। अब

विचारणीय यह था कि काम कैसे आगे बढ़ाया जाय और इस अनुदान का उपयोग कैसे किया जाय।

इस सम्बन्ध में विचार करने के लिये विज्ञान जब राकेश के साथ चला आया, तो कला को बड़ी प्रसन्नता हुई। पार्श्ववर्ती कक्ष में स्वामी के साथ विज्ञान को जाते हुए देखकर उसको अपना पेंटिंग का कार्य छोड़ देना पड़ा। जो साड़ी वह पहने हुए थी उसमें रंगों के कुछ छींटे पड़ गये थे। अतएव तुरन्त उसने साड़ी बदली, ग्रीवा पर गुलाब का सुवासित पाउडर थोड़ा-सा छिड़क लिया और सास के पास आकर वह बोली—"अम्मा, विज्ञान भाई आये हैं। उनके लिये...?"

गीता की एक ऐसी जिल्द उसके सामने खुली रखी थी, जिसका टाइप बड़ा था और प्रत्येक श्लोक का भावार्थ वार्ता में दिया हुआ था। चश्मा उतारकर उसी पृष्ठ पर रखते हुए, सिर उठाकर, एकादशी ने कह दिया—हाँ-हाँ जरूर। ऐसा करो कि आलू रखे ही हैं छीलकर घी में तल लो। साथ में बिस्कुट और चाय हो जायगी।"

इस प्रकार कला पुटैटो-कटलेट बनाने में लग गयी और एकादशी चावल बीनने लगी।

विज्ञान ने कुर्सी पर बैठते हुए फ़ाउन्टेनपेन जेब से निकाला और एक काग़ज़ पर लिख दिया—"कढ़ाई के काम की मशीन।" उसके नीचे लिखाई-बुनाई के काम की मशीन, अम्बर चर्खा, कपड़े पर सिलाई की मशीन। प्लाईउड पर फ्रीहैंड कटाई की मशीन, हाथ से चलनेवाली साधारण सिलाई की मशीन। दरी बुनाई का सामान। रंगाई के मसाले। ब्लीचिंग पाउडर। गेंद, गुब्बारा, प्लास्टिक की गुड़िया, कुत्ता, बिल्ली, ऊँट, सिंह, हिरन, बकरी, चुहिया, तोता, ख़रगोश आदि रबड़ के खिलौने बनाने का सामान।"

अभी यह सूची पूरी नहीं हो पायी थी कि इतने में कमरे से निकल कर राकेश आ पहुँचा और उसने सिकुड़न से भरे एक काग़ज़ को

विज्ञान की ओर बढ़ाते हुए कह दिया—"देखो, यह भी एक कविता है।" इसके विषय में मैंने अब तक तुमको कुछ नहीं बतलाया था।

क्यों गाऊँ ?

क्यों जी की जलन मिटाऊँ ?
क्यों न जलूँ तिल-तिल जीवन-भर
पल-पल जलता जाऊँ।
रत्नाकर मरुभूमि बना दूँ,
मधुवन में ज्वाला दहका दूँ,
भेद मिटा दूँ जड़-जीवन का
अपने और परायेपन का।
बूँद-बूँद कर पान गरल का
सुधाधार बरसाऊँ।

कविता को अक्षरशः से पढ़ने के पश्चात् विज्ञान बोल उठा—"पढ़ लिया मैंने। अब बोलो, तुमको क्या कहना है?"

"कहना यह है कि यह कविता प्रेरणा का व्यक्तिगत आधार रखती है। बिलकुल ही स्पष्ट है कि यह कला को लक्ष्य करके लिखी गयी है। क्योंकि इसी कागज़ के कोने में दस जगह इधर-उधर, नीचे-ऊपर, कला···कला···कला एक नहीं अनेक प्रकार से अंकित है। इससे यह भी विदित हो जाता है कि कला बुरी तरह कवि के मानस पर छायी हुई है। उसके प्रति उनके मन में कोई विकार अवश्य है और मेरी मान्यता है कि विकार कलुष का प्रथम चरण है।"

"है, हो, होता रहे, होता है। आप में है और मुझ में भी है। पर आप इसके लिए कीजिएगा क्या?"

तब राकेश और भी गम्भीर हो उठा। बोला—"मुझे जो कुछ करना था, वह तो मैं कर चुका। मैं उन लोगों के साथ नहीं रह सकता, जो अपने अन्दर रहनेवाले शैतान का गला दबाकर नहीं रह

सकते। आपने शायद कविता की कुछ पंक्तियों पर ध्यान नहीं दिया। एक तो आप जलन रखते हैं जबकि आपको गौरव रखना चाहिये था। दूसरे—

भेद मिटा दूँ जड़-जीवन का,
अपने और परायेपन का।

मुझे इन पंक्तियों पर आपत्ति है। जो व्यक्ति अपने और परायेपन का भेद मिटा देने की भावना रखता है, वह या तो परमहंस है या अजगर। वह सब-कुछ खा जाना चाहता है। एक ऐसा दैत्य है वह जिसकी भूख कभी शान्त नहीं होती। पशु है वह; क्योंकि जीवन और जड़ में—संयम और लिप्सा—में भेद नहीं रखना चाहता। जो विवेक पर आस्था नहीं रखता, वह क्या नहीं कर सकता? बोलो, मैं ग़लत कह रहा हूँ?"

"बिलकुल ग़लत। आप मनुष्य को देवता बनाने की सनक में उसके प्रकृत रूप को भूल रहे हैं। आप चाहते हैं, मनुष्य के भीतर का शैतान है वह मर जाय। मेरा मत है कि आप क्या, कोई भी उसको नहीं मार सकता। सहस्रों वर्षों के बाद हमको बापू के रूप में एक महापुरुष मिला। साधना, तपस्या, उपासना, व्रत, उपवास, चिन्तन और प्रवचन में ही उन्होंने अपना जीवन बिताया। अपने महान् लक्ष्य को प्राप्त करते-करते उन्होंने जीवन का भी उत्सर्ग कर दिया! विश्व में महान् आराधक योगीराज अरविन्द, सर्वस्व-त्यागी भगवान् बुद्ध और महात्मा ईसा जैसे लोग पैदा हुए। भगवान् राम और कृष्ण ने अपनी विविध लीलाओं से संसार को चकित कर दिया। मानवता और सभ्यता के विकास में इन लोगों की जो अमर देन है, उसको स्वीकार करते हुए भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि शैतान कभी नहीं मरेगा।"

"यह तो अपना-अपना मत है। मेरा मत है कि शैतान का गला दबा कर रखो। इसके सिवाय उसके साथ हमारा कोई समझौता नहीं हो सकता।"

"न हो, लेकिन जिस आधार पर आप वसन्त से अलग हुए हैं वह भीतर से पुष्ट नहीं, खोखला है। उसमें एक सनक है, बुद्धिमानी नहीं।"

"हर एक बड़ा कार्य अपने भीतर एक सनक रखता है। असहयोग आन्दोलन, नमक-सत्याग्रह, अहिंसा, हरिजन पोषण तथा सन् ४२ की क्रान्ति तक जो भी उथल-पुथल और परिवर्तन हमारे देश में हुए सबके भीतर एक सनक थी। और आपको यह भी मानना पड़ेगा कि भिक्षुकों का यह संघ भी एक सनक है। मैं एक सनकी आदमी हूँ और मुझे अपनी इस सनक पर गर्व है!"

विज्ञान मुस्कराने लगा। फिर दाढ़ी पर हाथ फेरता हुआ बोला—"तुमसे कोई क्या बहस करे! टु-दी-प्वाइन्ट बोलना तुम जानते नहीं। भावुकता में स्वयं तो बह ही जाते हो, जनता को भी बहा ले जाते हो। फिर वसंत ने तो स्वयं इस कविता को भी लाल पेंसिल से काटकर रद्दी कर डाला था!"

अभी यह विवाद सम्भव है और भी चलता; किन्तु इतने में विज्ञान ने देखा कि कला द्वार पर खड़ी हुई कह रही है—"बहस अगर समाप्त हो गयी हो, तो मैं चाय ले आऊँ भाई साहब।"

"बस-बस, इस समय आपकी ही कमी थी।" विज्ञान ने कह दिया और राकेश मुस्कराने लगा।

चित्र की प्रत्येक पीठिका अपना एक अलग अस्तित्व रखती है। चित्र में तो हम किसी-न-किसी दृश्य, घटना अथवा व्यक्तित्व को देखते हैं। पर उसके पृष्ठ-भाग में दफ़्ती का आवरण, चौखटा और चारों ओर जड़ी हुई कीलें। बहुत हुआ तो चित्र के सम्बन्ध में दो शब्द: किसको भेंट किया गया और किसने किया; कौन चित्रकार था और कहाँ से क्रय किया गया। शेष में सन्-संवत् और अधिकारी के हस्ताक्षर—नितांत एक व्यावहारिक खानापूरी; बहुधा चित्रण-कला के साथ जिसका

कोई सम्बन्ध नहीं होता। ठीक उसी प्रकार, जैसे चित्र में दृष्टव्य के अतिरिक्त जो चित्रण से छूट जाता है—उपेक्षित, अव्यवहृत। कभी उसका आभास चित्र में रहता है और कभी सर्वथा नहीं रहता।

भिक्षुक-संघ की स्थापना से पूर्व धूम-धाम, चर्चा, भावी संभावनाओं की विराट कल्पना आदि बहुतेरे प्रसंग अब अतीत के गर्भ में समा गये थे। दिन अधिक नहीं बीते थे; किन्तु प्रारम्भ की बहुतेरी बातों को अब लोग भूलने लगे थे। कभी चर्चा भी चलती, तो आवश्यकताओं को लेकर नयी-नयी माँगों की। जैसे, कभी यदि फुटपाथ से लगी दुकानों में नोट-बुक, राइटिंग पैड या पुस्तक की कोई बढ़िया जिल्द देखने में आ जाती तो लोग सबसे पहले उसमें निर्माता का नाम देखते। पहले वस्तु की सुन्दरता क्रेता का ध्यान आकृष्ट करती, तदनन्तर निर्माता के स्थान पर भिक्षुक-संघ का नामोल्लेख। लोग मूल्य पर ध्यान दिये बिना उसे तत्काल खरीद लेते। एक बार अमीनाबाद-पार्क में चाय की कुछ गोल टेबिलें आ गयीं; बिलकुल डमरू के आकार की। तख्ता जितना बड़ा ऊपर, उतना ही बड़ा नीचे। मध्य में केवल इतनी चौड़ाई जिसमें खाद्य-सामग्री वाली प्लेट सुविधा से रखी जा सके। ऊपर का तख्ता दो अंगुल मोटा नीचे का भी इतना ही। बीच की पट्टी चौड़ की थी जिसकी मोटाई लगभग एक अंगुल। ऊपर लकड़ी के रेशों की पेंटिंग, जिस पर वार्निश की चमक पराकाष्ठा तक पहुँची हुई। ऐसी चिकनाहट, जिस पर दृष्टि जाते ही अपनी मुख-छाया तक झलक उठती है, उसे देखकर उस दिन नगरपालिका के एक्जीक्यूटिव आफिसर श्री रजनीकान्त जायसवाल ने पूछा—"वाह! यह नया चालान कब आया?"

सेल्समैन ने उत्तर दिया—"आज ही आया है साहब!"

"और कुछ चीजें आयी हैं?"

"और ये दो कुर्सियाँ आयी हैं।" सेल्समैन ने कथन के साथ एक हत्थे के भीतर से ऐश-ट्रे निकालकर दिखला दिया; फिर झट उसे अंदर कर दिया।

जायसवाल साहब ने ऐश-ट्रे को पुनः खोला और उसके तल को नाखून से खरोंचकर कह दिया—"वाह ! इसमें तो चद्दर का टुकड़ा लगा है ! यह तो बहुत ही अच्छा है।"

ऐश-ट्रे को पुनः भीतर करते हुए उन्होंने कहा—"कुछ भी हो, लोग चाहे जैसी टीका-टिप्पणी करें ; मगर इतना तो मानना ही पड़ेगा कि भिक्षुक-संघ ने हमारे सामने एक बहुत ऊँचा आदर्श रखा है। सच पूछिये तो कुटीर-उद्योग के सारे नियोजन इसके आगे झख मारते हैं !··· अच्छा साहब, यह टेबिल और यह कुर्सी—नहीं, दोनों कुर्सियाँ—मैंने ले लीं।"

विज्ञान और राकेश के कानों में जब ये प्रशंसात्मक बातें पड़तीं, तब उनको प्रसन्नता तो होती ही, साथ-ही-साथ आगे बढ़ने की एक प्रेरणा भी मिलती।

एक दिन दिवाकर ने फ़ाइल पर फीता बाँधते हुए कह दिया—"आज मुझे एक नयी बात मालूम हुई भाई साहब।"

टेबिल पर रबर की पट्टी के ऊपर गिलास में लस्सी रखी हुई थी। राकेश ने कह दिया—"पहले यह लस्सी पी लो। चलती हुई लू में तो तुम आफ़िस से चल दिये। यह जो दस-पाँच दिन लू-लपट के बड़े जोखिम के होते हैं, उनको बिचा दया करो। बल्कि शाम को आया करो।"

श्रद्धा से नतमुख और समादर से उत्फुल्ल दिवाकर लस्सी का पहला घूँट कण्ठगत करता हुआ बोला—"भाई साहब, मुझे तो कुछ नये अनुभव हो रहे हैं। पैसे का लालच इन लोगों में इतना अधिक है कि आप इनको पाँच रुपये रोज भी दीजिये, फिर भी सन्तुष्ट न होंगे। और कामचोर तो इतने अधिक हैं कि पिछले सप्ताह जो दो आदमी छुट्टी लेकर गये थे वे अभी लौटकर नहीं आये और आज आपने दो आवेदन-पत्र और देखे। लोग काना-फूसी कर रहे थे—"जो कुछ सीखना था

सीख लिया। जब काम ही करना है, तो अपने घर चलकर क्यों न करें !"

राकेश ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"भिक्षुक-वर्ग की यह नव-चेतना मुझको तो बड़ी प्यारी लगती है। मैं इसको रोकने के पक्ष में नहीं हूं। मैं तो चाहता हूं, ये निकम्मे लोग स्वतंत्र जीविका उपार्जन करने लगें। यही तो हमारा आदर्श होना चाहिये।"

"मगर इनमें वह चेतना है कहाँ भाई साहब ?"

"नहीं है, तो हमको पैदा करनी पड़ेगी उनमें। इस सत्य को हम कैसे टाल सकते हैं कि नैतिकता का धीरे-धीरे बहुत ह्रास हो गया है ! विद्रोह के नाम पर यह नारा बड़ा सस्ता हो गया है कि हम इसके जिम्मेदार नहीं हैं। हममें सबसे पहले यह जो दायित्वहीनता आ गयी है इसी को मिटाना है। जो लोग पढ़े-लिखे नहीं हैं उनमें दायित्वहीनता हो, तो यह आश्चर्यजनक नहीं; पर हमारे यहाँ तो सबसे अधिक यह रोग उस वर्ग में है जो पढ़ा-लिखा समझा जाता है। तुमको मालूम नहीं कि इस आश्रम में प्रौढ़ और किशोर लोगों की शिक्षा का प्रबन्ध भी हम जल्दी-से-जल्दी प्रारम्भ करनेवाले हैं।"

"हाँ, यह विचार आपका बड़ा दिव्य है। मगर जीवन-सुधार सम्बन्धी प्रवचनों का कोई कार्यक्रम यदि आप रखेंगे, तो उससे मुझे बड़ी प्रेरणा मिलेगी।"

राकेश हँसने लगा। बोला—"प्रेरणा ऐसी-वैसी नहीं, बड़ी ऊँची और सजीव। बल्कि मैं तो चाहूंगा कि ऐसे अवसर के लिए तुम स्वयं अपने को तैयार कर लो, क्योंकि तुम इसके अधिकारी भी हो !"

दिवाकर को वह दिन स्मरण हो आया, जब वह स्वयं भी इसी आवारा और गुण्डा वर्ग का एक अंग था। और तब कुछ संकुचित होकर उसने कह दिया—"भाई साहब, उपदेश देने की क्षमता मुझमें कहाँ ! मैं अपने को एक बहुत बड़ा अपराधी समझता हूँ और जीवन भर समझता रहूंगा।"

"बस यह चेतना ही हमको योग्य बनाती है। जिसमें यह एक बार पूरी तरह जागृत हो जाती है; वही सच्चा सुधारक और विचारक बन जाता है। संसार में ऐसे बहुतेरे संत और महात्मा लोग हुए हैं जिनका अतीत बहुत ही चित्य, भ्रष्ट और अपराधमय था। पर शायद तुम्हें मालूम नहीं कि इस जगत् का शासन वर्तमान करता है, अतीत नहीं। और मुझे यह कहने में कभी संकोच नहीं हो सकता कि मेरा वर्तमान दिवाकर अब जीवन-सुधार के क्षेत्र में निरापद ही नहीं, समर्थ भी बन गया है।"

"यह सब आपका आशीर्वाद, आपकी दया और ममता का फल है।"

लस्सी का खाली गिलास कमरे के एक कोने में रखकर दिवाकर ने फ़ाइल उठायी और बाहर की ओर प्रस्थान करते हुए कह दिया—"प्रणाम भाई साहब।"

इतने में नीचे से एक किरायेदार के लड़के ने आकर कहा—"भाई साहब, आपका फ़ोन है।"

रिसीवर को जो राकेश ने उठाया, तो उसने सुना—"मैं हूं, विज्ञान। मुझे अभी सूचना मिली है कि आश्रम के सारे भिक्षुक काम छोड़कर जा रहे हैं। कुछ में तो आपस में मार-पीट भी हो गयी है! मैं वहीं जा रहा हूँ। तुम भी फ़ौरन आओ।"

राकेश सोचने लगा—'अब हमको विधान बनाकर भिक्षावृत्ति समाप्त करनी पड़ेगी। सीधी अँगुलियों से घी निकलनेवाला नहीं।'



जब नगर की प्रमुख दुकानों में दफ्तियों पर लिखे हुए कुछ ऐसे शब्द प्रायः देखने को मिल जाते थे : 'प्राडक्ट ऑफ बेगर्स यूनियन' हजरतगंज में और अमीनाबाद या चौक की दुकानों में, 'भिक्षुक संघ का उत्पादन'। 'उत्पादन—उन हाथों का, जो निराश्रित, असहाय और बेघरबार के हैं।' 'देन—उन गरीबों और भिखमंगों की, जो अब दया की भीख नहीं चाहते।' एक स्थान पर बिजली के लाल-लाल अक्षरों में प्रकाशित हो रहा था : गरीबों के उन आँसुओं की देन, जो आज आँसुओं से ही नहीं, लोम-लोम से झर रहे हैं!'

इस प्रकार सारे नगर में बढ़िया-से-बढ़िया रंगीन चटाइयाँ, हाथ के पंखे, टोकरियाँ, टोपियाँ, कटिबन्ध, कालीनें, दरियाँ, बिछाने योग्य टाट की रंगीन पट्टियाँ, पलँग की निवाड़, कागज-पत्र रखने की फ़ाइलें, कागज के बने सूटकेस और कपड़े की डोलचियाँ आदि अनेक वस्तुएँ—भिक्षुक-संघ की बनी हुई—धूम से बिकने लगी थीं। बाजार की तुलना में ये वस्तुएँ कुछ महँगी अवश्य पड़ती थीं; किन्तु शैली और सुन्दरता में नवीनता रखने के कारण लोग इनको लेने में आपत्ति न करते। परिणाम यह हुआ कि माँग यकायक बढ़ गयी और जो सामान बाजार की दुकानों में फैला हुआ था, वह धीरे-धीरे कम होने लगा। एक दिन इस समस्या पर भिक्षुक-संघ की कार्यकारिणी-समिति की एक बैठक करने का आयोजन हुआ।

अन्य बैठकों की अपेक्षा आज उपस्थिति कम थी। जो लोग उपस्थित भी थे, उनका कथन था कि अब हम लोगों के बुलाने की

कोई आवश्यकता नहीं रही। सब कार्य सुचारू रूप से चल रहा है। अब हमारा कोई काम नहीं रह गया। एक महाशय ने—जो कपड़ा समिति के संयोजक थे—समस्या पर प्रकाश डालते हुए कहीं कह दिया—"अगर माँग के अनुसार माल तैयार न कराया जा सका, तो यह संघ टूट जायगा। लोग दूकानों पर आकर खरी-खोटी सुनाने लगे हैं। कोई कहता है—'बस चल गया संघ, टाँय-टाँय फिस्स!' एक सज्जन कह रहे थे—'परसों मैं दरियाँ लेने गया था, किन्तु वहाँ नदारद थीं!'

इतने में एक कोने में बैठा कोई व्यक्ति—जो सिगरेट पी रहा था—उठकर खड़ा हो गया और हाथ उठाकर बोला—"यह बात बिलकुल सही है। मैंने तीन बार संघ के कार्यालय में चटाइयों का 'आर्डर' भेजा; किन्तु मेरे आदमी को यह कहकर लौटा दिया गया कि माल नहीं है। आपने तो नियम बना रखा है कि इसमें अनाश्रित जाति के लोग ही लिये जायँगे! मैं आपसे पूछता हूं कि क्या अब अधिक अनाश्रित पैदा करने की योजना बनेगी!"

तभी एक अन्य व्यक्ति ने पार्श्व के कोने में तम्बाकू की पीक मार कर खड़े होते हुए कह दिया—"अनाश्रित पैदा करने की बात उठाना तो दूर, उसकी कल्पना भी लज्जास्पद है!"

इस बैठक के सभापति थे—विज्ञानशंकर। अब जो कला कुछ कहने के लिये खड़ी हुई, तो एक साहब पहले ही बोल उठे—"देवी जी, आप कृपा करके बैठ जाइये। यह काम देवियों से नहीं हो सकता।"

अब सदस्यों में जो सनसनी पैदा होने लगी, तो सभापति की घंटी बज उठी और विज्ञान खड़ा होकर बोलने लगा—"कृपया शान्त रहें। मैं स्पष्ट देख रहा हूं कि आप लोग उपस्थित समस्याओं को हल करने नहीं आये; अपितु उन नवीन समस्याओं को जन्म देने आये हैं जो अब तक गर्भ में हैं। और, हो सकता है कि गर्भ में भी न हों—आप केवल

उनकी कल्पना कर रहे हों। मुझे आश्चर्य इस बात का है कि जो स्थिति हमारे संघ की सफलता की उद्घोषक है, उसे आप समस्या बना रहे हैं। हमने बड़े परिश्रम और अनुसन्धान से ऐसे कारीगरों और मिस्त्रियों की संयोजना की, जो उत्पादन के विशेषज्ञ हैं। कम-से-कम आपको इतना तो ज्ञान होना ही चाहिये कि माल की खपत तभी बढ़ती है जब उपभोक्ताओं का संतोष वृद्धि करता है। सच पूछिये तो यह हमारी विजय का चिह्न और सफलता की निशानी है। मैं पूछता हूं कि आप लोग इसे समस्या किस प्रकार कहते हैं? मिल या फैक्टरी खोलना हमारा कभी भी लक्ष्य नहीं था। इसलिये बड़े स्तर पर उत्पादन करना हमारे लिये न अभीष्ट है, न सम्भव। हमने तो यह बात पहले ही निश्चित कर ली थी कि हम माल बढ़िया तैयार करायेंगे और आज हमारा यह उद्देश्य सिद्ध हो रहा है। किन्तु अब आप लोग ऐसी टीका-टिप्पणी करने पर तत्पर हैं, जो आपके भीतर भरी हुई उच्छृंखलता, नियन्त्रण-हीनता और अशिष्टता प्रकट करती है। कलाजी के खड़े होने पर एक साहब ने तो दुःसाहस करके यहां तक कह डाला कि आप बैठ जाइये, यह काम स्त्रियों का नहीं है। उनको अपने इस कथन पर लाज आनी चाहिये। आज स्त्रियां जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आपका हाथ बँटाने के लिये तत्पर हैं। रूस और चीन में वे खेती-बाड़ी से लेकर सेनाओं तक में काम करती हैं। चीन का गृह-उद्योग तो इस सीमा तक आगे बढ़ा हुआ है कि काम की निश्चित अवधि के बाद वे अपने घर और बाहर रानी बनकर रहती हैं। अमरीका में भी स्त्रियां मिलों और फैक्टरियों के कार्यालयों में उच्च पदों पर प्रतिष्ठित हैं और प्रशासनीय विभागों तक का कार्य-संचालन करती हैं। कहते हैं वहाँ की कृषक नारी भी अपनी 'कार' रखती है। और अब, जब हमारा देश उद्योग-धंधों में विकास और उन्नति की ओर पदक्षेप कर रहा है, तब आपको नारी जाति का अपमान करते हुए लाज नहीं आयी, संकोच भी नहीं हुआ!"

इस समय जो चारों ओर से 'शेम'-'शेम' के स्वर आने लगे, तो राकेश के होंटों पर मुस्कराहट आ गयी। इसी समय कहीं से आ गया दिवाकर। और उसने धीरे-धीरे कोई ऐसी बात राकेश को बता दी कि वह उसे सुनकर गम्भीर हो उठा।

इधर विज्ञान कह रहा था—"मेरी प्रार्थना है कि आप लोग भाषा का संयम कभी भंग न होने दें और सदा इस बात का ध्यान रखें कि जो देवियाँ घर से बाहर निकलकर सार्वजनिक जीवन में आपका हाथ बँटा रही हैं उनकी भी एक मर्यादा है और अपने किसी विचार और कथन से उनको हतप्रभ और हतोत्साह करने का आपका कोई अधिकार नहीं।

"अब हम मूल विषय पर आते हैं। समस्या यह है कि संघ ने जो काम उठाया है, उसमें माँग के अनुसार उत्पादन नहीं हो पाता। आप जानते हैं, इसका क्या परिणाम होगा? परिणाम यह होगा कि इस संघ द्वारा निर्मित जो वस्तुएँ बाजार में आयेंगी, उनका मूल्य बढ़ जायगा। और मूल्य बढ़ जाने से भिक्षुक-वर्ग के जीवन-सौख्य की क्षमता में वृद्धि होगी और आपको विदित हो, यही इस संघ का एक मात्र उद्देश्य भी है। इसलिए जिन लोगों को आवश्यकता के समय माल नहीं मिलता, उनको यह समझने का अवसर मिलना चाहिये कि मिल या फैक्ट्री के स्तर पर यह काम नहीं हो सकता। हाँ, एक बात अवश्य है कि यदि भिक्षुक-संघ की सीमा से बाहर जाकर हम साधारण जनसमुदाय में गृह-उद्योग का प्रसार कर सकें, तो उसके उत्पादन का सहयोग हमें मिल सकता है। पर यहाँ यह प्रश्न उठता है कि भिक्षुक संघ को जनता की जो सहानुभूति प्राप्त है, क्या वही साधारण जन-समुदाय के गृह-उद्योग को न प्राप्त होगी? इस विषय में हमारा कहना यह है कि ऐसे उपभोक्ताओं की संख्या बहुत कम है जो जीवनोपयोगी वस्तुओं को भिक्षुओं के प्रति सहानुभूति प्रकट करने की दृष्टि से ही ख़रीदने पर तत्पर हों। क्योंकि व्यवसाय के क्षेत्र में सहानुभूति का कोई स्थान नहीं है। सहानुभूति एक दिन हो सकती है, किन्तु व्यवसाय तो सतत और

सर्वकालीन होता है। दया की भीख आपको एक दिन मिल जायगी, लेकिन यदि आप नित्य झोली लेकर दान-संकलन के लिए आगे बढ़ेंगे, तो आपको निराश होना पड़ेगा।

"इस अवसर पर मैं आपको एक बड़ी शुभ-सूचना देता हूँ कि जो योजना हमने संघ की ओर से सरकार के सामने रखी थी, उसकी सफलता का निरीक्षण करने के लिये एक आयोग का आगमन हुआ था, उसकी स्वीकृति के अनुसार बीस हज़ार रुपये पहली किश्त के रूप में आ गये हैं।

सभा-मण्डप इस सूचना के साथ करतल-ध्वनियों से गूँज उठा।

शान्ति स्थापित होते ही विज्ञान कहने लगा—"हमें आशा है कि आगे राजकीय सहयोग प्राप्त होने पर हम और भी आगे बढ़ेंगे और इस संघ को अखिल भारतवर्षीय रूप देने में कोई कठिनाई नहीं होगी। अब आप लोग कलाजी के विचार सुनिये, आइये कलाजी।

कथन के साथ हाथ जोड़ता हुआ विज्ञान मसनद के एक ओर बैठ गया।

ज्योंही कला खड़ी हुई, त्योंही ऊष्मा, रजनीगन्धा, मन्दाक्रान्ता एक साथ मुस्करा उठीं। रजनीगन्धा ने मन्द्रक्रान्ता के कान में कह दिया—"कला इस समय बहुत गम्भीर जान पड़ती है। देखना है, कहती क्या है?"

ऊष्मा बोली—"वातावरण के अनुसार उसको संक्षिप्त रूप से ही बोलना चाहिये।

अब कला बड़ी ओजपूर्ण वाणी में कह रही थी—"सभापति महोदय ने मेरे मनोभावों को बड़े सुन्दर ढंग से प्रकट कर दिया है। अब मेरे लिये कुछ कहने का कोई विशेष अवसर नहीं है। मैं इसीलिये केवल एक बात कहना चाहती हूं—कनफ़्यूशियस का कहना है कि नारी संसार का सार है। और एक कहावत के अनुसार उनको मृदु और संकोचशील—सुनने में अधिक सतर्क और बोलने में समुचित मंद—होना चाहिये। आप जानते हैं कि आदिकाल से कोमलता नारी का गुण रहा

है। कदाचित् यही एक बात हमारे बन्धुओं को यह कहने का अवसर देती है कि आप बैठ जाइये, यह काम स्त्रियों का नहीं है। किन्तु इस अवसर पर ग्रेबिले की एक बात मेरे मन में बार-बार आयी है कि वास्तविक कोमलता किसी प्रकार की अकर्मण्यता नहीं और अक्षमता भी नहीं वरन् उसकी प्रकृतशालीनता है, जो अपने प्रति किये गये दुर्व्यवहार की अपेक्षा अपने द्वारा किये गये दुर्व्यवहार से कहीं अधिक पीड़ित होती है। और मेरा तो सदा से यह मत रहा है कि कोमलता कोई अयोग्यता नहीं है। वह अस्त्र है जो पत्थर के हृदयों को भी प्रभावित कर उस पर विजयी होता है। केवल एक प्रतिबन्ध है कि आप यह कभी न भूलें कि हमारी लाज, मेरी अपनी ही नहीं, आपकी भी है। क्योंकि आप अन्ततोगत्वा उसी लाज की सन्तान हैं।"

कला के इस कथन पर सभा का वातावरण ही बदल दिया। करतलध्वनियों से भवन गूँज उठा।

राकेश दिवाकर से प्राप्त कुछ सम्भावनाओं से इतना आत्मलीन हो गया था कि सभा की कार्यवाही में पूरा-पूरा ध्यान लगा न पाया था। किन्तु कला का वक्तव्य सुनकर वह सोचने लगा कि यदि अब अन्त में मैं कुछ न बोलूँगा, तो कहीं लोग यह न समझ लें कि आज मेरी मनःस्थित इस सभा के अनुकूल नहीं है, कारण चाहे जो हो। क्योंकि संसार की यह प्रकृति है कि वह उतना ही देख पाता है, जो कर्म में परिणत होता है; जो प्रच्छन्न और आन्तरिक प्रवृत्तियों में लीन और निहित है, उसको वह देख नहीं पाता। अतः जब कला का वक्तव्य समाप्त हुआ तब उसने अपना वक्तय देने के लिए मंच पर आकर पहले एक बार चारों ओर देखा, फिर परम शान्त और स्थिर चित्त से बोलना प्रारम्भ किया।

"सभापति महोदय और साथियो,

आज मैंने इस बैठक में उपस्थित व्यक्तियों में कुछ ऐसी नयी प्रवृत्तियाँ देखी, जो विचारणीय और चिन्त्य हैं। छोटी-छोटी बातों में लोग

घबरा उठते हैं। माँग और पूर्ति जैसे अर्थशास्त्र के साधारण विषयों तक का उन्हें ज्ञान नहीं है। उन्हें इतना भी ज्ञान नहीं है कि इस उद्योग की पृष्ठभूमि में कोई अति व्यावसायिक लाभालाभ द्रष्टव्य नहीं है। सम्बन्धित श्रमिक जितना निर्माण और उत्पादन कर पायें, अगर उसकी खपत बराबर होती जाय, तो संघ के लिये चिन्ता का कोई कारण नहीं है। लेकिन हमने देखा कि हमारे भाई इसी बात को लेकर अपना वैधारिक संतुलन खो बैठे हैं। कुछ लोगों में यह भी प्रवृत्ति देखने में आ रही है कि वे या तो जान-बूझकर उत्तेजनात्मक भाषा का प्रयोग करना चाहते हैं या उन्हें सभा-समाज में बोलने के कौशल का थोड़ा भी ज्ञान नहीं है। कुछ लोग ऐसे रूढ़िवादी हैं कि सार्वजनिक क्षेत्र में नेतृत्व करनेवाली किसी महिला को देखकर बिना बोले नहीं रह सकते। हो सकता है किसी कारण उनकी आँखें दुखने लगती हों और यह भी हो सकता है कि कुछ-न-कुछ कह देना ही उनके लिए ही संतोष का कारण बन जाता हो। वास्तव में क्या बात है, मैं नहीं कह सकता। टीका-टिप्पणी करने से पूर्व क्या वे इस सभा के अधिकारियों से पूछताछ करके अपना समाधान नहीं कर सकते थे ? कम-से-कम इतना विवेक तो उनमें होना चाहिये कि जो बातें व्यक्तिगतरूप से जान लेने की होती हैं वे सभा-समाज में सबसे आगे प्रकट करने की नहीं। ऐसे अवसरों पर टोंकनेवाले व्यक्तियों का न कोई गौरव बढ़ता और न कार्य-क्रम को ही कोई गति मिलती है। सभापतिजी से मेरा अनुरोध है कि भविष्य के लिए वे एक ऐसी व्यवस्था कर दें, जिससे वक्ताओं की स्वतंत्रता, विधा और और सुविधा को कभी आँच न आये।

और भी एक बात है। हम जिन परिस्थितियों से युद्ध कर रहे हैं ऐसा भी समय आ सकता है कि वे हमको कभी किसी समय रास्ता बताने के लिये आपके सम्मुख और समक्ष आने से रोक दें। स्थिति की गम्भीरता हमको विवश कर देकि हम पर्दे के पीछे चले जायँ या मंच से हट जायँ ! काल की गति कोई नहीं जानता। इसलिये जो लोग आपके

सामने हैं, उनके साथ व्यवहार सोच-समझकर करने का एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व आपके ऊपर है। एक छोटी-सी असावधानी से आप अपने चलते हुए कार्य में बाधा डालकर उसे सदा के लिये अस्त कर सकते हैं। और थोड़ी-सी ही बौद्धिकता से आप गतिशील कार्यक्रम को और भी प्रगतिशील बना सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति नेता नहीं हो सकता, न प्रत्येक व्यक्ति युग-प्रवर्तक। अध्ययन, सेवा और संलग्नता, मानवीय समवेदना, अहर्निश चिन्तन-मनन और कर्तव्य-पालन की अनन्त, अशान्त भावना ही आपके मनोलोक में हमारे लिए आदर का स्थान बनाती है। पर आज तो जनसेवा के काम से अलग रहनेवाले व्यक्तियों में भी जननायकों पर टीका-टिप्पणी करने की प्रवृति लोगों के हृदय की धड़कन बन गयी है। आज का एक साधारण और क्षुद्र छिद्रान्वेषी भी—मुझे स्पष्ट कथन के लिए क्षमा किया जाय—अपने को विचारक समझने लगा है! आज जनता के यथार्थ हितों को न समझनेवाले लोग भी अपने को क्रान्तिकारी समझने की धृष्टता कर बैठते हैं! कम-से-कम आप में इतनी बुद्धि तो होनी चाहिये कि इनमें से कौन हमको आगे बढ़ानेवाला है—और कौन पीछे खींचनेवाला। कौन गुमराह कर रहा है और कौन पथ-भ्रष्ट। यदि आप सोच-समझकर चलेंगे, तो कोई शक्ति आपको अपने पथ से डिगा नहीं सकती। पर अगर बिना सोचे-समझे गलती कर बैठेंगे तो कोई शक्ति आपको ऊपर से नीचे गिरने या सदा के लिए समाप्त हो जाने से बचा भी नहीं सकती! प्रत्येक दिशा में सजग रहना हमारे लिये अभीष्ट है और इसकी हम आपसे सदा आशा करते हैं।"

राकेश का यह व्याख्यान इस बैठक का सर्वाधिक प्रभावशाली व्याख्यान था। विज्ञान ने भी सभापति के आसन से अपना वक्तव्य देते हुए इसकी चर्चा की। अन्त में उसने कहा—"आज की सभा का प्रारम्भ ही कुछ ऐसे मुहूर्त में हुआ था कि वातावरण क्षुब्ध हो गया और हमारे कार्यक्रम की कुछ महत्वपूर्ण बातें विचार करने से रह गयीं। अतएव आज तो अतिशय विलम्ब हो जाने के कारण यह बैठक समाप्त

होती है। तीन दिन बाद फिर यही बैठक, ठीक इसी समय और यहीं पर पुनः होगी। मुझे आशा है, आप उसमें अवश्य सम्मिलित होंगे और अपना अमूल्य समय केवल सम्बन्धित विषयों का निश्चय करने में ही लगायेंगे—कम-से-कम विषयान्तर तो न होने देंगे।

सभा विसर्जित हो जाने पर विज्ञान ने हँसते-हँसते कहा—"आज मुझे पहली बार कुछ ऐसा जान पड़ा राकेश कि इस नगर की जनता को नियन्त्रित रखने की शक्ति केवल एक तुम में है। आज अगर तुम्हारे भाषण में एक ढंग की डाँट-फटकार न होती, तो कल हमारे लिये आगे बढ़ना कठिन हो जाता। वैसे सोच मैं भी रहा था कि यह जो कुछ बिगड़े दिल लोग हमारे संघ में हैं, समय-समय पर इनकी भर्त्सना तो होती ही रहनी चाहिये। किन्तु मैं इन बातों को शायद इतने सुन्दर और प्रभावशाली ढंग से न कह सकता! और कलाजी तो जैसे डर गयी थीं।

राकेश ने कह दिया—"तुम जानते हो, मौखिक प्रशंसा मुझे अच्छी नहीं लगती विज्ञान। तुमको पता नहीं कि स्थिति कितनी गम्भीर है और हम कहाँ खड़े हैं!"

तनिक चिन्ता के साथ विज्ञान ने पूछा—"कोई खास बात है क्या?"

राकेश गुम-सुम बना रहा। उसने कुछ बतलाया नहीं। किन्तु जब विज्ञान ने पुनः खोदने की चेष्टा की, तो उसने कह दिया—

"अब भी अगर कोई खास बात तुम्हारे सामने न आयी हो, तो मुझे आश्चर्य है। तुम समझते हो कि जिस प्रकार की बातें उठायी गयी हैं, क्या उनके मूल में किसी का हाथ नहीं है? क्या ये लोग हमारे शुभचिन्तक हैं?"

"क्या मतलब? स्पष्ट कहो, तुम्हारा संकेत किसकी ओर है?"

राकेश को संदेह हो गया था कि ये सब-के-सब वसन्त के बहकाये हुए लोग हैं। फिर भी उसने यह स्पष्ट नहीं किया। केवल इतना कह दिया—

"जो लोग हैं; वे तो यही हैं किन्तु सूत्रधार कौन है, मुझे नहीं मालूम।"

विज्ञान थोड़ी देर तक तो मौन रहा, फिर उसने कह दिया—"जो होगा, देखा जायेगा।"

वार्त्तालाप करते-करते ये लोग, सब-के-सब, हजरतगंज के चौराहे पर जा पहुँचे। विज्ञान ने कह दिया—"मैं तो आज इधर जाऊँगा।"

"मुझको तो कल इलाहाबाद जाना है। ताऊजी के यहाँ ब्याह है, कला भी मेरे साथ जा रही है।" राकेश ने रुकते हुए बताया।

ऊष्मा बोली—"चलना तो मुझे भी था भैया, किन्तु, मैं तो रात की गाड़ी से ही जा सकूँगी।"

कला ने हँसते-हँसते कह दिया—"वाह! एक-एक ग्यारह! अब हम लोग साथ ही चलेंगे।"

दिवाकर पीछे-पीछे चलता हुआ इधर-उधर देखता जाता था। यकायक जो राकेश रुक गया, तो वह भी निकट आ गया। राकेश ने पूछा—"कहो, आजकल रात को विश्राम कहाँ करते हो?"

दिवाकर ने मुस्कुराते हुए कह दिया—"जिस लड़की के कारण मुझे जेल जाना पड़ा था, घटना-क्रम से वह भी अपना घर छोड़कर अब मेरे पास आ गयी है। आप लोगों की कृपा से अब अपना एक परिवार हो गया है।"

राकेश सोच रहा था—'यही व्यक्ति जो आज संघ में अपनी कर्तव्य-निष्ठा सम्बन्धी दृढ़ता के लिये प्रसिद्ध है, एक दिन समाज-विरोधी तत्वों में पड़कर जेल की हवा खा रहा था! दोनों परिस्थितियों में जो बहुत बड़ा विभेद है उसकी शृंखला में केवल मेरी समय-समय की भर्त्सना, उपेक्षा और क्षुब्ध भावना का हाथ है; जबकि मनुष्य वही है।

पुरुषार्थ एवं प्रयत्न का महत्त्व, मुख्य रूप से, उसी जीवन के लिये है जो साधारण, सहज-सम्भव और स्वाभाविक है। सम्बन्धित मानव

उससे प्रेरणा ग्रहण करता हुआ प्रायः आगे बढ़ता जाता है। परन्तु मनुष्य-स्वभाव इतना विचित्र होता है कि निखिल सुविधाएं और सौख्य के प्रयत्न एक ओर रखकर वह कभी-कभी प्रत्येक अवस्था के प्रति अविश्वास प्रकट करता और प्रत्येक नव-नियोजन में छिद्र देखने लगा है।

भिक्षुक-संघ के आश्रम के पीछे एक ऐसा बरामदा था, जहाँ वर्षा आ जाने पर श्रमिक लोग, लॉन से भाग कर, शरण के लिए, तुरन्त आ पहुँचते थे। उस बरामदे का फ़र्श तो पक्का था, पर छत उसमें न थी—खपरैल था। वर्षा की फुहार अभी बन्द नहीं हुई थी और झिल्ली की झनकार, दादुर के बोल तथा उरौती से पानी टपकने का स्वर, एक साथ मिलकर, कुछ ऐसा वातावरण उपस्थित करता था, जिससे मानस-लोक की सुप्त कामनाएँ सहसा जाग उठती थीं।

भिक्षुकों के श्रमिक वर्ग में सभी प्रकार के लोग थे। कुछ तो शारीरिक रूप से साधारणतया स्वस्थ थे। शेष अंगहीन, विकलांग, लँगड़े, लूले, एकाक्ष, किंचित् रुग्ण और स्वभाव के ही असंतुष्ट, प्रतिक्रियाग्रस्त, घोर आलसी, आवारा, धूर्त और दुष्ट प्रकृति के थे। काम के समय भी वे बातें करना बन्द न करते। चोरी करना उनका स्वभाव बन गया था। मिथ्या भाषण को वे चातुर्य्य मानते और धोखा, कपट और छल को बुद्धिमानी। वे काम तो कम-से-कम करना चाहते, लेकिन पारिश्रमिक अधिक-से-अधिक चाहते। दो-चार पैसों के लिये आपस में मारपीट कर बैठते और हँसी-हँसी में नजर बचाकर दूसरे का बना-बनाया खाना मिनटों में चट कर जाते। वे जिनके साथ रात-दिन रहते, उन्हीं के बर्तन कपड़े, दरी, चादर, धोती और गमछे तक चुराकर बेच डालते। वे चाट-मिठाई, पान, बीड़ी और सिगरेट, सरकस और सिनेमा के दुर्व्यसनों से इतने अधिक ग्रस्त रहते कि पैसा बचाकर जीवनोपयोगी वस्तुएँ संग्रह करना सीख ही न पाये थे। उनके साथ में ऐसी मातायें थीं, जिनके सात-सात बच्चे अकाल मृत्यु की भेंट हो चुके थे; ऐसी अविवाहिता, बहनें थीं, जो बीस-बाईस की अवस्था में ही पेंतीस की जान पड़ती थी!

थीं।—ऐसे छोटे भाई थे, जो बारह-चौदह के हो जाने पर भी अक्षर-ज्ञान से शून्य थे! इतना सब होने पर भी वे अपनी माता-बहन और छोटे भाई के प्रति किसी प्रकार का दायित्व न मानते थे। उनकी अपनी इच्छाएँ थीं और उन्हीं की पूर्ति में वे अन्धे होकर दिन-रात जुटे रहते थे। उनका अपना पेट था, जिसे कचर-कचर कर भरने में ही उन्हें आनन्द आता था। काम करने के घण्टों में भी पेट-दर्द का बहाना बना कर वे ताश खेल सकते थे! सिनेमा देखने जा सकते थे! सोने के समय तो वे नौटंकी या स्वांग देखने में बरबाद करते न चूकते और दिन में काम करते-करते जब आलस्य-ग्रस्त हो उठते, तो काम छोड़कर चले आने में उन्हें ज़रा भी संकोच न होता था! उनका संग-साथ ऐसे लोगों का था, जो अनुशासन और व्यवस्था को दासता का नाम देते और नियम से निश्चित काम पूरा करने को मशीन की जड़ता मानते। चौराहे पर खड़े-खड़े, पथिकों और यात्रियों की सवारियों का निर्देशन करनेवाले पुलिस के कांस्टेबिलों से उनका परिचय था। सिनेमा-हाउसों में पहले से जाकर डेढ़ रुपयेवाले टिकिट को दो रुपये में बेच लेने की विद्या उन्हें खूब आती थी! चोरी के माल को मिनटों में ठिकाने लगवा देना उनके बायें हाथ का खेल था! विधिवत् कुली बने बिना स्टेशन पर असबाब चढ़ा देने का काम करते-करते उन्हें मनुष्य की भाव-भंगिमा को मिनटों में ताड़ लेने का इतना अनुभव हो गया था कि वे सूरत देखकर जान सकते थे, यह आदमी घर से भागकर आया है और नौकरी चाहता है।—इसकी कोई ऐसी चीज़ खो गयी है, जो बड़ी क़ीमती है। यह आया तो शायद ससुराल से है, पर इसके साथ जो इसकी भार्या है, वह अनिच्छा से आयी है।—इसके कुरते के भीतर मारकीन की जो बण्डी है, उसके बायीं ओरवाले भीतरी जेब में नोट-ही-नोट भरे हैं!

तात्पर्य यह कि सांसारिक अनुभव के क्षेत्र में एक ओर यदि वे आचार्य थे, तो नैतिक पतन के क्षेत्र में भी अधिनायक। वे साहसी तो थे,

पर सभ्य न थे—चतुर तो थे, पर साधारण जनता के प्रति समवेदना-शील न थे। वीर तो थे, पर शिक्षित न थे। विद्रोही तो थे, पर जननी जन्मभूमि के प्रति कर्तव्य-निष्ठ न थे। और अपराध उनका केवल इतना था कि वे उन माताओं की कोख की देन थे—शासन-व्यवस्था की त्रुटियों और दुर्बलताओं ने जिन्हें पथ का भिखारी बना दिया था। समाज की दृष्टि में वे मर्यादाहीन, पतित और घृणित थे। नेतावर्ग को उनकी ओर देखने का न तो अवकाश था और न उनमें इतनी चेतना थी कि राह चलते और सामने पड़ते हुए कभी उनमें यह भावना उत्पन्न होती कि वे भी हमारे ही अंग हैं। हमारी तरह वे भी मनुष्य हैं और उन्हें भी मनुष्य की भाँति जीने का पूरा अधिकार है।

इन्हीं में एक था गज्जू और दूसरा वंशी। बरामदे में लेटे हुए दोनों परस्पर वार्तालाप कर रहे थे।

"गज्जू भाई, हमारा तो मन इस काम-धाम में लगता नहीं। जी करता है कि कहीं उड़ चलें! बड़े नगरों और तीर्थ-स्थानों में पैसे की हमें क्या कमी हो सकती है! यहाँ दिन-भर पिसते हैं; तब कहीं दो-चार रुपये मिलते हैं। काम से जब छुट्टी पाते हैं, तो थकान के मारे अधमरे हो जाते हैं! हमसे कहा गया था कि रहने के लिए बढ़िया मकान मिलेंगे, बच्चों के लिए अलग पढ़ाई का प्रबन्ध होगा। गद्दे होंगे, तकिये होंगे; सोने को पलँग मिलेगा। खाने-पीने में भी बहुत सुधार हो जायेगा; मगर हमको तो सब पैसे का खेल नजर आता है। सब व्यापार कर रहे हैं; सेवा तो एक बहाना है। सरकार रुपया दे रही है; नीचे के लोग प्रेम से रुपये उड़ा रहे हैं और बेवकूफ़ हम बन रहे हैं!"

"बंसी दादा, कहते तो ठीक ही हो!"

गज्जू कथन के साथ कुछ और पास खिसक आया और धीरे से बोला—"यहाँ हमीं लोगों में कुछ एसे जासूस भी हैं जो इधर की उधर भिड़ा देते हैं! वैसे मुझे डर तो किसी बात का है नहीं। राम जाने मैं अपना क्या कथा कहूँ आपसे! मेरे तो सौ-पचास घर ऐसे बँधे

हुए थे कि जब कभी पहली-दूसरी तारीख को, पहुँच जाता तो चवन्नी मिल जाती थी।···मगर चवन्नी क्यों ? कोई-कोई माई का लाल तो अठन्नी भी दे देता था। दो ही-चार घंटे में उस दिन हम आठ-दस रुपये पा जाते थे ! और एक बात बताऊँ। ईश्वर देता है तो छप्पर फाड़ कर देता है। यह छाता जो तुम मेरे पास देख रहे हो, बारह रुपये का है, बारह रुपये का। जानते हो कहाँ से आया ? कभी-कभी हम रात को भी इधर-उधर चक्कर काटते थे। मेलों में, नुमाइशों में, स्टेशनों और प्लेटफार्मों पर जब लोग सो जाते, तब बड़ी क़ीमती चीज़ें उस बंसीवाले की किरपा से हत्थे चढ़ जाती थीं ! राम जाने इसी तरह यह छाता भी मिल गया था ! हाँ, तो दादा मेरा कहना यह है कि छाती फाड़कर हमें काम ही करना है, तो अपने घर का ही क्यों न करें ! मेरी समझ में तो यही आता है। दो-चार दिन और देखता हूँ। जिस दिन मन में आया, रास्ता नापूँगा !"

दूसरी ओर सोल्हर अपने बाबा के पैर दाबता हुआ कह रहा था—"बाबा, यहाँ काम बहुत लिया जाता है। मैं तो थककर चूर हो जाता हूँ ! कई दिन से मेरा यह हाथ दर्द कर रहा है। धोबिन चाची कह रही थीं—हम किसी की गुलामी नहीं करेंगे। काम ही करना होता तो घर ही कौन बुरा था ! सचमुच बाबा, इतनी मेहनत हम लोग अपने घर पर करते, तो हमें कमी किस बात की रहती !"

सोल्हर के बाबा अब नदी-तट के ऐसे वृक्ष थे, जो वर्षारम्भ होते ही किसी भी दिन गिरकर धारा के साथ चले जाने को बिलकुल तत्पर थे। इन्द्रियाँ शिथिल हो गयी थीं। लेकिन हृदय में ज्ञान की ज्योति अब पूरी तरह जल रही थी। वे पथभ्रष्ट, भूले-भटके हुए प्राणी, जो अब सन्मार्ग छोड़ कर कुमार्ग पर चलते जा रहे थे, उनमें उनके लिए अब दया और

ममता का भाव ही शेष नहीं रह गया था ! स्वर भले ही मंद रहता हो, पर विचार में प्रखरता ज्यों-की-त्यों विद्यमान थी। करवट बदलते हुए बोले—"किसी के बहकाने में न आना, बेटा ! जो लोग मेहनत करके नहीं खाते, उन निकम्मे लोगों का इस संसार में न कभी आदर हुआ है, न आगे कभी होगा। भीख माँग-माँगकर खा लेना उन लोगों को अच्छा लगता है, मैं उनको आदमी नहीं, जानवर—जानवर भी नहीं, गंदे नाले का कीड़ा—समझता हूँ। तुमको पता नहीं, एक दिन आयेगा, जब इस भिक्षुक-संघ के ही मजदूरों के बच्चे पढ़-लिखकर अच्छे-अच्छे पदों पर होंगे। लेकिन, जो कहो, आज ही सब हो जाय, सो कैसे हो सकता है ! ऐसा कभी हुआ है ? कभी हुआ भी है ऐसा ? जो लोग इस भिक्षुक-संघ की निन्दा करते हैं न, सब जाहिल और जंगली हैं। आवारा, धूर्त और गुंडे। कभी इनकी बातों में न आना, अच्छा ! अब जाओ, सोओ।"

सोल्हर ने कह दिया—"बाबा, ये सब बातें मैंने अपने मन से थोड़े ही कही थीं तुमसे ; इधर-उधर जैसा सुनता था, वैसा ही कह दिया था, मैंने। पर बड़ा अच्छा हुआ बाबा, जो तुमको बतला दिया। नहीं तो, इन लोगों ने बहकाने में कोई कसर थोड़े ही रखी है। अब जो किसी ने इस भिक्षुक-संघ की निन्दा की, तो मैं ऐसा जवाब दूँगा कि वह भी याद करेगा। मगर बाबा पानी, तो बन्द हो गया ; चलो बाहर सोयें।"

"अभी नहीं। अभी तो पानी सूख न पाया होगा। थोड़ी देर ठहरो तो चलेंगे।"

इस बरामदे के कोने में दो व्यक्ति एक-दूसरे प्रकार की चर्चा कर रहे थे। गिरधारी ने कई दिनों के बाद आज हजामत बनवायी थी। ठुड्ढी पर हाथ फेरता हुआ वह कह रहा था—भाई, खाना और खर्चा निकालकर मैंने कुछ कम दो-सौ रुपया आश्रम के खजाने में जमा कर रखे हैं। अबके जो छुट्टी मिली, तो बप्पा को दे आयेंगे। अहा ! रुपये पाकर वे कितने प्रसन्न होंगे ! वैसे मैंने चिट्ठी तो डाल दी है कि भैंसों

की जोड़ी खरीदने भर का डौल हुआ जाता है। बस जवाब आते ही मैं दो दिन के लिए चला जाऊँगा। अब हमारे घर की मान-मर्यादा फिर एकदम नये सिरे से जम जायगी। भैंसों की जोड़ी जो आ गयी न, तो साझेदारी में भैया फिर खेती करने लगेंगे। मैं इस काम को भला छोड़ने वाला हूँ! एक कुरता बनवा लिया, कल एक और बनवा लूँगा।"

और माताबदल चमार बोल उठा—"मैं तो रुपया बराबर मनि-आडर से भेजता जाता हूँ। चाचा की चिट्ठी आयी थी। लिखा था कि छेरी ले ली है। दूध होने लगा है। सब दिन एक-से नहीं रहते। आज घर में छेरी आ गयी है तो कभी गैया भी आ जायगी। दो-एक साल में फेर बँध जायगा। मगर फिर सोचता हूँ कि बहन का विवाह भी तो करना है। बीस की हो गयी है। पिछली बार जब मैं एक दिन के लिए घर गया था, तो अम्मा कहती थी कि बेला का विवाह भर कर लूँ, तो छुट्टी मिले। मैं भी सोचता हूँ, दो-चार साल के बाद ही सही, जब घर में पैसा होगा, तो हमारी इज्जत भी होगी; गाँव में और नाते-रिश्ते में हमारी क़ीमत बढ़ जायगी। एक दिन हम भी अच्छे भले-आदमी गिने जायँगे।

इतने में करवट बदलते हुए गिरधारी ने कहा—"मगर यह सब जो कुछ भी हम देख रहे हैं, एक बापू ने किया है। उन्हीं के कदमों पर चलकर हमने यह दिन देखा है।"

इतने में जब बारह बजने पर गज्जर के स्वर गूँजने लगे, तो वह बोला—"अब सो जाओ गिरधारी। सबेरे हमको पलँग का काम पूरा करना है। वो जो बड़े बाबू राकेश भाई हैं न, एक दिन कह रहे थे—जिन लोगों का काम प्रदर्शनी में अच्छा समझा जायगा, उनको इनाम भी मिलेगा। देखो भाई, किसको मिलता है! पलँग के बाद हम भी कुर्सी बनाने का काम सीखेंगे! तुम्हीं बड़े मज़े में रहे, जो कुर्सी-मेज़ बनाना सीख लिया। मगर अब सो जाओ। मैं भी सो जाता हूँ।"

इस प्रकार इन भिक्षुकों में यदि एक ओर कुछ अकर्मण्य, कायर,

आलसी या बहके हुए लोग थे, तो कुछ ऐसे भी लोग थे जो सन्मार्ग पर लगकर अपना भविष्य उज्ज्वल बना रहे थे। कुछ ऐसे भी भिक्षुक थे जिन्होंने काम छोड़ दिया था और अब पुनः उन्होंने वही पुराना धन्धा प्रारम्भ कर दिया था। पर अब नगर का सारा वातावरण ही बदल गया था। सभ्य और शिक्षित लोगों के समक्ष जब लोग भीख माँगते हुए सामने आ जाते, तो उनका यही उत्तर होता—"अरे मूर्ख, भिक्षुक-संघ में क्यों नहीं चला जाता? पैसे के लिए हाथ पसारते हुए तुझे शर्म भी नहीं आती! जा, अब पैसा नहीं मिलेगा, फिर कभी इधर न आना!"

ऐसे कुछ लोग जब सप्ताह-दो-सप्ताह बाद फिर काम पर आ गये, तो दिवाकर ने उन्हें पहले उनका हित-अहित समझाया; और फिर उनको काम पर लगा लिया।



: २१ :

वसन्त न्यायालय का निर्णय सुनकर घर आने के बजाय चुपचाप गोमती की ओर चल पड़ा। वह उदास-चित्त धीरे-धीरे पैदल ही चला जा रहा था। अचानक उसने देखा—सामने काफी दूरी पर विज्ञान किसी से बातें करता हुआ उसी की ओर आ रहा है। उसकी दृष्टि में पड़ने से पूर्व ही वह सड़क छोड़कर एक गली में मुड़ गया। किसी प्रकार परिचितों की दृष्टि से बचता हुआ अब वह गोमती के किनारे-किनारे पूर्व की ओर चल रहा था। मुख्य मार्ग से तनिक हटकर वह एक वृक्ष की छाया में बैठ गया।

अब सारी प्रतिक्रियाएँ सिमिट कर एक ही केन्द्रविन्दु पर आ गयी थीं। अभियोग में यदि वह पराजित हो गया, तो वह फिर करेगा क्या ? कालेज में उसके जो साथी प्राध्यापक हैं, वे जब पूछेंगे कि परिणाम क्या हुआ, तो मुझसे यह कहा कैसे जायगा कि मैं हार गया हूँ। हार जाने की बात मेरे मुँह से निकल ही नहीं सकती। बड़ी देर तक इधर-उधर टहलता हुआ वह अपने को एक तराजू पर तौलता रहा, एक कसौटी पर कसता रहा, मैं इसे सहन कर सकूँगा ? मैं खरा साबित हो सकूँगा ?

उसका मुँह गोमती की ओर था। उसके कपड़े पसीने से भीगे हुए थे। जेब से रूमाल निकालकर उसने मुंह पोंछा, फिर इधर-उधर देखते हुए उसकी दृष्टि पुनः नदी की धारा पर जम गयी। वह सोचने लगा—इसे कोई ऐसा हुक्म क्यों नहीं सुना देता कि इसका सतत-प्रवाह रुक जाय ! तभी उसकी दृष्टि थोड़ी-सी हटकर बाँध पर जा पड़ी। पहले उसे

यह सोचकर हँसी आ गयी कि इस बाँध की आयु कितनी हो सकती है ! किन्तु तत्क्षण उसकी भृकुटियाँ तन गयीं और निचले ओंठ को दाँतों से भींचते हुए उसने जी भरकर एक साँस ली । पसीने की बूँदें माथे पर फिर झिलमिला आयी थीं । यकायक उसने दायें हाथ की मुट्ठी बाँध ली और बड़ी देर तक वह उसी पर दृष्टि गड़ाये रहा...।

अब वह अँगड़ाई लेता हुआ उठ खड़ा हुआ और नगर की ओर चल पड़ा । थोड़ी दूर चलने पर उसने देखा—एक खाली रिक्शा नगर की ओर जा रहा था । उसने तनिक ज़ोर से कह दिया—

"ए रिक्शावाले !"

रिक्शा एक झटके साथ रुक गया । वसन्त ने तनिक बढ़कर रिक्शे पर बैठते हुए कह दिया—"हज़रतगंज ।"

वह बैठा-बैठा सोच रहा था—'रिक्शेवाले को लेकर ही उस दिन राकेश से विवाद प्रारम्भ हुआ था ।'

"बस, यहीं रोक दो !" कथन के साथ उसने जेब से एक चवन्नी निकाली । अब हज़रतगंज की मुख्य सड़क आ गयी थी । रिक्शा एक बार सामने आकर रुक गया । चालक के हाथ में चवन्नी रखकर वसन्त नतशिर कुछ सोचता हुआ एक द्वार के भीतर चला गया । किन्तु थोड़ी देर के पश्चात् वह बाहर निकल आया और किंचित् शीघ्रतापूर्वक एक ओर चल पड़ा । लाल बाग़ रोड के निकट आकर उसने एक रिक्शा बुलाया और उस पर बैठते हुए कह दिया—"अमीनाबाद !"

अब संध्या हो चुकी थी । वसन्त बैठा-बैठा कभी भृकुटियाँ तान लेता कभी ओंठ भींच लेता । अमीनाबाद से गणेशगंज पहुँचकर एक ज़ीने के सामने उसने रिक्शा रुकवा दिया । रिक्शा-चालक को पैसे देकर वह तुरन्त उतर पड़ा । ज़ीने के द्वार पर दस्तक देते हुए उसने आवाज़ दी—"मनोहर ! मनोहर !!"

मनोहर ने सामने आकर उसे पहचानते हुए कह दिया—"अरे !

आप ! बाहर से जंजीर खड़का रहे हैं, आवाज़ भी दे रहे हैं, पर भीतर नहीं आते !

"आइये । देखता हूँ आज कुछ उखड़े-उखड़े से जान पड़ते हैं ! क्या बात है ?"

"आऊँ क्या, तुमसे एक आवश्यक बात कहनी है । एक मिनट के लिए यहीं आ जाओ !" कथन के साथ वसन्त एक निश्वास लेता हुआ उतरकर सड़क पर खड़ा हो गया ।

शीघ्र ही मनोहर भी सामने आकर बोला—"कहिये, क्या आज्ञा है ? मुकदमे में क्या हुआ ?"

"ज़रा इधर आओ", कहते हुए वसंत ने उसका हाथ अपने हाथ में ले लिया, फिर आर्यसमाज की ओर धीरे-धीरे बढ़ता कुछ कहते हुए चल पड़ा ।

कुछ दूर जाने के पश्चात् दोनों फिर लौट पड़े । एक ज़ीने तक जाकर वसंत बीच में ही खड़ा हो गया और मनोहर ऊपर चला गया । उसने लौटकर चमड़े का एक छोटा पैकेट-सा वसंत के हाथ में देते हुए पूछा—"और ?"

"बस धन्यवाद" कहते-कहते वसंत मुड़ गया और बाहर आकर पहले इधर-उधर घूमने लगा ।

रात के नौ बज गये थे । मौलश्री बार-बार छज्जे पर आकर इधर-उधर देखती और फिर खीझती-सी लौट जाती । वसंत अभी तक घर नहीं पहुँचा था ; यद्यपि मुकदमा हार जाने का समाचार मौलश्री को मिल गया था । इसीलिये ज्यों-ज्यों देर हो रही थी मौल श्री की चिन्ता अधिकाधिक बढ़ती जाती थी । नव शिशु की ओर देख-देखकर जो स्वामी का स्मरण करती तो उसकी आँखों में बारम्बार अश्रु छलक आते, जिन्हें वह

आँचल से पोंछ लेती और फिर छज्जे पर आकर सड़क देखने लगती।

वसंत की भावुकता से वह अब तक परिचित हो चुकी थी। रह-रहकर उसका मन भयानक आशंकाओं से आक्रान्त हो उठता और हृदय की धड़कन बढ़ जाती।

इतने में किसी ने ज़ीने के द्वार पर दस्तक दी। मौलश्री ने तत्काल द्वार खोल दिया। किन्तु सामने वसंत के स्थान पर किसी और को देख कर वह शीघ्रता के साथ पीछे हट गयी।

"वसन्त जी नहीं हैं क्या? आगन्तुक ने अपना अनुमान व्यक्त किया।

मौलश्री ने ओट से ही उत्तर दिया—"अब तक तो नहीं आये। आप.........?"

"आज मुकदमे की तारीख थी। मैं जानना चाहता था कि क्या हुआ?"

"उन्हीं से पता लगेगा।" कहकर मौलश्री ने द्वार बन्द कर लिया।

आगन्तुक कुछ सोचते से धीरे-धीरे सड़क पर आकर एक ओर चले गये। तभी दूसरी ओर से एक और व्यक्ति ने आकर कुंडी खड़खड़ाते हुए आवाज़ दी—"बसन्त भाई! ओ बसन्त भाई।"

मौलश्री अभी जीना चढ़कर कमरे में भी न पहुँच पायी थी। उसने वहीं से चीखते हुए कह दिया—"अभी बताया तो था कि वे अभी नहीं आये। आप न जाने कैसे आदमी हैं कि फिर भी आवाज दिये जाते हैं!"

आगन्तुक पहले तो एकदम सिटपिटा गया। किन्तु फिर कुछ संयत होते-होते उसने कह दिया—"अभी तो मैंने आवाज़ ही दी है आकर। आपने कब बता दिया कि वसंत भाई नहीं हैं? ख़ैर नहीं हैं तो न सही।" और कथन के साथ-साथ वह भी लौट गया।

अब रात्रि के साढ़े दस बज गये थे। वसन्त अब भी घर नहीं आया था। इस बार उसी को देखने मौलश्री जो छज्जे पर आयी, तो देखा पड़ोसिन—'सुकुलाइन'—भी छज्जे पर खड़ी हैं। उन्होंने मौलश्री को

देखते ही हँसते हुए कह दिया—"क्या बात है ? आज भीतर चैन नहीं पड़ रही तुम्हें ?"

"तुम्हें चैन की ही पड़ी रहती है ! ग्यारह बजने को हैं और वे अभियोग का निर्णय सुनकर अब तक नहीं लौटे !"

"अच्छा, तब तो चिन्ता की बात ही है। क्षमा करना बहन। मुझे पता न था।" कथन के साथ सुकुलाइन अपने कमरे में चली गयी। पुत्र-वती हो जाने के बाद मौलश्री के प्रति उसके भाव बदल गये थे।

मौलश्री सोच रही थी—'जाने कब आयेंगे। अब तो मुहल्ले-भर में सन्नाटा छा गया है। छज्जे से धीरे-धीरे हटकर बाहर देखते हुए उसने कमरे का द्वार बन्द कर लिया। अनन्त जगकर रोने लगा था उसी के पास जाकर मौलश्री लेट गयी और उसे दूध पिलाने लगी।

अर्धरात्रि का समय। दक्षिण की ओर से, जहाँ एक राजपथ गन्दे नाले के साथ-साथ जाता है, तीन व्यक्ति चुपचाप नगर की ओर चले आ रहे थे। चतुर्दिक व्याप्त नीरवता को भंग करने में इन तीनों के पश्चात् ही प्रमुख थे। यकायक सड़क के उत्तर की ओर के बगीचों से पों···पों···का तीव्र स्वर गूँज उठता। कभी-कभी निकट से ही एक सियार बोल उठता हुक्का हुआ···हुक्का हुआ !

इस आकस्मिक तीव्र स्वर से तीनों व्यक्ति ठिठक गये। तभी एक सियार सड़क पार करता हुआ इन लोगों के आगे से निकल भागा।

"······अरे। यह तो रास्ता काट गया !" गुमानसिंह के मुँह से निकल गया।

"अरे भाई, रास्ता तो ज्यों-का-त्यों है, कटा कहाँ है ? सियार उस

पर से ज़रूर चला गया है। मुझे तो इसमें कोई चीज़ कटी जान नहीं पड़ती !"

यह स्वर वसन्त का था।

"वाह वसन्त बाबू ! खूब बहस करते हैं आप।" गुमानसिंह बोला।

वसन्त सोच रहा था—'कोई-कोई तर्क इतना जड़ होता है कि वह निर्णायक की भावना को ही बदले देता है। हमारे साथ भी ऐसा ही हुआ वकील विंध्येश्वरीप्रसाद ने कहीं कह दिया—"ऐसा कभी नहीं होता कि माँ घर बैठी रहे और पुत्र उसके जेवर वेचकर खर्चा चलायें और राय लेना दूर रहा, माँ को इसकी सूचना भी न दें !" उसकी इसी बात पर विरोधी वकील ने कहा था—"माई लार्ड साफ़ ज़ाहिर है कि वसंत ने अपने भाई राकेश का हिस्सा हड़पने के लिये खर्च का जाली व्योरा पेश किया। और दूसरी बात मुझे यह कहनी है कि जब गहने बेच डाले गये, तब वसन्त ने यह प्लाट कैसे खरीदा ? क्योंकि गहनों की रक़म तो उसने पढ़ाई में खर्च कर दी !"

इस पर मेरे वकील ने इस बात पर ज़ोर भी दिया कि 'परिवार सम्मिलित था, माई लार्ड ! माँ ने अपने सारे अधिकार बड़े लड़के को सौंप रखे थे। इस पर विरोधी वकील बोला—'हो सकता है कि प्लाट ख़रीदते समय उसका कोई बदला हुआ इरादा न रहा हो। लेकिन विवाह के बाद जब भाई अलग हो गया, तो उसकी भावना (सेन्टिमेन्ट्स) को ऐसा धक्का लगा हो, तब उसने अपना इरादा बदल दिया हो। तो यह सारी घपलेबाजी हमारे वकील की है।...हाँ, ऐसा भी तो हो सकता है कि कैलाश बाबू का जज पर प्रभाव पड़ गया हो। खैर जो कुछ हो गया, हो गया। नियति का ऐसा ही विधान था।

'लेकिन अपनी हार को नियति का विधान कहकर जो व्यक्ति अपना समाधान कर लेता है, उसे कायर समझना चाहिये !...तब तो मुझे इस अभियोग में पुनः अपील करनी चाहिये।

'हूँ! अपील करनी चाहिये और उसमें हार जाऊँ, तो फ़िर उसकी अपील करनी चाहिये ! अब यह सब बेकार है। हम अपने मार्ग पर जा रहे हैं।'

अब धीरे धीरे उसके कल्पना-लोक पर भविष्य का एक चित्र अंकित होने लगा।

'एक दिन वसन्त भी इस संसार में न रहेगा, उसका शरीर भी इसी धरती की गोद में समा जायगा। उसकी सारी योजनाओं का अन्त हो जायगा। दोनों परिवारों के बच्चे वयस्क होंगे। एक ही माता-पिता की दो सन्तानों के बच्चे परस्पर मिलेंगे। मिलकर वे घृणा से मुँह फेर लेंगे। एक कहेगा जब मैं गर्भ में था, तब इसके पिता ने मेरे पिता की हत्या करवाई थी।"

'और दूसरा कह देगा—'इसी के पिता की हत्या कराने में मेरे पिता को आजीवन कारावास का दण्ड भोगना पड़ा था !"

भावना में जड़ता के स्थान पर अब आर्द्रता आने लगी थी—'मेरा बच्चा अनन्त जिस गली से निकलेगा, लोग उसे देखकर अँगुली उठाकर कहेंगे—यों लड़का बुरा नहीं है; कभी-कभी बात करने की तबियत भी होती है। पर प्रश्न उठता है कि वह सन्तान किसकी है? उसी की न, जिसका मुँह देखना भी पाप है !···पास बैठाकर बात करने की सारी भावना ही मर जायगी।—जबकि भिक्षुक-संघ के भवन में अपने पिता का चित्र देखकर राकेश के पुत्र का मस्तक गौरव से ऊँचा उठ जायगा !'

'हाय रे दुर्भाग्य !—उस समय कोई भी इस बात पर विचार नहीं करेगा कि इस हत्या के मूल में कितना बड़ा विश्वासघात है ! यह कोई नहीं सोचगा कि इस विधा और विनियोग में घृणा और वितृष्णा की जो दीवार खड़ी थी, उसकी नींव किसने डाली थी ! नींव की ईंटें किसकी रखी हुई थीं। तब लोगों को यह कौन बताएगा कि राकेश तो उस निर्माण को भी अस्वीकार करता था, जो उसके भाई वसन्त का था।

एक निःश्वास···।

'आज कोई यह बात सोचने के लिए तैयार नहीं कि कला के साथ इसका विवाह न होता, तो मेरा क्या बिगड़ता था ! मैंने तो यही सोच-कर उसके साथ विवाह की भावना को जन्म दिया कि जो वस्तु मुझको नहीं प्राप्त हो सकती, वह राकेश को ही प्राप्त हो जाय। कुछ भी हो, है तो मेरा भाई ही !

गुमानसिंह ने कह दिया—"हम यह कभी नहीं सोचते कि क्या ग़लत है, क्या सही। हम तो जिसकी रोटी पर पलते है उसी के संकेत पर चलते हैं। हम तो अब भी तैयार हैं कि आप समझौता कर लें।"

वसन्त ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह सोच रहा था—कैसा समझौता ! यहाँ समझौता करने का कोई अवसर ही नहीं। विवाह होने के बाद मेरे साथ चार मास भी राकेश का रहना दुष्कर हो गया !" मैंने तो यहाँ तक समझौता किया कि उस कला को उसके हाथ में सौंप दिया, जिसका क़हना था—"अच्छा तो काफ़ी ही पीते जाइये। काफ़ी तो आपको अच्छी लगती होगी।"

एक मुसकान। कल्पना में मुस्कान, जो ईश्वर की देन है।—'काफ़ी तो आपको अच्छी लगती होगी।'

कल्पना में वसन्त देखा—अधरों का कम्पन···एक विमल हास।

'साथ ही उसने कहा—'प्रिय होगी मेरा मतलब है।···देखिये भाई साहब, आप मेरी बनाई हुई काफ़ी पिये बिना चले जायेंगे, तो आप समझते हैं कि मुझे अच्छा लगेगा ! अगर यही बात मुझे दिन में कई बार स्मरण आये कि आपने मेरा आतिथेय स्वीकार नहीं किया, तो···!'

'कला का कोई दोष नहीं है। उसके शब्द-शब्द में शिष्टाचार के रूप में कितनी श्रद्धा थी। यह राकेश ही है, जिसने उसके हृदय में, कण्ठ में, कल्पना और व्यवहार में फाँसें और काँटे डाले और बिखेरे !'

एक निःश्वास !

'मौलश्री ने कहा था—फिर भी हम भूलें करते जाते हैं !'

'ऐसा भी तो हो सकता है कि कला ने अपनी सभ्यता का उच्च स्तर दिखाने के लिये ही ये बातें की हों और मैंने उसके आधार पर अपने-आपको और साथ ही उसको भी वह समझ लिया हो, जो वास्तव में है नहीं।

'हो तो सकता है। रही अपनी बात, सो यह मैं कैसे मान लूँ कि कि मैं अपने को भी नहीं समझता ! मेरे भीतर अगर कोई हिंसक पशु बैठा है, तो क्या उसका उत्तरदायित्व मेरे ऊपर नहीं है !'

'तो उन आधारों को क्या कहा जायगा जिन्होंने इस राक्षस को मेरे भीतर उत्पन्न किया है ?

'चिन्ता नहीं कि कल से मेरी दुनिया बदल जाय और महीनों मुझे अज्ञातवास करना पड़े !'

'मगर फिर मौलश्री अकेली कैसे रहेगी ! और मैं अनन्त को कैसे देख पाऊँगा !'

वसन्त को अपने भीतर कुछ दुर्बलता का भान हो रहा था। मैं ऐसा दुस्साहस करने तो जा रहा हूं; लेकिन इसका परिणाम क्या होगा ? मौलश्री, अनन्त, कला के हाथ की चूड़ियाँ, उसकी माँग का सिंदूर, पैर की पायल, माता का रुदन ! उफ़ !

'लेकिन···अब-लेकिन-वेकिन कुछ नहीं। जो तय किया, सो किया। बहुत होगा, मैं जेल चला जाऊँगा !'

'पर मैं इतना घबरा क्यों रहा हूँ ! अभी सब कुछ मेरे हाथ में है।'

गुमानसिंह बोला—"देखता हूँ, आप बहुत थक गये हैं। आपके पैर नहीं उठ रहे हैं।" और सुजानसिंह ने करौली पर हाथ रखते हुए कहा—"वसन्त भाई, ऐसा करो, अब हम कोई इक्का कर लें। मेरे लिये तो ऐसी कोई बात नहीं—रात-दिन चलता रह सकता हूँ। लेकिन आप मेरे साथ नहीं चल सकते।"

वसन्त को अपने ऊपर हँसी आ गयी।—'सुजान कहता तो ठीक है,

उसके साथ मैं कब तक चल सकता हूँ ! कब तक इन लोगों का साथ दे सकता हूँ ! क्योंकि होनहार को कोई नहीं जानता ।...अच्छा, अगर राकेश को किसी तरह मेरे षड्यन्त्र का पता लग गया हो तो !'

'नहीं, नहीं । इन सब मामलों में राकेश बिलकुल बुद्धू है । ऐसा भोला, जैसे अम्मा का दूध पीकर अभी-अभी उसने गोदी से मुँह निकाला हो ! यहाँ तक कि उसके होठों का रँग दूधिया बन गया हो ! ...तो ऐसे अपने छोटे और भोले, श्रद्धालु, कर्मठ, तेजस्वी और देश-भक्त, यशस्वी और भावी नेता की हत्या ! और मैं वसन्त, होनहार कवि... उफ़ ! मैं यह क्या करने जा रहा हूँ !...मैं यह क्या करने जा रहा हूँ !

सोचते-सोचते यकायक वह सड़क की पुलिया के एक किनारे पटिया पर बैठ गया । इस समय उसका दायाँ हाथ उसके मस्तक पर था ।

सुजानसिंह बोला—"चाय की उस दुकान के पास जो बिजली का खम्भा है न, वहाँ दो रिक्शे खड़े हुए हैं । चलो चलें, एक पर वसन्त भाई बैठ जायेंगे और दूसरे पर हम दोनों ।

वसन्त सोचने लगा—'हाँ-हाँ, ठीक तो है । हम अकेले रिक्शे पर बैठकर इन दोनों पशुओं को हाँक देंगे । कह देंगे—'जाओ, अब जरूरत नहीं रह गयी ।'

फिर न जाने क्या निश्चयकर वह उठ खड़ा हुआ ।

गुमानसिंह और सुजानसिंह आगे-पीछे चले जा रहे थे । वसन्त यह सब सोच ही रहा था कि रास्ते में एक पत्थर सामने पड़ गया । तब उसकी चेतना को पुनः एक धक्का लगा । उसके मन में आया—राकेश भी इसी तरह मेरे मार्ग का पत्थर बन गया है ।

'मगर ऐसा नहीं है कि उसका तर्क मेरी समझ में न आता हो । हो सकता है, वही अपनी जगह ठीक हो । उसे रिक्शेवाले का ध्यान हो आया—मैंने जब उसे समझाना चाहा—तब, उसके शब्द थे—'लेकिन दर्द के साथ भैया, कैसा भविष्य और कैसा निर्माण !'

"बात उसने ठीक कही थी ; मेरे भीतर भी दर्द उठा है ; और मैं भी सोचता हूँ कि अब भविष्य के निर्माण का मेरे सामने कोई प्रश्न नहीं !

'राकेश ने कहा भी तो था—यह प्रश्न तो सब के साथ है। मैं मनुष्य हूँ और मानवता की पुकार को सुन सकता हूँ !

'हूँ ! वह मानवता की पुकार को सुन सकता है। लेकिन बड़े भाई की अन्तरात्मा की पुकार को नहीं सुन सकता ! छिः !!

यकायक उसकी आँखों में अश्रु उभर जाये, तब रूमाल से चुपचाप उसने अपने को छिपाते हुए उन्हें पोंछ डाला ; एक स्वर उसके भीतर उठा—'इन आँसुओं को मैं अपने पास न फटकने दूँगा। यह तो मेरी दुर्बलता प्रकट करने लगते हैं। जब कि मैं कहीं से भी दुर्बल नहीं हूँ !

सुजानसिंह ने बाएँ हाथ से मूँछ को ऐंठते हुए कह दिया—"भाई साहब, हमारा तो यह नित्य काम है। सामने आया, कर उठाया ! बहुत हुआ तो जेल में चक्की पीस आये। बाहर निकले, तो फिर वही धन्धा ! लेकिन हम ऐसे लोगों से बहुत घबराते हैं जो आपकी तरह गुमसुम बने रहते हैं। हम जो एक बार तय कर लेते हैं, उसे फिर करके ही मानते हैं !"

वसंत राकेश के इस कथन पर सोच रहा था—'भइया मैंने तुम्हारे सम्बन्ध में ऐसा कभी नहीं सोचा था !' इस कथन के समय उसकी आँखों में आँसू थे—"अगर मैं गलती पर हूँ, तो मेरे मुँह पर थप्पड़ मार दीजिये। लेकिन मेरे मन में आपके प्रति जो श्रद्धा है, उस पर लात मत मारिये !"

एक निःश्वास और फिर मौन।

अब ये लोग नगर में प्रविष्ट हो चुके थे। धीरे-धीरे अमीनाबाद पहुंचने पर उन्होंने देखा—राकेश के द्वार पर ताला लगा हुआ है। तब वे एक-दूसरे का मुँह देखने लगे।

बसन्त ने लौटने के लिए ज्योंही मुँह फेरा, तो देखा—कुछ दूर पर बत्तीवाले खम्भे के नीचे से जो ताँगा आ रहा है, उस पर आगे राकेश बैठा हुआ है।

उसने सोचा—'पीछे एक ओर कला और दूसरी ओर अम्मा होगी।'

तब बहुत शीघ्रतापूर्वक बरामदे में पड़ी बेन्च की ओर बढ़ते हुए उसने धीरे से कह दिया—"लो, वे लोग आ गये!"

गुमानसिंह और सुजानसिंह इक्के की खड़खड़ाहट और घोड़े के पैरों की आवाज़ सुनकर पीछे हो गये। फिर तीनों उस बेंच के पीछे दुबककर खड़े हो रहे। बसन्त ने फुसफुसाहट के स्वर में कह दिया—"इन तीनों में जो पुरुष आगे है, वही··· !"



: २२ :

अपनी ही दृष्टि में वसन्त अब अपराधी था। शंकात्मक कल्पनाओं से वह इतना बिद्ध हो गया था कि ठीक-ढंग से यह स्थिर ही न कर पाता था कि उसे अब क्या करना चाहिये। समाज के प्रति ही नहीं, अपने उन मित्रों के प्रति भी वह इतना आशंकालु बन गया था कि यकायक उन्हें समक्ष देखकर वह यही सोचने लगता—'यह विष्णु भी सम्भव है, मुझे दोषी समझता हो। ···हालाँकि यह स्वयं अपने पिता को थप्पड़ मारने का अपराध कर चुका है, पर स्पष्ट देखता हूँ कि फिर इसका मुँह काला नहीं हुआ। किसी भले आदमी ने इसका वहिष्कार नहीं किया। लोग अब भी पास बैठाकर इससे हँसकर बोलते और प्रेम से बातें करते हैं।"

'हूँ, तो असल बात यह है कि हमारे समाज की शक्ति नष्ट हो चुकी है। जीवन व्यापार बन गया है। कोई आदमी खुलकर बात नहीं करता। सब अपना स्वार्थ देखकर चलते हैं। जिस दिन इसने अपने पिता के थप्पड़ मारा था, उसी दिन मकान के शेष किरायेदार अगर इसके हाथ का पानी पीना बन्द कर देते, तो यही पिता के चरणों पर नाक रगड़कर आँसुओं से उन्हें धो-धोकर क्या अपने पाप का प्रायश्चित्त करने को विवश न होता ?···हूँ, तो भीतर से हम सभी खोखले हैं !'

एक बार उसके मन में आया, वह कैलाश बाबू के पास जाय और अपना कच्चा चिट्ठा उनको सुना दे। उनसे कहे कि आप ही निर्णय कर दीजिये। परन्तु फिर उसके मन में आया—'मैं यह क्या सोच रहा

हूँ ? अभियोग उन्हीं ने चलवाया और फिर उन्हीं ने राकेश को मुझसे अलग करवाया ।'

'और माताजी ?'

'देखने में कितनी सीधी, बिलकुल देवी जान पड़ती हैं ; लेकिन, उनके भीतर कितना छल-कपट है ! राकेश ही उनका सब कुछ है ! मैं कुछ नहीं हूँ !'

"और ये कैलाश बाबू ?"

"उनका क्या कहूँ ? कितनी श्रद्धा रखता था मैं इस व्यक्ति के प्रति ! वह भी इस प्रवाह में बह गये । उन्होंने भी मेरी स्थिति की ओर ध्यान नहीं दिया । मगर इस बात का कोई जवाब नहीं है कि प्लाट की किश्त जमा करने में मैंने बड़ी जल्दबाजी की ! अगर मैं चेष्टा करता और रुपये जमा करने के लिये थोड़ा समय और माँग लेता !—इसमें क्या बुराई थी ? और पंखा और सोफ़ासेट साल-छः महीने तो रखा ही जा सकता था । मकान तो हमको बनवाना ही था !"

"मनुष्य कभी-कभी कोई ऐसी भूल कर जाता है जिसका दाग जीवन-भर नहीं छूटता ! मेरा अपराध भी कुछ ऐसा ही है !"

"तो जब आघात पहुँचता है, भीतर से वेदना का स्वर फूटता है और मुख से आह निकलती है, आँखें तभी खुलती हैं, ज्ञान तभी होता है ; तभी हम यह समझने का अवसर पाते हैं कि रोग कितना बढ़ गया है । हो सकता है, बिना सोचे-समझे काम करते रहने का ही यह दुष्परिणाम हो !"

एक निःश्वास और फिर चिन्तन—'ओः ! एक बज गया ! बोली—"मौलश्री !"

पास ही मौलश्री की चारपाई पड़ी थी, जिस पर अनन्त पड़ा सो रहा था । यकायक वसन्त की दृष्टि उस पर जा पड़ी ।

तभी मौलश्री बोली—"क्या कुछ कहा तुमने ?"

"अरे ! कोई कपड़ा तो इसके ऊपर डाल दो। आज हवा बहुत ठण्डी चल रही है और खिड़की भी खुली है। कहीं सरदी न लग जाय। आज इसको टेम्परेचर तो नहीं रहा ?"

'कहीं इन्होंने पहले भी इसी भाँति बच्चों की परवाह की होती !' सोचती हुई मौलश्री बोली—"नहीं। फिर भी डाक्टर साहब आये थे। कहते थे—अब सब ठीक है।"

वसन्त ने एक बार मौलश्री के मुख की ओर देखा और कह दिया—"और तुमने अपने लिये नहीं पूछा ?"

मौलश्री के मन में आया—'सचमुच बिलकुल बदल गये हैं।' दंत-पंक्ति की शुभ्र ज्योति झलकने लगी। मुस्कराते हुए, उसने उत्तर दिया–मैं अब उनसे क्या कहती ! चार चपाती तो खा लेती हूँ। दूध अलग आता है। फल ले ही आते हो। अब और क्या चाहिए ?"

"लेकिन, खून क्यों नहीं बढ़ रहा है ? मुख पर वैसी दीप्ति क्यों झलकती ; जैसी पहले रहती थी। अच्छा, कल मेरे साथ चलना। तोलकर देखेंगे। एक सौ बीस पौण्ड था न पिछली बार ? अच्छा, तुमको खुद नहीं मालूम पड़ता कि वजन कितना बढ़ा होगा ?"

मौलश्री मुस्कराने लगी।

वसन्त फिर लेट गया। बोला—"अब तुम भी लेट जाओ, सो जाओ। मुझको तो आजकल नींद आती नहीं, मगर तुमको तो आनी चाहिए।"

मौलश्री बोली—"तुम मानो, चाहे न मानो। ग़लती अम्मा की नहीं, तुम्हारी है। भैया के जन्म लेने पर अगर तुम माँ को लिवा लाते, तो बिगड़ा हुआ खेल बन जाता।"

"ठीक है। सब ग़लती हमारी है। सबसे बड़ी ग़लती तो यह है कि हम पैदा ही क्यों हुए ! दूसरी यह है कि पैदा हुए भी तो मर क्यों नहीं गये, जीवित क्यों रहे ! तीसरी यह है कि हमने उन इच्छाओं को ही क्यों जन्म लेने दिया, जिनकी पूर्ति पर हमारा कोई वश नहीं था।

हमने यह महत्वाकांक्षाएँ ही क्यों पालीं ? सिर उठाकर हम चले क्यों ! खैर ! ये सब ग़लतियाँ हो गयी थीं। उसके बाद सबसे बड़ी गलती हमसे यह हुई कि हमने न तो अपने को समझा, न इस जगत् को !"

वसन्त को इस समय कुछ ऐसी घटनाओं का स्मरण हो आया, जिनके पाप का प्रभाव अब तक उसकी अन्तरात्मा से निकला न था। फलतः उपर्युक्त बात कहते-कहते उसकी आँखों में आँसू आ गये।

मौलश्री कुछ न बोली और वसन्त ने धोती से आँसू पोंछ डाले फिर करवट बदलते हुए उसने कह दिया—"सो जाओ मौलश्री।"

मौलश्री ने अनुभव किया कि स्वामी का कंठ-स्वर भर्राया हुआ है। वे आँसुओं की भाषा में बोल रहे हैं।

वसन्त सोच रहा था—···'तो स्थिति यह है कि मौलश्री भी मुझीको अपराधी समझती है !'

इतने में पानी बरसने लगा। वर्षा का स्वर सुनकर वसन्त ने कह दिया—"खिड़की बन्द कर लो। बूँदें भीतर आ रही है।"

मौलश्री ने खिड़की बंद कर ली।

वसन्त सोचने लगा—'जाने राकेश ने हीटर मँगवाया होगा या नहीं !······मँगवा लिया होगा। मगर मोटर पर घूमते हुए मैंने उसे नहीं देखा। किसी सड़क पर किसी दिन दिखलाई नहीं पड़ा। किसी ने कोई समाचार भी नहीं दिया। और यह विज्ञान कितना तोता-चश्म निकला। इसने भी राकेश को नहीं समझाया कि तुम यह क्या कर रहे हो ! हो सकता है, वह भी मुझको अपराधी समझता हो। मगर मैं उसको क्यों दोष दूँ ? मैं स्वयं भी तो अपने को अपराधी समझता हूँ !'

एक निःश्वास—'तो यह ज्वाला कभी शांत न होगी। मैं इसमें रात-दिन जलता रहूँगा। अच्छा, क्या ऐसा नहीं हो सकता कि मुझे···! नहीं, ऐसा कभी हुआ है ! कहते हैं, ऐसे आदमी बहुत दिन जीते हैं। तो आज नहीं आयेगी। हो सकता है, कभी न आये। और आये भी

तो एक साथ—सदा के लिये आ जाय ! ···मैं पागल तो नहीं हो हो जाऊँगा ! क्योंकि जान कुछ ऐसा ही पड़ता है कि शुभारंभ हो गया है ! फिर वह मन-ही-मन हँस पड़ा—'अगर कहीं इस समय मैं वास्तव में पागल हो जाऊँ, तो आनन्द तो आ जाय ! कला, राकेश, अम्मा सब-के-सब पुलकित हो उठें ! मगर नहीं। मैं उनके साथ अन्याय नहीं करूँगा। जितना कर लिया है उतना ही यथेष्ट है। सब-के-सब मुझे देखने आयेंगे। हो सकता है अम्मा रो पड़ें और राकेश की सारी शांति छिन्न-भिन्न हो जाय ! मगर यह बात कितनी विलक्षण है कि भगवान चाहे क्षमा न करे, मगर मृत्यु सारे अपराध क्षमा कर देती है ; क्योंकि उसके पश्चात् संसार का मत ही बदल जाता है।' सहसा उसकी दृष्टि बायें हाथ की कलाई पर जा पड़ी।

अब डेढ़ बज रहा था और पानी बरसना भी बन्द हो गया था। धीरे-धीरे उसने पुकारा—"मौलश्री !"

कोई उत्तर नहीं मिला, तो उसने मन-ही-मन कह लिया—'चलो यह भी अच्छा हुआ कि इसे नींद आ गयी। फिर यकायक वसन्त उठा और उसने छत के बीच का बिजली का बल्ब जला दिया, जो साठ कैंडिल-पावर का था। तब उसकी दृष्टि अनन्त के मुख पर जा पड़ी—'गोल-मटोल, गुलाबी, सिर पर नन्हें-नन्हें रेशमी केश। अच्छा ! बिलकुल माँ को पड़ा है !'

तब वसन्त ने खिड़की खोल दी। फिर बत्ती बुझा दी और वह स्वयं लेट रहा। एक बार मन में आया—'अब मुझे सो जाना चाहिये। वैसे मैं सो ही रहा हूँ। नहीं मैं सोता हुआ जग भी रहा हूँ ·· या जागता हुआ सो रहा हूँ। मैं स्वयं अपने में एक प्रश्न हूँ—एक समस्या। जग भी रहा हूँ—सो भी रहा हूँ।'

अब अक्तूबर मास चल रहा था। वर्षा-ऋतु समाप्ति पर थी और दिवाली आ रही थी। जनता में नया उल्लास दृष्टिगत हो रहा था। यत्र-तत्र फुटपाथ पर लैया, खीलें, चिवड़ा, गट्टा, चीनी के खिलौने आदि की दूकानें सज-धज के साथ लगी हुई थीं। कहीं सड़क पर मिट्टी के खिलौने, बर्तन, पियाली, पियाले आदि की दूकानें लगी हुई थीं। राकेश ने देखा कि सड़क पर फटी मैली कमीज़ पहने हुए एक बालक खड़ा-खड़ा रो रहा है। अपने स्वभाव के अनुसार उसने उसके निकट जाकर पूछा—"क्यों रोते हो ?"

सिसकियाँ भरते हुए बालक ने कहा—"ऊँ-ऊँ, बप्पा ने मारा है।"

"तुमने कोई बदमाशी की होगी।"

"मैंने कुछ नहीं किया। जब कोई पैसा ही नहीं देता, तो मैं क्या करता !'

"तुम्हें कितने पैसे चाहिये ?"

बालक सोचने लगा।

इतने में राकेश ने जेब में हाथ डालकर एक चवन्नी उसको दे दी। चवन्नी दे तो दी उसने, पर तभी उसे ध्यान हो आया कि यह तो मेरी मान्यता के विपरीत कार्य हो गया। इस प्रकार तो मैंने भिक्षावृत्ति को प्रोत्साहन दे दिया। ख़ैर, फिर उसने सोचा कि यह लड़का किसी पेशेवर भिक्षुक का जान पड़ता है। इसे सिखा-पढ़ाकर भेजा जाता होगा। तब उसने कह दिया—"चलो, हम तुम्हारे बप्पा के पास चलते हैं।"

लड़का पास की एक गली से होता हुआ राकेश को एक ऐसे मकान में ले गया जो कच्चा, गंदा, सीलन से भरा हुआ और अँधेरे में था। तब यकायक एक जगह, राकेश खड़ा हो गया। उसने पूछा—"यह तुम मुझे कहाँ लिये जा रहे हो ?"

लड़का बोला—"अपने बप्पा के यहाँ; चले आओ।" कथन के साथ लड़के ने राकेश की अँगुली पकड़ ली।

राकेश ने एक क्षण सोचा—'विदेशों से लोग हमारे यहाँ घूमने आते

हैं, वे नयी दिल्ली का वैभव, चौड़ी सड़कें, पक्के बड़े-बड़े महल, होटल, दावतें, ऐतिहासिक स्थल—आगरा का किला, ताजमहल, बम्बई, कलकत्ता और मद्रास, जयपुर दूर क्यों जायँ, इसी लखनऊ का हज़रतगंज इमामबाड़ा यह छतर मंज़िल, जिधर देखो उधर फैले के उद्यान यहाँ के हजरतगंज की शान आदि देख-देखकर हमारे देश की सस्यश्यामला, हरी-भरी रत्नगर्भा भूमि में केवल यहाँ की श्री-समृद्धि का ही दर्शन और अनुमान करते हैं। पर इन्हीं नगरों में ऐसी-ऐसी गंदी गलियाँ भी हैं; जिन्हें देखने का अवसर उन्हें न मिलता है, न दिया जाता है।'

इस विचार के साथ फिर इस गंदगी के भय से कातर होकर एक और बात उनके मन में आयी—'यदि हम भी उनको ठीक-ठीक यथार्थरूप में, देखेंगे, तो इन त्रुटियों का निवारण कैसे करेंगे ?'

राकेश तब अपने को और भी सजग और तत्पर बनाकर उस बच्चे के साथ हो लिया।

मकान के अन्दर इस लड़के का बप्पा जलने वाली लकड़ी का एक डंडा हाथ में लिये हुए अपनी स्त्री को पीट रहा था। नारी रोती और चीत्कार करती हुई बीच-बीच में कहती जाती थी—"मार डालो ! आज तुम मुझे मार ही डालो !"

राकेश का रक्त खौल उठा। वह सोचने लगा—'हमारे देश का यह भी एक स्वरूप है। लोग पढ़े-लिखे नहीं हैं। उनकी जीविका भी नहीं है। लेकिन दुर्व्यसनों से घिरे हुए इतने अधिक हैं कि दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति न होने पर अपनी मानवता भी खो बैठते हैं !'

इतने में यकायक पीटनेवाले का हाथ थम गया और उसने कह दिया—"पैसे नहीं बचे थे, तो कोई जेवर क्यों नहीं बेच डाला !—कभी दाल है, तो कभी आटा नहीं है; चाय है, तो चीनी नहीं है ! मैं बाहर रात-दिन खून सुखाकर और पसीना बहाकर पैदा करता हूँ; और तू घर की रोटी का इन्तज़ाम भी नहीं कर सकती !"

स्त्री ने उत्तर दिया—"नहीं कर सकती ! बाहर निकलने और दर-दर भटकने की मेरी कोई ज़िम्मेदारी नहीं !"

पुरुष बोला—"कोई ज़िम्मेदारी नहीं ! कोई ज़िम्मेदारी नहीं ! लो ! और लो !" और इसके पूर्व कि राकेश घटनास्थल पर पहुँचे, उसने अपनी धर्मपत्नी के दो-चार डंडे और जमा दिये ।

अन्त में राकेश उसके निकट आकर बोल उठा—"क्यों मारते हो ?" जब उस नर-पशु पर उसकी इस बात का कोई प्रभाव न पड़ा, तो राकेश ने उसका हाथ पकड़ते हुए कह दिया—"अरे मैं पूछता हूं, क्यों मारते हो ?"

यकायक राकेश को खादी की स्वच्छ वेश-भूषा में देखकर और उसके प्रभावशाली व्यक्तित्व से प्रभावित होकर वह घपसट में आ गया। कुछ कम्पित स्वर में उसने कह दिया—"मैं···मैं क्यों मारता हूं आपको क्या बताऊँ ! नेताजी हम लोग बहुत गरीब आदमी हैं । किसी तरह भीख माँगकर अपना पेट पालते हैं । और इससे इतना भी नहीं बनता कि वक्त पर खाना तो बना दिया करे !"

"ओः ! तो तुम भी भिखारी जाति के हो ! भीख माँगना तुम्हारा पेशा है !"

यह वार्त्तालाप कुछ ऐसे ढंग से हो रहा था कि पास-पड़ोस की कोठरियों के कई स्त्री-पुरुष बात-की-बात में वहाँ जमा हो गये। अन्त में तो दो बहुत हट्टे-कट्टे बड़ी-बड़ी मूँछोंवाले आ पहुँचे, जिनमें से एक ने भीतर पैर रखते ही दूसरे के कान में कह दिया—'यह वही नेता है जिसने हमारी रोजी ली है !'

उसका इतना कहना था कि दूसरे आदमी ने आगे बढ़कर कह दिया—"आप ज़रा इधर आ जाइये । हमें आपसे कुछ कहना है ।"

राकेश संशय में पड़ गया । तत्काल उसकी समझ में न आया कि वह उस स्थान से कहीं अलग जाय कि न जाय ।

तब तक उस आदमी ने कह दिया—"आइये साहब, आइये न ?

मैंने कहा न आपसे कि मुझे कुछ कहना है।" राकेश उसके साथ चल दिया। एक गलवारा, फिर एक कमरा, कमरे के बगल में दूसरा कमरा, फिर....!

राकेश कोठरी के पास जा पहुँचा, जिसका दरवाज़ा खुला हुआ था।

इतने में उस गल-मच्छवाले व्यक्ति ने तपाक से एक ऐसा धक्का दिया कि राकेश उस अँधेरी कोठरी के भीतर जा गिरा!

गिरते-गिरते उसने सुना, दरवाज़ा बन्द हो रहा है।

उसने जब तक सँभलकर उठने की चेष्टा की, तब तक बाहर की साँकल भी बन्द हो गयी और उसमें ताला जड़ दिया गया!

लड़के का नाम था भगतराम। जो घटना उसके घर पर घटित हो गयी थी, उससे वह भीतर-ही-भीतर एक प्रकार के दुःख प्रवंचना और विश्वासघात का अनुभव कर रहा था। उसके मन में आया, जिसने मुझे पैसे दिये, उसी को मैंने फँसा दिया। यह तो बहुत बुरा हुआ। अच्छा! मैं अभी घर जाकर बप्पा से कहता हूँ। किसी तरह कोठरी खोलकर उनको निकालना ही होगा।...मगर उस दादा के आगे बप्पा की क्या चलेगी भला! अगर उन्होंने उनको छोड़ देने के लिये कुछ कहा भी, तो दादा बप्पा को ही मार बैठेगा। नहीं; यह भी ठीक न होगा।...तो अब मैं क्या करूँ!'

भगतराम की समझ में नहीं आ रहा था कि वह अब कहाँ जाय और क्या करे?

पड़ोस के कुछ लड़के गुल्ली-डंडा खेल रहे थे। भगतराम ने एक बार चाहा कि वह भी उन्हीं लड़कों में मिलकर खेल में शामिल हो जाय। वह दो-चार पग आगे बढ़ा भी। अब सड़क थोड़ी ही दूर रह गयी थी। एक फेरीवाला ठेले पर मूँगफली रखे हुए आवाज़ लगा रहा था—

"बालू की भुनी मूँगफली।" पैसे भगतराम की जेब में थे और पड़े-पड़े उसके मन को कुलबुला रहे थे। तब वह थोड़ा और आगे बढ़ गया।

इतने में कहीं से दिवाकर सामने आ गया। उसका घर पुल के उस पार अहियागंज में था और यह भगतराम अनेक बार उससे एक-एक, दो-दो पैसे ले चुका था। सामने पड़ते ही बोल उठा—"अरे! तुम अब तक कहाँ रहे? मेरे साथ चलो। मैं तुम्हारा काम लगवा दूँगा। छोड़ो यह भीख माँगना। वहाँ तुमको बहुत से पैसे मिला करेंगे। तेरी जिंदगी बन जायगी।"

"तो आप मुझे कहाँ ले चलेंगे?"

"एक ऐसे आश्रम में जो तुम्हारे-जैसे बच्चों और भिखारियों के लिये ही खोला गया है।"

"बाबूजी मैं चलूँगा। मगर, आज नहीं, कल। आज मुझे एक बहुत जरूरी काम है।"

"अच्छा, कल सही।"

राकेश कोठरी के अन्दर जाकर गिर तो पड़ा; किन्तु फिर सँभल कर उठा और दोनों बन्द किवाड़ों को हाथों से धक्का दे-देकर बोल उठा—"खोलो! खोलो! यह क्या बदतमीजी है!"

मगर वहाँ राकेश की बात सुननेवाला कोई न था।

कोठरी के अंदर सीलन तो थी ही, बदबू भी कम नहीं थी। कहीं कुछ दीख नहीं पड़ता था।

यकायक राकेश के बदन से पसीना छूट पड़ा। कुछ भय भी उसे हो आया। फिर वह सोचने लगा—"आज यह सब मैं क्या देख रहा हूँ भगवान्! तुम्हारी यह कैसी रचना है! जो तुम्हारे भक्त हैं, संसार की सेवा का ही जिन्होंने व्रत ले रखा है, उन्हीं को तुम ऐसे संकटों में डालकर

टुकुर-टुकुर देखते रहते हो ! आखिर तुम चाहते क्या हो ? तुम्हारी इच्छा क्या है ?

यकायक राकेश के सारे शरीर में फुरहरी आ गयी। जैसे कोई उसके कान में कह रहा हो–'तुम इसको संकट समझते हो ! फिर अनुभव किसे कहोगे ? तुम्हें पता कैसे चलता कि हमारे इन नगरों के कूचे-मुहल्ले अब भी कैसे धूर्त और बदमाशों के अड्डे बने हुए हैं।'

'ऐसा कुछ होना तो न चाहिये। मेरा जीवन इतना सस्ता तो नहीं है कि इस तरह मैं यहां घुट-घुटकर प्राण दे दूँ और किसी को कुछ पता तक न चले। नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। और उस नर-पिशाच को क्या कहूँ जिसने बिना समझे-बूझे एक प्रतिहिंसा की भावना से मुझे इस अँधेरी कोठरी में बन्द कर दिया ! कितनी अशिक्षा और अंधता, हिंसा और धोखेबाजी हमारे देश में अब तक जीवित है ! और शासन के जो सूत्रधार हैं उनको ऐसे अड्डों का पता तक नहीं है !

'तो इस दुनिया में सब कुछ हो सकता है। जो लोग पेशेवर भिक्षुक हैं वे अगर कभी ऐसा कुछ करते भी होंगे, तो नीचे वाली पुलिस उन्हें ले-देकर छोड़ देती होगी। मगर क्या इन सब बातों पर विचार करने का यही समय है।'

तब एक बार जोर देकर उसने फिर भीतर की सांकल खटखटायी और खूब जोर से चिल्लाकर कहा—"कोई है ! अरे कोई है ! खोलो ! जल्दी खोलो !!"



: २३ :

लज्जाराम एक दंडभोगी बदमाश था। हत्या करने के अपराध में वह सात वर्ष कारागार में व्यतीत कर चुका था। दंड भोगकर जब वह अपने घर लौटा, तो उसकी माँ मर चुकी थी और स्त्री अपने बाल-बच्चों सहित कहीं भाग गयी थी। उसकी खोज में जब वह अपने नाते-रिश्ते के लोगों से मिला, तो उसको कुछ ऐसी बातों का परिचय प्राप्त हुआ, जो उसके लिये सर्वथा नयी और आश्चर्य में डालने-वाली थीं।

शोभाराम उसके एक चाचा थे, जो कानपुर की एक मिल में मिस्त्री थे। नगर के एक भाग में उनका अब एक मकान खड़ा था, जिसका किराया डेढ़ सौ रुपये आ रहा था। जब वह इधर-उधर पता लगाकर उनके यहाँ पहुँचा था, तब शोभाराम काम से छुट्टी पाकर चारपाई पर बैठकर हुक्का पी रहा था। लज्जाराम जो उनके पास पहुँचकर झुककर पैर छूने लगा, तो शोभाराम उसकी ओर देखकर बोला—"कौन ? मैंने पहचाना नहीं।"

"मैं लज्जाराम हूँ चाचा।"

"लज्जाराम !" एक आश्चर्य और रुखाई के साथ शोभाराम ने कह दिया—"मगर यहाँ कैसे ? तुमको तो सज़ा हो गयी थी !"

"हो गयी थी। अभी चार दिन हुए छूटकर आया हूं।"

"भले ही छूट आये हो। हो सकता है कि ठीक-ही-ठीक बतला रहे हो, पर तुम्हारे जैसे चोर-बदमाश आदमी का भरोसा क्या ! कौन जाने भागकर ही आये हो ! ऐसी हालत में हमारे घर तुम घण्टे-भर भी नहीं ठहर सकते ! समझे कि नहीं ? पानी-वानी पीना

हो, पी लो। भूख लगी हो, तो खाना भी मिल जायगा। मगर ठहरने का इरादा न रखना। पहले से कह देना अच्छा होता है।"

फिर कथन के साथ उसने अन्दर के कमरे की ओर दृष्टि डालते हुए कह दिया—"अरे सुनती हो चम्पा की माँ! यह लज्जाराम सजा काटकर लौटा है और अब इसका तीर्थ-यात्रा करने का इसका इरादा है!"

लज्जाराम को ऐसा अनुभव हो रहा था, जैसे गोली चल गयी हो और एक बुलेट तो उसके कान के पास से ही निकल गयी हो!

इतने में शोभाराम ने कह दिया—"चले जाओ अन्दर! काला मुँह कराके जब हम लोगों से मिलने आ ही गये, तब लाज किस बात की! सच पूछो तो अब तुमको अपना यह नाम थोड़ा-सा बदलकर लजावनराम रखना चाहिये।"

लज्जाराम क्रोधी स्वभाव का न होता, तो उसकी यह दुर्गति ही क्यों होती! चाचा का यह अनोखा प्यार वह और सहन न कर सका। पर वह कुछ बोला नहीं। उसके मन में आया—'वह यहाँ बेकार आया। तब तक चाची बाहर निकल आयी थीं। दन्तहीन मुख पोपला हो गया था, पर शरीर थलथल था। ऊपर के होठों के ऊपर काले-काले सघन रोयें थे और टेहुनी के ऊपर का भाग मांस से लटका हुआ था। धोती धुली हुई साफ़ थी, जिसकी किनारी छै इंच चौड़ी थी। गले में सोने की हँसुली, हाथों में काँच की रेशमी चूड़ियों के साथ उन्हीं से मिलती जुलती दो-दो सोने की भी कानों में इयररिंग, हाथ की अँगुलियों में दो-दो अँगूठियाँ, पैरों में चाँदी के लच्छे और छैल-चूड़ी।

लज्जाराम उन्हें यकायक इस रूप में देखकर सन्न रह गया! कुछ बोल तो न सका, पर पैर छूने को हाथ जो उसने आगे बढ़ाया, तो चाची एक कदम पीछे हट गयीं। बोलीं—"ना, पैर मत छूना मेरे। मैं आज एकादसी के बरत में हूं। फिर ऐसे पापी-हत्यारे से कौन पैर छुआये!"

लज्जाराम ने अनुभव किया—'दूसरी गोली खाली नहीं गयी, ठीक छाती पर लगी है !'

चाची ने देखा, भतीजे ने फिर कोई उत्तर न देकर सिर नीचा कर लिया है। तब वह भीतर जाने को जो मुड़ने लगी, तो शोभाराम ने ऊपर के कमरे की ओर सिर उठाकर पुकारा—"अरे रजउवा, चल तो इधर।"

यह रजउवा शोभा का नाती था, जो एक किरायेदार के पास बैठा ताश खेल रहा था। जब वह नीचे उतर आया, तो शोभा ने जेब से दस पैसे निकालकर उसे देते हुए कह दिया—"थोड़ा कलाकन्द तो ले आ, मुरली हलवाई की दुकान से।"

रजउवा जब पैसे लेकर चलने लगा, तो लज्जाराम बोल उठा—"अब मिठाई-विठाई मँगाने की ज़रूरत नहीं है चाचा। मैं तो सिर्फ़ मिलने आया था, सो सब देख-सुन लिया। अब जाता हूँ।"

बात पूरी होते-होते लज्जाराम लौट पड़ा। इस बार उसने किसी के पैर छूने की चेष्टा न की। चुपचाप वहाँ से चल दिया।

कुछ दिनों तक लज्जाराम ने नौकरी ढूँढ़ने की चेष्टा की, पर जब उसे कहीं सफलता न मिली, तो एक दिन कहीं उसकी भेंट करीमउल्ला से हो गयी। सारा हाल जानकर उसने कहा—"मैंने सब-कुछ समझ लिया। सीधी अँगुलियों से कभी घी निकला भी है ! यहाँ खुशहाल वह है जिसके हाथों में ताकत और दिल में हिम्मत है। तुम मेरे साथ रहो। मैं तुम्हें इसी धरती पर स्वर्ग दिखला दूँगा !"

करीमुल्ला से कोई कुकर्म न बचा था। सड़क पर चलते-फिरते लोगों के बीच खड़ा होकर पचास आदमियों को इकट्ठा कर लेना और फिर दो पैसे की शीशी और दो पैसे की कोई और दवा ले-लिवाकर फिर उसी को आठ-आठ आने में बेचकर एक घण्टे में पाँच-सात रुपये बना लेने में वह बड़ा कुशल था। रमल ज्योतिष उसे आता था। पीठ से कमर के भी नीचे तक सिर के काले काले चिकने केश लटकाये, दाढ़ी

मूँछ बढ़ाये, आँखों में सुरमे की बाड़ जमाये, गले में नकली मोतियों की माला डाले, गेरुये वस्त्र पहने, हाथ में सुमिरनी लिये हुए जब वह सड़क से निकलने लगता, तो दुखी परिवारों की बहू-बेटियाँ उसे अपना हाथ दिखाकर भाग्य का खेल जानने के लिये अधीर हो उठतीं। हिन्दू समाज से बीस बिस्वा का घोर कान्य-कुब्ज और मुसलिम समाज में असली मुल्ला बन जाना उसके लिये साधारण बात थी। बम्बई में दस साल रहकर वह मराठी-गुजराती बोलना भी सीख आया था। उसके शिष्यों की संख्या अब सैकड़ों पर पहुँच गयी थी! यद्यपि उसकी आमदनी अच्छी थी, पर एक तो वह दुर्व्यसनी था, दूसरे किसी एक पेशे पर स्थिर रहने में उसकी तबियत ऊबने लगती थी। घाट-घाट का पानी पीने के बाद इन दिनों वह भिक्षुकों की ठेकेदारी का व्यवसाय कर रहा था। उसका कहना था कि भीख माँगना आसान नहीं, वह भी एक कला है और कला के बल पर बढ़िया ढंग से रोजी कमाने का का काम तो कोई विद्वान् ही कर सकता है। देश में जब बेकारी और बेरोजगारी चरम-सीमा तक बढ़ी हुई हो, तब भिक्षुकों की क्या कमी रह सकती है!

लज्जाराम जब किसी लड़के, युवक या स्त्री को संकटग्रस्त अवस्था में देखता, तो झट उसे उलटा-सीधा पाठ पढ़ाकर अपने साथ ले आता। करीमउल्ला के पास उसे दीक्षा दी जाती। उससे जो शपथ ली जाती, उसकी शब्दावली भी अपनी एक शैली रखती थी।

मैं आज भगवान् की कसम खाकर कहता हूं कि—

१. मैं ज़िन्दगी-भर भिखारी ही बना रहूँगा।

२. भिखारी कहलाने में मुझे कभी शरम न आयेगी।

३. मैं भिखारी जाति के प्रति सदा विश्वसनीय बना रहूंगा।

४. सिर्फ़ खाना-कपड़ा लेकर मैं सन्तोष करूँगा। उसके लिये उस्ताद से जो कुछ भी मिल जायगा, उसे हँसी-खुशी के साथ स्वीकार कर लूँगा।

५. इस काम में अगर कभी झूठ भी बोलना पड़ेगा, बात भी बनानी पड़ जायगी, तो मुझे कभी कोई एतराज न होगा। क्योंकि मेरा विश्वास है कि सभी भगवान् के बन्दे हैं और किसी-न-किसी भाँति पेट-भर खाने और तन ढकने को कपड़े पहनने का अधिकार सबको है।

उस्ताद से दीक्षा प्राप्त कर लेने के बाद भिक्षुक इस योग्य हो जाता था कि वह मार्ग पर चलते हुए व्यक्ति के आगे इस ढंग से हाथ पसारे, ऐसी मर्मवाणी में रिरियाकर भीख माँगे—गोद के बच्चों को आशीर्वाद दे, साथ चलते बेटे और नाती की न्योछावर माँगे, बहू-बेटी को सुहाग की चूड़ियाँ युग-युग चलें, भाल का सिन्दूर जिंदगी-भर न छूटे आदि—कि दो पैसे देनेवाला हो तो दो आने दे डाले ! वेश-भूषा में अनुकूल परिवर्तन कर-कराकर···कोढ़ी, लँगड़ा, अन्धा और लूला बन-बनाकर···भीख मँगवाने की कला में वह बड़ा निपुण हो जाता था।

अनेक वर्षों से लज्जाराम और करीमउल्ला मिलकर यह धंधा करते आ रहे थे। और अब तो उनकी आर्थिक स्थिति इतनी अच्छी हो गई थी कि उनके अपने मकान, परिवार, नौकर-चाकर और लकड़ी के टाल तथा रिक्शे का कारोबार भी चल रहा था। समाज-द्रोही न रहकर अब वे एक प्रकार के व्यवसायी बन गये थे। अब न तो आँखों पर पट्टी बाँधकर चलना उन्हें पसन्द था, न दौड़कर भागना।

लेकिन भिक्षुक-संघ के बन जाने से यह धन्धा समाप्तप्राय हो गया, तब इन दोनों की प्रतिहिंसा भड़क उठी। बिना सोचे-समझे उन्होंने ऐसे मार्ग पर पैर रख दिये, जिसके लिये अब वे बिलकुल अयोग्य बन गये थे। इसके अलावा अब युग भी इतना बदल गया था कि ऐसा निम्न कोटि का अत्याचार इन लोगों के बस के बाहर हो गया था।

दोनों बातें कर रहे थे—

"जब यह खद्दरपोश है और किसी बड़े आदमी का बेटा है, तो इसके पास कोई रक़म भी होनी चाहिये।"

ख़याल तो अपना भी ऐसा ही है।"

"अभी तो नहीं, जब रात हो जाय, तब उसकी रक़म छीनकर 'आँखों पर पट्टी बाँधकर' दूर कहीं मील-भर आगे छोड़ दिया जाय। मगर, रात के बारह बजे के बाद। पहले नहीं। क्यों ?"

लज्जाराम बोला—"कहते तो ठीक हो उस्ताद। मगर मान लो, उसके पास दो ही एक रुपये निकले, तो ? क्योंकि अन्त में मिलेगा तो वही, जो तक़दीर में लिखा होगा।"

"हाँ, यह भी हो सकता है।"

"तब क्या किया जाय ? अच्छा, अगर इसको पहले पीटा जाय। फिर एक आदमी इसकी छाती पर बैठ जाय और दूसरा एक कागज़ लेकर उसके सामने करदे और दावात में कलम डुबोकर उसको उसके हाथ में दे दे और कहे—"लिख दो। अपने निजी काम के लिये पाँच हजार रुपये पाये। और उसी कागज़ में उसका पूरा पता-ठिकाना भी उसी से लिखवा लिया जाय। साथ-ही-साथ यह भी लिखवा लिया जाय कि यह धन मैंने इकन्नी रुपये के ब्याज पर लिया है। अगर तीन महीने के अन्दर न दे सकूँ, तो रक़म देनेवाले सेठ लल्लाराम करीम भाई को पूरा अधिकार होगा कि वह मेरी चल और अचल सम्पत्ति से बजरिए अदालत वसूल कर ले। क्यों ? कैसी रही ! मारो हाथ !" प्रस्ताव के साथ दोनों हाथ-में-हाथ मिलाकर अट्टाहास कर उठे।

दिनकर ने भृकुटियाँ तरेरकर आश्चर्य और क्षोभ के साथ कह दिया—"क्या कहा ? भाई साहब को उन बदमाशों ने कोठरी में बन्द कर रखा है ! थाने में चलो अभी हमारे साथ। जो बातें तुमने मुझे यहाँ

अभी बतलायी है, वे सब वहाँ भी इसी भाँति बतानी होंगी। इसके लिये मैं तुमको इनाम भी दिलवाऊँगा। ना ना, इसमें तुम्हारे बप्पा को कुछ नहीं होगा। समझे ? तो चल अभी।"

जिस समय कालकोठरी के अन्दर बन्द राकेश सोच रहा था—प्रभू, यह तुम्हारी कैसी लीला है ? ठीक उसी क्षण दिवाकर उस भिक्षुक बालक के पास खड़ा हुआ पुलिस-इंस्पेक्टर के समक्ष, दीवान वंशलाल द्वारा उसके बयान लिखवा रहा था। फलत: अभी डेढ़ घण्टा ही बीत पाया था कि राकेश, कालकोठरी से छूटकर विज्ञान के साथ थाने में जा पहुँचा। दोनों कुर्सी पर अलग-अलग चुपचाप बैठे हुए थे। उस गलमुच्छवाले बदमाश करीमउल्ला पर जब सड़ासड़ बेत पड़ने लगे, तो राकेश तिलमला उठा। बोला—"इंस्पेक्टर साहब, बस ! सज़ा बहुत काफ़ी हो गयी !"

विज्ञान से न रहा गया। उसने आवेश के साथ कह दिया—देखिये, इंस्पेक्टर साहब ! आप इनकी बातों पर बिलकुल ध्यान न दीजिये। जो मैं कहता हूँ उसे सुन लीजिये कृपा करके, मानवता के नाम पर। इन कायर और डरपोक, नपुंसक और भीरु लोगों ने ही हमारे देश का सत्यानाश किया है। चाहे वे जन-सेवक हों चाहे जन-नायक; किसी भी दल या वर्ग के क्यों न हों ! स्पष्ट है कि जो अपराधी हैं, हिंसक हैं हत्यारे और बदमाश हैं, उनको तो प्रत्येक दशा में कठिन-से-कठिन दण्ड मिलना ही चाहिये। वास्तव में मुझे बड़ा खेद हो रहा है राकेश कि तुम ऐसे व्यक्ति के साथ भी शील-सौजन्य का व्यवहार करना चाहते हो, जिसने अभी तुम्हारे प्राण संकट मे डाल दिये थे ! मुझको तुम्हारी यह भावुकता बड़ी सस्ती और हलकी जान पड़ी। मैं तुमसे कभी इसकी आशा नहीं करता था !

उत्तर में बिलकुल शान्त रहकर राकेश ने किंचित् मुस्कराते हुए शांत मन से कह दिया—पहले आप यह केनिंग बन्द करा दीजिये। उसके बाद मैं इस बात का जवाब दूँगा।—"हिंसा के बदले

में प्रतिहिंसा हमारे राष्ट्रपिता बापू की नीति कभी नहीं रही। उन्होंने उसके साथ भी दया, प्रेम, स्नेह और ममता का ही व्यवहार किया, जिसने उनकी हत्या का विचार स्थिर करके आगे क़दम रखा था! उनका कहना था कि हिंसा से हम हिंसा को कभी नहीं जीत सकते। हम एकमात्र अहिंसा से ही हिंसा को जीत सकते हैं। आप इस अपराधी पर अभियोग चलाइये और उसे जैसा चाहे, वैसा दण्ड दिलवाइये, लेकिन यह मारना-पीटना तो है पशुता ही। इसके द्वारा हृदय-परिवर्तन हम कभी नहीं कर सकते। क्या विचार है आपका ?"

अपनी गुम्फलदार मूँछ को एक बार तर्जनी के स्पर्श का ताव देते हुए इन्स्पेक्टर सुजानसिंह एकाएक हँस पड़े। बोले—"हम तो आप लोगों के बन्दे हैं। भाई साहब, पहले आप लोग आपस में सलाह करके तय कर लीजिये। उसके बाद मुझ से जैसा कहिये, वैसा मैं करूँ। जो हो, थोड़ी-बहुत मरम्मत तो होनी ही चाहिये ; मेरा मतलब है उस दण्ड से, जो दिया तो खूब कसकर जाता है मगर पुलिस के काग़जों पर लिखा नहीं जाता।

इन्स्पेक्टर सुजानसिंह का उत्तर सुनकर विज्ञान हँस पड़ा। बोला— "वाह इन्स्पेक्टर साहब, तबियत खुश कर दी आपने !"

अब तक दोनों अपराधियों को बीस-बीस बेत लग चुके थे और करीम-उल्ला तथा लज्जाराम हवालात में बन्द थे। दीवान साहब आफ़िस में आ गये और उन्होंने अपने काग़जात की खाना-पूरी कर ली।

इन्स्पेक्टर साहब बोले—"अब आप लोग जाइये। ज़रूरत समझूँगा, तो आपको फ़ोन करके बुला लूँगा। भगवान् को बहुत-बहुत धन्यवाद है कि राकेश बाबू को इतनी जल्दी उस कालकोठरी से छुटकारा मिल गया और पुलिस को भी ऐसे दो बदमाशों को पकड़कर बन्द करने का मौक़ा मिला जो आपके इस भिक्षुक-संघ के जानी-दुश्मन थे। ऐसे लोग तो बीन-बीनकर ख़त्म कर देने चाहिये।"

राकेश स्तब्ध मौन होकर खड़ा हो गया। आगे-आगे विज्ञान चलने लगा और पीछे-पीछे राकेश। इन्स्पेक्टर साहब ने खड़े होकर हाथ जोड़कर नमस्ते किया, तब यकायक राकेश के भी हाथ उठ गये और उसने कह दिया—"नमस्कार और धन्यवाद।" विज्ञान के साथ चलता हुआ कुछ क्षण बाद वह कह उठा—"अपना-अपना विचार है···।"

···आज तो नहीं, पर सजा हो जाने पर मैं इन दोनों से जेल में अवश्य मिलूंगा। जो लोग पथ-भ्रष्ट होकर आज देश और समाज के विकास में एक अवरोध बने हुए हैं, वे भी अन्त में हैं तो हमारे ही अंग। हिंसा से तो हम उन्हें जीत नहीं सकते। एक प्रेम ही तो है जो पशु-पक्षी को भी अपना पारिवारिक सदस्य बना लेता है। ये लोग तो फिर भी मनुष्य हैं!"

सड़क पर गाड़ी खड़ी थी और राकेश के बाद विज्ञान उसमें बैठ गया। राकेश की भंगिमा में वह एक ऐसी दीप्ति का अनुभव कर रहा था, जो उसके लिये नयी और प्रेरणात्मक थी।



: २४ :

तीन दिन बाद की बात है। रात के दस बजे होंगे। यकायक एक ताँगा राकेश के घर के सामने आकर रुक गया। राकेश की गाड़ी गिरीशचन्द्र के यहाँ व्यवहार में मँगनी पर गयी थी। एकादशी ताँगे से उतरकर द्वार के बरामदे में आगयी और फिर जीने से ऊपर चढ़ने लगी। राकेश ने ताँगेवाले को दो रुपये का नोट देते हुए कहा—"बाक़ी पैसे दो। जल्दी !"

उत्तर में—"यह लीजिये बाबूजी" कहकर ताँगेवाले ने एक हाथ अपनी कमीज़ के जेब में डाला, दूसरे हाथ से जेब को ऊपर से थामकर, रेजगारी निकालते हुए कह दिया—"ये दस आने और ये छः आने। हो गया एक रुपया ?"

"हाँ ठीक है, जल्दी करो।" राकेश उसके व्यवहार से कुछ खीझ-सा रहा था।

उधर वसंत के साथी राकेश को अकेला देखकर मन-ही-मन प्रसन्न हो रहे थे। सबने अपने-अपने हथियार सँभाल लिये थे। अब राकेश के सामने आने-भर की देर थी। तभी न जाने क्या-क्या सोचता हुआ, वसन्त बैठे-ही-बैठे हाथ जोड़कर अपने साथियों से कहने लगा—"चलो, लौट चलो। काम न होने पर भी पूरी रक़म मैं दूँगा। यह सब अब कुछ न होगा।" कथन के बाद वह मन-ही-मन कह रहा था—'इसी दिन के लिए मैं इसको इतने दिन पालता-पोषता रहा !···और कला क्या मेरे हाथों से विधवा होगी ! नहीं।' और भावुकता में हाथ जोड़कर वसन्त ने कह दिया—'आप लोग मुझे क्षमा कर दें !···मैं···।"

"मैं इसीलिए इन झंझटों में नहीं पड़ता। कभी 'हाँ' कभी 'ना'। चलो जी चलें!', वसन्त की बात काटते हुए उसके एक साथी ने कहा।

राकेश ने स्पष्ट तो कुछ नहीं सुना, किन्तु कुछ फुसफुसाहट-सी उसके कानों तक अवश्य पहुँच रही थी। उसने मुड़कर देखा; पर किसी को भी न देखकर सोच लिया—'कोई होगा।'

ताँगेवाला अब थैली से हाथ निकालकर बत्ती के निकट पैसे गिनते हुए कह रहा था—"एक, दो-दो, तीन-तीन, चार और चार। ये आठ आने लीजिये बाबूजी। आदाब अर्ज़।" कहते-कहते उसने बाग हिलाई और टप-टप के स्वरों के साथ घोड़ा चारबाग की ओर चल पड़ा।

अब तीनों व्यक्ति सड़क पर आ गये थे।

राकेश ने अपने स्वाभाविक ढंग से बरामदे पर मुड़कर देखा—सामने दो क़दम पर ही तीन हथियारबन्द आदमी। तीनों के मुँह पर नक़ाब!

"ऐं...! ऐं..." के क्षीण भय। कातर स्वर के साथ राकेश लड़खड़ाने लगा।

वसन्त जब तक नक़ाब उतारकर दौड़कर उसे सँभाले, थामे, तब तक राकेश वहीं अचेत हो गया। उसकी आँखें मुँद गयीं। दाँत बन्द हो गये!

"कमीज़ या धोती के छोर से इस पर हवा तो करो।" कथन के साथ वसन्त बाहर सड़कवाले पाइप पर चला गया।

सड़क का हलवाई दूक़ान बढ़ा रहा था। उसी से एक हुण्डा माँग कर उसमें पानी लेकर झटपट वह राकेश के पास आ पहुँचा। थोड़ा-सा पानी उसने राकेश के मुँह पर छिड़क दिया। अब वह रूमाल लेकर अपने हाथ से उस पर हवा कर रहा था!

दोनों साथी चुपचाप खिसकने लगे। लौटते हुए रह-रहकर वे वसन्त को रोकने के डर से उसकी ओर देख लेते थे। किसी प्रकार बड़ी सड़क तक आकर वे तेज़ी से स्टेशन की ओर चल पड़े। वसत को ज्ञात

भी न हो सका कि वे लोग कब चले गये। हवा करते-करते जब वह एकटक राकेश का मुंह देख रहा था, तब भी वह अपनी करतूत पर सोच रहा था। थोड़ी ही देर में वह कुछ बुदबुदाने लगा। कभी सिर झुका कर कुछ देखता, कभी उठा लेता। कभी राकेश की नाड़ी पर हाथ रखता और फिर तेजी से हवा करने लगता।

"भैया नहीं आया।" एकादशी ने ऊपर अपने घर के कमरे में पहुँचते ही कपड़े बदलकर बहू से जिज्ञासा प्रकट की।

कला ने साड़ी की तह करते हुए उत्तर दिया—"हाँ अम्मा, देर तो काफ़ी हो गयी है। लैट्रिन हो आयी, कपड़े भी बदल चुकी।"

तभी एकादशी ने चिन्ता, विस्मय और घबराहट के साथ धीरे से कह दिया—"दुलहिन यह नीचे से आवाज़ कैसी आ रही है!" और कथन के साथ झट से वह जीने की ओर बढ़ गयी।

कला भी पीछे-पीछे चल दी।

कुछ सीढ़ियाँ उतरते ही एकादशी ने वसन्त का स्वर पहचानते हुए ठिठककर कह दिया—"अरे दुलहिन, यह तो वसन्त है!"

"हाँ, आवाज तो उन्हीं की-सी है अम्मा।" कहकर कला एकादशी का घबराया हुआ मुंह देखकर चिन्ता में पड़ गयी।

एकादशी एक पल में ही कुछ सोचकर शीघ्रता से नीचे उतर आयी। बरामदे में पड़े राकेश के पास वसन्त को बड़बड़ाता हुआ देखकर पहले तो स्तब्ध अवाक् रह गयी। फिर क्षण-भर में ही उसकी भृकुटियाँ तन गयीं और उसने आगे बढ़कर वसंत को बलपूर्वक झकझोर दिया।

पंजों के बल बैठा हुआ वसन्त उलटकर चित्त हो गया। जब तक कुछ बोले बतलाये, एकादशी ने कह दिया—"निर्लज्ज कहीं का! जान लेकर अब आँसू बहाता है! ले अब मुझे भी मार डाल!"

"इतना कहते-कहते अन्त में वह भी लड़खड़ाकर वसन्त के ऊपर गिर

पड़ी। उसके नासिका-रन्ध्र फड़क रहे थे। ओंठ चबा-चबाकर वह कह रही थी—"हत्यारे, निर्लज्ज ! अब उठता क्यों नहीं ? कर दे अब मेरी भी हत्या। और दुलहिन को भी मार डाल !"

वसन्त से कोई अब उत्तर बन नहीं रहा था। वह किंकर्तव्य-विमूढ़ अधलेटा दीवार से भिड़ा हुआ विस्फारित नेत्रों से कभी एक बार भाई और कभी एक बार माँ को देखकर आँखें बन्द कर लेता ! तभी कला राकेश के पास आती-आती अपना सिर पकड़ती हुई भर-भराकर एकदम से वहीं गिर पड़ी ! उसके मुँह से केवल इतना निकल सका—"हाय, तुमने यह क्या कर डाला दद्दा !"

गिरते-गिरते उसका सिर राकेश के वक्षस्थल पर आ गया था।

तभी उसे लगा, जैसे स्वामी का हृदय धड़क रहा हो ! उसने सिर उठा लिया और एक-दो-तीन विभिन्न अंगों की अच्छी तरह परीक्षा करने के बाद उसने स्थिर सचेत होकर कह दिया—"अम्मा, घबराओ नहीं। ऐसी कोई प्राण-घातक चोट नहीं मालूम होती।" कथन के साथ वह कुछ सोचकर तेजी से ऊपर चली गयी।

•

एकादशी झट से उठ बैठी और पास आकर नाड़ी पर हाथ रखते हुए बहू को पुकारनेवाली ही थी कि कला एक लोटे में जल और एक हाथ में पंखा लेकर आ पहुँची। वसन्त भी अब उठ खड़ा हुआ। एक बार राकेश पर स्थिर दृष्टि डालकर वह धीरे-धीरे वहाँ से चल दिया।

शंकाएँ और भ्रम जब अपने मन के भीतर नीड़ बना लेते हैं, तब बहुतेरी कल्पनाएँ भी सहज सम्भावनाओं का रूप धारण कर लेती हैं। मनुष्य पाप नहीं करता, फिर भी घटनाओं के अनुरूप भंगिमाएं कुछ-का-कुछ सिद्ध कर देती हैं। अपने मन की नन्हीं-से-नन्हीं शंका ही विरोधी व्यक्ति का कलुष बन जाती है।

अब सरिता का जल-प्लावन अपने साधारण स्तर पर आ गया था। वसन्त को अपने घर पहुँचने की कोई अधीरता न थी। हास्पिटल से बाहर आकर सड़क से आगे बढ़ते हुए उसे एक रिक्शा मिल गया। उसी पर बैठकर वह चुपचाप घर चला आया। जैसे तिनके हवा में उड़ते है, वैसे ही धारणाएँ और विश्वास, योजनाएँ, संकल्प, प्रवञ्चनाएँ निराधार और सहज-सम्भव हार्दिकता और आत्मीयता के अतीत, निबिड़ संदर्भ सबसे मिल-जुलकर अब उसके लिए ऐसा विभ्राट बन गया था कि प्रत्येक परिस्थिति के लिए उसके पास कोई स्पष्ट उत्तर न था। एक ही बात वह अपने सम्बन्ध में बारम्बार सोच रहा था। कभी शान्त मन से और कभी भोले, सरल, शिशु की मुस्कान के समान निर्विकार किंचित् विस्मय किंचित उल्लास-संयुक्त।—'मैं दूसरों को दोष देता हूँ; जब कि मैं स्वयं अपने-आपमें स्थिर-संकल्प नहीं हूँ। हँ-हँ, अरे मैं अपने-आप को भी नहीं समझ सका! और सबसे बड़ी बात यह हुई जिस भगवान् के प्रति मैं सारी आस्था खो बैठा था उसी ने अन्त में मेरी रक्षा की। राकेश कुछ जान ही न सका!'

मौलश्री बोली—"सोते हुए देर हुई। अनन्त ने मुत्ती कर दी थी, इसलिए अभी जब तुम आये, तो मैं गद्दी तथा उसका कपड़ा बदल रही थी।"

वसन्त ने जब अनन्त गुलाबी रंग के गोल-मटोल मुँह को देखा तो उसे कुछ ऐसा जान पड़ा, मानो क्षण-भर के लिए वह राकेश के मुख के रूप में बदल गया हो! और तब उसको उस संभावना का ध्यान हो आया, जिसकी पूरी तैयारी करके वह राकेश के घर गया हुआ था! उसकी आँखों में कोई आँसू तो नहीं छलका, पर वह सोचने लगा कि कहीं छलक न जाय!

एक बार तो यह भी उसने सोच डाला कि यह संयोग तो ऐसे उच्च स्तर का है कि मुझे मर जाना चाहिये!

वसन्त सीढ़ियाँ चढ़ते जब द्वार पर आया, तो उसे न पुकारने की

आवश्यकता पड़ी, न कुंडी खड़खड़ाने की। ऐसी स्थिति में मौलश्री ने द्वार खोल दिया। पहले जब कभी वह आता तो, कुछ बोलता न था। आज द्वार में प्रवेश करते ही उसने कह दिया—"बड़ी देर हो गयी।"

मौलश्री को स्वामी की इस बात पर थोड़ा आश्चर्य हुआ।—'चलो इन्होंने अनुभव तो किया!' तब तक वसन्त ने पूछ दिया—"अनन्त सो गया?"

झट अनन्त के पास से हटकर उसने कहा—"खाना अगर तुमने अब तक न खाया हो, तो खा लो।"

मौलश्री बोली—"और तुम?"

वसन्त कुछ हँसते-हँसते बोला—"मैंने तो आज बहुत खाना खाया है: मिठाई, नमकीन, दूध और फल।"

मौलश्री ने आश्चर्य के साथ कह दिया—"अच्छा!"

वसन्त ने भी साथ में हँसने की चेष्टा की, पर वह पूर्ण रूप से हँस नहीं सका। बल्कि मुँह बिचकाकर उसने कह दिया—"मुक़दमे में हार गया न इसलिये।"

मौलश्री आज स्वामी की एक भी बात समझ नहीं पा रही थी।

उनको वहीं छोड़कर वह थाली में खाना ले आयी। वसन्त ने थाली की सामग्री देखकर कहा—"अच्छा! आज कई चीजें बनायी थीं!"

चटाई बिछी हुई थी। वसन्त वहीं बैठ गया। बोला—"जरा देखूँ, कैसा बनाया है तुमने?" फिर मन में कहने लगा—'बात बनाने में रस तो मिलता है, मगर कभी-कभी आगे का पथ बन्द मिलता है तो ऐसी कुछ गड़बड़ी भी हो जाती है। स्पष्ट कह देना पड़ता है कि मैंने तो यों ही कह दिया था।'

मौलश्री को यह देखकर भी बड़ा आश्चर्य हुआ कि आज एक ही थाली में इन्होंने मेरे साथ खाना कैसे प्रारम्भ कर दिया!

उधर उसी समय वसन्त ने मौलश्री के मुख को कुछ इस दृष्टि से देखा कि वह बड़ा सुन्दर प्रतीत हुआ। उसी समय वह मुस्कराती

हुई बोली—"मैं अपने लिये अलग परोसे लेती हूं।" कथन के साथ वह उठने लगी।

वसन्त बोला—"बैठो बैठो! आडम्बर वैसे बुरी चीज़ नहीं। आज के मनुष्य को उसकी आवश्यकता पड़ती है। लेकिन मैं उसे रूढ़ि बनाना पसन्द नहीं करता।"

मौनश्री अभी खड़ी ही थी कि वसन्त ने पुनः कह दिया—"बैठो न!"

मौनश्री बोली—"पहले तुम खा लो, फिर मैं खा लूँगी।"

वसन्त उसकी भंगिमा देखकर सोचने लगा—विचित्र बात है कि संकोच के क्षण इसकी सुन्दरता बढ़ जाती है। फिर उसने देखा—'इस इस तरह तो वह भूखी रह जायगी।' तब उसने कह दिया—"अच्छा, तो फिर दो-एक प्लेट ले आओ।"

मौनश्री दो प्लेट उठा ले आयी। फिर स्टोव जलाकर ठंडे हो चुके खाने को गर्म भी कर दिया।

अब प्रत्येक कौर के साथ वसन्त सोचने लगता—'अब अम्मा और कला ने भी भोजन कर लिया होगा। हास्पिटल में इंजेक्शन देते ही—थोड़ी देर में—राकेश की चेतना लौट आयी थी। आँखें खोलते ही मुझे और साथ-ही-साथ कला और अम्मा को पास बैठा देख उसके मुंह से निकल गया था—'अच्छा, तो मैं हास्पिटल में हूँ! और दद्दा तुमको कैसे पता चला कि एक भयानक स्वप्न के कारण मैं द्वार पर ही अचानक अचेत हो गया था?"

उसकी इस बात पर कला और एकादशी ने एक-दूसरे की ओर कुछ सम्भ्रम के साथ देखा था।

वसन्त को क्या पता कि उस समय एकादशी के मन में आया था—मैंने बेकार ही वसन्त पर राकेश को मार डालने का लांछन लगाया था!

फिर उसने सोचा—'कला बिना बोले न रह सकी थी। झीनी साड़ी के सम्यक पारदर्शी अवगुंठन में नमित पलकों से उसने कह दिया था—

"दद्दा मुझसे बड़ी भूल हो गयी। वह परिस्थिति ही कुछ ऐसी विचित्र थी। आशा है, आप उस पर ध्यान नहीं देंगे।"

वसन्त की भावना को जैसे एक आघात-सा लगा। उसके मन में आया—'मैंने सदा यही सोचा है कि उसके संस्कार बड़े ही उच्च-स्तर के है।'

'तब एकादशी भी बोल उठी थी—"मैंने भी तुझे कुछ गाली-वाली दे डाली थी रे वसन्त।"

अब सरिता की तरंगें तट को स्पर्श करके लौट रही थीं। वसन्त सोचने लगा—'मैंने तुम्हारे इस रचना-वैचित्र्य पर कभी विश्वास नहीं किया। पर आज उसी षड्यंत्र के भयानक-से-भयानक दृश्य की भूमिका को यह अकल्पित रूप देकर तुम मेरी रक्षा कर रहे हो।... तभी उस समय मैं अपने आँसुओं को रोक नहीं सका था।'

मौलश्री ने मुस्कुराते हुए कह दिया—"तुम तो कह रहे थे कि बहुत खाना खाया है, बिलकुल भूख नहीं है।"

उत्तर में वसन्त ने मुस्कुराते हुए कहा—"खाया तो जरूर था, लेकिन अच्छी तरह खा नहीं पाया था।"

उसके मन में आया कि जिस हत्या के रक्त में वह अपने हाथ रँगने जा रहा था, उसका सम्पूर्ण विवरण वह मौलश्री से कह दे; किन्तु तत्काल वह सोचने लगा कि जब भगवान् ही मेरी रक्षा करने को तत्पर है, तो मैं ही उसके रहस्य का उद्घाटन क्यों करूँ! तब उसने कह दिया—"अभी राकेश हास्पिटल में था। अचानक अम्मा और दुलहिन के साथ कहीं से लौटते हुए दरवाज़े के बरामदे में राकेश एक स्वप्न देखकर इतना डर गया कि चेतना ही खो बैठा। संयोग से मैं वहाँ जा पहुँचा। तब हम उसको हास्पिटल ले गये। दुलहिन और अम्मा भी साथ थीं। थोड़े ही उपचार से उसकी चेतता लौट आयी। अभी सबको घर भेज-कर वहीं से लौट रहा हूँ। अम्मा ने कहा भी कि खाना तो खाता जा रे वसन्त, लेकिन मन नहीं माना। ध्यान तुम्हारी ओर लगा था कि प्रतीक्षा

में बैठी-बैठी ऊब रही होगी। कुछ ऐसा भी मन में आया कि कहीं घबरा न गयी हो !"

अकस्मात् मौलश्री का कौर हाथ से गिर पड़ा। बोली—"इतना बड़ा काण्ड हो गया और तुमने मुझको इसकी सूचना भी न दी !"

बसन्त गम्भीर हो उठा। बोला—"काण्ड हो जाता, लेकिन भगवान् ने बड़ी रक्षा की !"

उस समय भी बसन्त के मन में आया—'क्यों न वह अब मौलश्री को स्वरचित षड्यन्त्र की पूरी योजना विस्तार-पूर्वक बतला दे किन्तु फिर यही सोचकर वह चुप रह गया कि भगवान् की रचना में हस्तक्षेप न करना ही मेरे लिये श्रेयस्कर है।'

मौलश्री बोली—"रात तो बहुत हो गयी, लेकिन तुम अगर मेरे साथ चलो तो मैं लला को देख आऊँ। यों भी वह जब से गया है—न अपने मन से आया—न तुम्हीं ने उसे बुलाया ! सबको देखने को कितना छटपटाती रहती हूं, काश, तुम जान सकते !'

बसन्त ने उत्तर दिया—"कहती तो तुम ठीक हो। लेकिन अनन्त को ऐसे समय घर से बाहर ले चलना ठीक न होगा।"

मौलश्री बोली—"हम सभी भगवान् के वरद हाथों की छाया में रहते हैं। इतना बड़ी घटना हो जाय और मैं लला को देखने भी न जाऊँ ! तुम्हीं सोचो, क्या यह उचित होगा !"

"और अनन्त के जन्म लेने पर अम्मा जो मेरे यहाँ नहीं आयीं, यह उनके लिए उचित था ? आज उनके यहाँ जाओगी, तो यही न कहेंगी कि मुकदमा हार जाने पर अब सन्धि का प्रस्ताव लेकर आ पहुँची हो !"

"तुम उनको बुलाने ही कब गये थे ? मैंने इसके लिए तुमसे कितना अनुरोध किया था ! रह गयी लड़ाई-झगड़े की बात, सो तुम जानो। मैं उसमें नहीं पड़ती।"

"हूं, तो तुम मुझको यह पढ़ाना चाहती हो कि हरएक कर्तव्य अपने साथ और अपने-आपमें व्यतीत की एक शृंखला है ?"

इतने में कमरे की घड़ी ने कह दिया—"एक !"

वसन्त बोला—"मैं अगर कोई भूल कर दूँ, तो तुमको भी कोई भूल तुरन्त करनी ही चाहिये ! क्यों ? तुम यही न कहना चाहती हो ? अम्मा जानती न थीं कि तुम ऐसी अवस्था में हो। और फिर भी वे राकेश के साथ घर बदलने को तैयार हो गयीं !"

"जाओ, मैं कुछ नहीं कहूंगी।" मौलश्री बोली—"माँ-बेटे के विवाद में मैं क्यों पड़ूँ ? फिर अब इन बातों में रखा ही क्या है ! जो कुछ होना था, सो तो हो ही चुका है।"

वसन्त बिना कुछ कहे, चुपचाप, चारपाई पर लेट गया।""लेट तो गया, लेकिन कई घंटे तक उसे नींद नहीं आयी। सारे संकल्प और नियोजन अब उसके लिये विकल्प और विनियोग बन गये थे। करवट बदलते हुए वह बार-बार सोचने लगता था—'उसने जो कुछ किया है वह सोच-समझकर नहीं किया। एक ऐसी भावना के साथ किया जिसमें विवेक नहीं था। एक सनक थी—उस बड़प्पन की, जो मिथ्या था। शृगाल ने व्याघ्र-चर्म पहन लिया था। 'न खुदा ही मिला न विसाले सनम, न इधर के हुए न उधर के हुए।' लेकिन वाह रे काल के चरण ! तुमने अपना कौतुक दिखलाया खूब ! जो कभी संभव नहीं था, जिसकी मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था, वही सब ऐसे क्रम से होता चला गया, जैसे कठपुतली का कोई स्वाँग हो रहा हो ! मैंने भी कुछ कसर नहीं रखी। प्लाट की किश्त पूरी करने के लिये और कुछ नहीं सूझा तो सोफ़ा-सेट और सीलिंग-फ़ैन ही चलते ट्रक को बीच से रुकवाकर पाँच मिनट में बेच डाला ! अम्मा को भी क्या दोष दूँ ! और राकेश को ही क्या क्या कहूँ ! जो रुपये हिसाब करने पर बचे थे, वे अगर अम्मा को न लौटाता, तो भी वही बात होती। लांछन तो मुझ पर लगना ही था। और तमाशा यह है कि यह कोई नहीं जानता—मेरे मन में क्या है, क्या नहीं ! मेरे स्वभाव की यह एक दुर्बलता भी है कि कर उठाने से पहले नियोजन के मर्म को मैं किसी से प्रकट नहीं करता। बस, यही मेरा

अपराध है। जो कुछ करता हूँ, करता जाता हूँ। पहले से उसका प्रचार नहीं करता, उसका भेद नहीं खोलता। उसकी सफ़ाई भी नहीं देता। ध्यान से देखा जाय, तो यह मेरी स्वच्छन्द प्रकृति का एक लक्षण मात्र है। लेकिन बावरी दुनिया, तू इसको भी अपराध समझती है!'

झंझावात का उपद्रव किसी प्रकार शान्त ही नहीं हो रहा था। फागुन का महीना चल रहा था। सर्दी अपने पूरे-पूरे यौवन पर थीं। कक्ष में हरी बत्ती टिमटिमा रही थी। मौलश्री सो रही थी, लेकिन उसका मुँह खुला हुआ था। अनन्त भी सो रहा था, लेकिन उसका मुँह लिहाफ़ से ढका हुआ था।

एक बार वसन्त के मन में आया—'ऐसे समय यदि वह चुपचाप गृह त्याग दे, तो?'

उसे अपने ऊपर हँसी आ गयी; क्योंकि तत्काल भगवान् तथागत का उसे स्मरण हो आया।

अब उसका सिर भयानक रूप से दर्द करने लगा था। फिर चुपचाप लेटे-लेटे उसने सोचा—'राकेश को 'डिक्री' के रुपये तत्काल कैसे दिये जायेंगे! साढ़े तीन हज़ार रुपये और उनका खर्च! सब मिलाकर चार हज़ार से कुछ ऊपर हुए। तभी यकायक उसके बदन में बिजली दौड़ गयी। प्लाट की सारी किश्तें दी जा चुकी हैं। वह चुपचाप उठा। उसने बिजली की बत्ती का 'स्विच' दबाया, अलमारी खोली। प्लाट-सम्बन्धी कागजात की फ़ाइल निकालकर देखी और कुछ सोचकर तकिये के नीचे रख ली। इतनी प्रसन्नता उसे कभी नहीं हुई थी। बिजली के बटन को ऊँचा उठाकर हरे मंद प्रकाशवाली बत्ती को टिमटिमाता छोड़ वह अपने पलँग पर जा पहुँचा। अब मौलश्री सो गयी थी।

दूसरे दिन वसन्त नित्यक्रिया से निवृत्त होकर गोमती नहाने चल दिया। बड़ी देर तक तैरते हुए वह ऐसा कुछ सोचने लगा कि यकायक उसकी आँखें मुद गयीं! तब उसे कुछ ऐसा प्रतीत हुआ कि वह एक

महासमुद्र के अतल-तलातल में जा पहुँचा है। पैर कहीं टिक नहीं रहे। छूने या पकड़ने की कहीं कोई वस्तु नहीं मिल रही। वह डूब रहा है और बहा चला जा रहा है। चेतना अभी शून्य न हो पायी थी। ब्रह्माण्ड में प्राण अभी निश्शेष नहीं हुए थे। तभी उसने एक बार मूक वाणी, रुद्ध कण्ठ और बन्द पलकों से मन-ही-मन कह दिया—'देवाधिदेव, एक मैं ही नहीं, किसी भी पापी को तुम कभी क्षमा न करना!'

प्रातःकाल के आठ भी न बज पाये होंगे कि गोमती में डूब जाने के बाद जब वसन्त का शव मल्लाहों ने निकाला, तब उसके निधन हो जाने के समाचार से टोले-मुहल्ले के इष्ट-मित्रों, परिचितों अपरिचितों और कुटम्बी-जनों से गोमती का तट भर गया।

अब घाट पर मौलश्री मूर्छित पड़ी थी। अनन्त कला की गोद में था और कला के आँसू नहीं रुकते थे। एक कोने में एकादशी सीढ़ियों से लगी औंधे मुँह कराह रही थी। अन्त में कैलाश बाबू भी आगये। विज्ञान ने निकट जाकर कहा—"बाबूजी दाह-संस्कार मौलश्री स्वयं करना चाहती है।"

कैलाश बाबू ने आश्चर्य के साथ कह दिया—"कर तो सकती है। पर उसे अनन्त को भी तो देखना है। मरण का धर्म जैसे अपने स्थान पर अडिग है, वैसे ही सृष्टि का धर्म भी अपरिवर्तनीय।

अगाध दुःख और नाना विचार-कथन-मनो-मंथन के बीच राकेश ने जब वसन्त का शान्ति-संस्कार करके गृह-भार सँभाला, तब उसे मकान के प्लाट की फ़ाइल देखने का भी अवसर मिला। पन्ने उलटने-उलटते प्लाट के स्वामित्व का प्रमाणपत्र भी मिला, जिसके विषयों में उसने सोचा था—'स्वामी के स्थान पर वसन्त ने अपना ही नाम दिया है। अब तक सर्वत्र यही बात प्रसिद्ध भी थी। यहाँ तक कि न्यायालय में भी इसकी बात उठी थी। पर यह देखकर वह एक दम से स्तब्ध-प्रतिहत हो उठा कि उसमें स्वामित्व के स्थान पर उसी का का नाम है। वसन्त का कहीं नाम ही नहीं है!

जो कुछ प्रकट और स्पष्ट है, राकेश आज तक उसी पर विचार करता आया था ; पर आज वह सोचने लगा—"नहीं, प्रत्यक्ष से परे मनुष्य का एक ऐसा भी लोक है, जहाँ पाप का मुख पुण्य के कानों से लगा रहता है। उस समय पुण्य की भंगिमा पर पाप के प्रति न तो कोई वितृष्णा का भाव रहता है—न उपालम्भ का। चित्र एक ही रहता है, पार्श्व दो। भला-से-भला व्यक्ति भी कहीं-न-कहीं से क्षुद्र और हीन होता है—जैसे मैं। और ऊपर से हीन और पतित दिखाई देने-वाला व्यक्ति भी कहीं-न-कहीं से महान् और वन्दनीय—जैसे भैया!

तब अत्यन्त रुद्र-गम्भीर वह लौहपुरुष राकेश भी अन्त में रो पड़ा!

---